# साहित्य-सिद्धान्त

डॉ० रामअवध द्विवेदी

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

भाषतोष अवस्थी
अध्यक्ष
श्री [illegible] वेद वेदाङ्ग समिति (उ.प्र.)

# साहित्य-सिद्धान्त

डॉ० रामअवध द्विवेदी

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना-८००००४

© बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

द्वितीयावृत्ति
विक्रमाब्द २०४०; शकाब्द १९०५; खृष्टाब्द १९८३
सजिल्द मूल्य : २५·०० रुपये

मुद्रक
हिन्दुस्तानी प्रेस
पटना

# वक्तव्य

इस **'साहित्य-सिद्धान्त'** नामक ग्रन्थ के प्रणेता स्व० डॉ० रामअवध द्विवेदी साहित्यशास्त्र के गम्भीर विद्वान् के रूप में सुख्यात थे। वस्तुतः उनके वैदुष्य ने उनकी ख्याति की सीमाओं का अतिक्रमण किया था। वे प्राच्य एवं पाश्चात्त्य तथा प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्यशास्त्र के तत्त्वज्ञ थे और थे सूक्ष्म समीक्षक तथा विशद विवक्ता भी। उनकी लेखन-शैली भी विशिष्ट एवं प्रकृष्ट थी। यही कारण है कि उनके इस ग्रन्थ का व्यापक स्वागत एवं सम्मान हुआ।

दिवंगत होकर वे साहित्य-जगत् की श्रद्धांजलियों के अधिकारी हो गये। परन्तु, उनके पार्थिव शरीर पर उनका अपार्थिव यशःशरीर सदा-सर्वदा विद्यमान रहेगा और **'साहित्य-सिद्धान्त'** के सुधी पाठकों की विशिष्ट सेवा भी करता रहेगा। इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण के वक्तव्य-लेखक एवं तत्कालीन परिषद्-निदेशक डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' ने ठीक ही लिखा था कि डॉ० द्विवेदी ने साहित्य-सिद्धान्त जैसे गम्भीर एवं दुरूह विषय का भाष्य करने में भावमयी शैली की धारा प्रवाहित की है। अपने 'दो शब्द' में विद्वान् ग्रन्थकार ने लिखा था कि इससे जिज्ञासु पाठकों को वह न्यूनतम जानकारी प्राप्त होगी, जो साहित्यिक मूल्यांकन के लिए आवश्यक है। वस्तुतः उनके द्वारा प्रयुक्त यह 'न्यूनतम जानकारी' शब्द-युगल उनकी वास्तविक विनम्रता का ही द्योतक है। जानकारी तो पर्याप्त मात्रा एवं अर्थ-वत्ता में ही प्राप्त होती है। यों ज्ञान कभी भी पर्याप्त एवं पूर्ण नहीं होता। वह अनन्त है। इस ग्रन्थ से भी ज्ञान की अनन्तता की अनुभूति प्राप्त होती है और प्राप्त होती है ज्ञानार्जन की अपरिमित एवं अजस्र प्रेरणा भी।

मुझे हर्ष एवं गौरव है कि इस विशिष्ट महत्त्वपूर्ण समीक्षाशास्त्रीय ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण के प्रकाशन का यत्किंचित् श्रेय मुझे प्राप्त हो रहा है। किन्तु, मुझे सन्तोष तो तब होगा जब साहित्य की अखण्डता के बोध एवं सार्वभौम साहित्यिक चिन्तन की प्रक्रिया का उत्तरोत्तर विकास होता जायगा और साहित्य-जगत् एवं सरकार के द्वारा परिषद् को नव-नव महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों के लिए सदा-सर्वदा पर्याप्त साधन सुलभ कराये जायेंगे। और, साथ ही, महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के परवर्त्ती संस्करणों के प्रकाशनार्थ भी अवसर तथा साधन प्रदान किये जायेंगे।

**बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्**
पटना-८०००००४
बुद्धपूर्णिमा, सं० २०४० वि०

**रामदयाल पाण्डेय**
उपाध्यक्ष-सह-निदेशक

# वक्तव्य

## ( प्रथम संस्करण )

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक हमारे आदरणीय सतीर्थ डॉ० रामअवध द्विवेदी जिस प्रकार पौर्वात्य और पाश्चात्त्य साहित्यशास्त्र के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं, उसी प्रकार ये प्राचीन और अर्वाचीन कारयित्री प्रतिभाओं के अद्यतन ज्ञान रखनेवाले मर्मज्ञ कृतधी भी हैं। साहित्य-शास्त्र-विषयक मौलिक चिन्तन के द्वारा साहित्य-तत्त्व के रहस्य को उद्घाटित करने में डॉ० द्विवेदी की भावयित्री प्रतिभा से सभी साहित्यशास्त्री परिचित हैं। इसके अतिरिक्त काव्यतत्त्व की स्रोतस्विनी मानव-मन की सूक्ष्म वृत्तियों के अध्ययन में इनकी चिन्तनपरक अनुभूति विद्वानों में आदर पा चुकी है। इसीलिए डॉ० द्विवेदी के वर्चस्वी पाण्डित्य का उपयोग राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए आवश्यक समझा गया। फलस्वरूप परिषद् ने सन् १९६१ ई० में ही साहित्यशास्त्र-विषयक एक मौलिक रचना तैयार कर देने का इनसे साग्रह अनुरोध किया। बन्धुवर द्विवेदीजी ने हमारे अनुरोध को केवल स्वीकार ही नहीं किया, बल्कि बड़ी तत्परतापूर्वक, कुछ ही महीनों के भीतर, अपने ज्ञान का मूर्त्त रूप भी प्रस्तुत कर दिया, जिसे आज हम 'साहित्य-सिद्धान्त' के नाम से सुधी पाठकों के समक्ष उपस्थित कर रहे हैं।

'साहित्य-सिद्धान्त' को ग्रन्थ-लेखक ने १४ अध्यायों में विभक्त किया है और प्रत्येक अध्याय में एक विषय का प्रतिपादन है। ग्रन्थ की मौलिक विचारधारा इसी बात पर आधृत है कि काव्य के सृजन में सम्पूर्ण विश्व के मानव-मन में भाव का एक ही स्रोत बहता हुआ दीख पड़ता है, चाहे उसकी तरंगों में कितनी भी भिन्नता क्यों न हो अथवा देश-काल का कितना भी बड़ा अन्तर क्यों न हो। इसीलिए काव्य-कला का क्षेत्र सार्वभौम एकता के चिन्तन का मूलभूत प्राण है, जिसका पूर्व और पश्चिम की सीमा-रेखा में हम विभाजन नहीं कर सकते। काव्य के उद्गम और आस्वादन का यह सिद्धान्त भारतीय साहित्य का अतिप्राचीन विविक्त रूप है, जिस पर 'भरत' ने मानव-मन के स्थायी और व्यभिचारी भावों के सम्बन्ध में विशद विवेचन किया है। वस्तुतः इन्हीं आधारों पर भारतीय साहित्यशास्त्र का विशाल महल ही खड़ा किया गया है। डॉ० द्विवेदी ने भी इन्हीं आधारों पर नवीन दृष्टिकोण द्वारा भारतीय और पाश्चात्त्य साहित्य-सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करके साहित्य के सिद्धान्त को सार्वभौम चिन्तन का अजस्र प्रवाहित होनेवाला एक स्रोत माना है। हमारे इस कथन का विस्तृत अध्ययन पाठकों को इस ग्रन्थ के मनन से प्राप्त होगा।

डॉ० द्विवेदी ने अपने इस ग्रन्थ में साहित्य-सिद्धान्त-जैसे गम्भीर एवं दुरूह विषय के भाष्य करने में जिस भावमयी भाषा-शैली की धारा बहाई है, वह वस्तुतः काव्यमय चिन्तन की ही भाषा कही जायगी। बड़ी ही ललित, सधी और निखरी शैली में, आदि से अन्त तक, ग्रन्थ समाप्त होता है। विषय के प्रतिपादन के साथ-साथ प्रसादपूर्ण भाषा-शैली पर लेखक का एकाधिकार दीख पड़ता है, जिससे पाठक का मन निरन्तर रसार्द्र बना रहता है। बहुधा ऐसा देखा जाता है कि ऐसे गम्भीर विषयों के प्रतिपादन में भाषा-शैली नीरस हो जाती है, जिससे पाठकों का मन ऊब-सा जाता है। यह ग्रन्थ उस दोष से सर्वथा मुक्त है। लेखक की रसपूर्ण लेखनी का यह मधुर प्रसाद पाठकों के मन को सदा प्रसन्न और प्रफुल्ल बनाये रखने में पूर्ण सक्षम रहा है।

हम समझते हैं, साहित्य-सिद्धान्त के प्रतिपादन में यह ग्रन्थ बिलकुल मौलिक और अनूठा है। इसके अध्ययन से जहाँ एक ओर उच्च वर्ग के छात्र नई दिशा का ज्ञान-भाण्डार प्राप्त करेंगे, वहीं दूसरी ओर, साहित्यशास्त्रज्ञ डॉ० द्विवेदी के चिन्तन, मनन तथा प्रतिपादन की भूरि-भूरि प्रशंसा भी करेंगे। परिषद् के प्रकाशनों में इस ग्रन्थ के द्वारा हम एक ठोस और नई कड़ी जोड़ने की प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं और आशा करते हैं कि हमारा यह सत्प्रयास सुधी समाज में हमारे अन्य प्रकाशनों की तरह ही मान्य होगा।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना
विजया दशमी, सं० २०२० वि०

भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'
निदेशक

# दो शब्द

कुछ दिन पहले मेरा 'साहित्यरूप' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। उसकी भूमिका में मैंने साहित्य की अखण्डता में अपने विश्वास की चर्चा की है। प्रस्तुत ग्रन्थ भी उसी विश्वास से प्रेरित है। सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन से अनेक समानताएँ उद्‌घाटित होती हैं और सार्वभौम साहित्यिक चिन्तन का एक ऐसा विशाल क्षेत्र दृष्टिगोचर होता है, जिसपर सभी देशों और जातियों का अधिकार है। इसी सामान्य धरातल पर भारतीय साहित्यशास्त्र का नवनिर्माण होगा। आज अरस्तू, कॉलरिज और क्रोचे हमारे प्रायः उतने ही निकट हैं, जितने भरत, अभिनवगुप्त और पण्डिराज जगन्नाथ। अतः आज के सुधी साहित्य-प्रेमी के लिए प्रमुख भारतीय और पाश्चात्त्य साहित्य-सिद्धान्तों का ज्ञान समानरूपेण अपेक्षित है। इसी बात को ध्यान में रखकर यह ग्रन्थ लिखा गया है। आशा है, इससे जिज्ञासु पाठकों को वह न्यूनतम जानकारी प्राप्त होगी, जो साहित्यिक मूल्यांकन के लिए आवश्यक है। मैं नहीं जानता, मैं अपने प्रयास में कहाँ तक सफल हुआ हूँ, किन्तु यदि हिन्दी-समीक्षा को मेरी पुस्तक से तनिक भी लाभ हुआ तो मैं अपनेको कृतकृत्य समझूँगा।

वाराणसी
४ जुलाई, सन् १९६२ ई०

**रामअवध द्विवेदी**

# विषयक्रम


| | | | |
|---|---|---|---|
| प्रथम अध्याय | : | काव्य-प्रेरणा .... .... | १ |
| द्वितीय अध्याय | : | अनुकरण-सिद्धान्त .... .... | १३ |
| तृतीय अध्याय | : | रेचन-सिद्धान्त .... .... | २६ |
| चतुर्थ अध्याय | : | रस-सिद्धान्त .... .... | ३४ |
| पंचम अध्याय | : | शब्द, अर्थ और शक्ति .... .... | ४७ |
| षष्ठ अध्याय | : | औदात्त्य और आह्लाद .... .... | ६१ |
| सप्तम अध्याय | : | भ्रान्ति और अन्विति .... .... | ७५ |
| अष्टम अध्याय | : | नाट्य-तत्त्व-सम्बन्धी कतिपय प्राचीन और नवीन मत.... | ९० |
| नवम अध्याय | : | सर्जनात्मक कल्पना .... .... | १०४ |
| दशम अध्याय | : | साहित्य और यथार्थ .... .... | १२१ |
| एकादश अध्याय | : | काव्यकला का स्वायत्त्व .... .... | १३७ |
| द्वादश अध्याय | : | पुरावृत्त, स्वप्न, बिम्ब एवं प्रतीक .... .... | १५२ |
| त्रयोदश अध्याय | : | तीन आधुनिक विचारकों के सिद्धान्त .... .... | १६७ |
| | : | (अ) वेरिडिटो क्रोचे .... .... | १६७ |
| | : | (आ) टी० एस्० इलियट .... .... | १७६ |
| | : | (इ) आई० ए० रिचर्ड्स .... .... | १८५ |
| चतुर्दश अध्याय | : | साहित्यिक अध्ययन की विभिन्न पद्धतियाँ .... .... | २०१ |

आशुतोष अवस्थी
अध्यक्ष
श्री नारायणेश्वर वेद वेदाङ्ग समिति (उ.प्र.)

# साहित्य-सिद्धान्त

# प्रथम अध्याय

## काव्य-प्रेरणा

काव्य की उत्पत्ति कैसे और किन कारणों से होती है, यह प्रश्न अत्यन्त रोचक एवं महत्त्वपूर्ण है। सभी सभ्य देशों में इस तात्त्विक समस्या पर विचार हुआ है तथा विभिन्न देशों के तत्सम्बन्धी चिन्तन में पर्याप्त समानता मिलती है। काव्य के अनेक हेतु माने गये हैं ; जैसे शक्ति, व्युत्पत्ति, अभ्यास आदि। भारतीय आचार्यों के ग्रन्थों में इन साधनों की विस्तृत चर्चा मिलती है। पाश्चात्त्य मनीषियों ने भी इन्हीं साधनों का उल्लेख किया है। ईश्वर-प्रदत्त शक्ति के अतिरिक्त प्राचीन कवियों के अनुकरण, काव्यशास्त्र के ज्ञान तथा अभ्यास की आवश्यकता पर उन्होंने बल दिया है। इसके साथ ही भारतीय और पाश्चात्त्य विचारक इस बात में सहमत हैं कि काव्य का उद्भव दैवी अनुग्रह अथवा दैवी प्रेरणा से होता है। ईश्वरीय अनुग्रह शक्ति अथवा प्रतिभा के रूप में प्रकट होता है और उसके बिना उत्कृष्ट काव्य-रचना सम्भव नहीं होती। यह केवल आचार्यों का ही मत नहीं है, वरन् कवियों की भी चिरन्तन काल से यह धारणा रही है कि ईश्वरीय कृपा से ही प्रतिभा मिलती और स्फुरित होती है और उसी के द्वारा कवि-कर्म के मार्ग में आनेवाली बाधाएँ विनष्ट होती हैं। इसीलिए वे काव्यारम्भ में सरस्वती का आवाहन करते हैं तथा मंगलाचरण के रूप में विभिन्न देवताओं से कृपा-याचना भी करते हैं। यूरोपीय साहित्य में होमर ने इस परम्परा का सूत्रपात किया और तब से आज तक असंख्य कवियों ने अपनी रचनाओं का प्रारम्भ प्रार्थना तथा शक्ति-याचना से किया है। पाश्चात्त्य कवियों और मनीषियों ने 'पोएटिक इन्सपिरेशन' अर्थात् काव्य-प्रेरणा की सत्ता को सदैव स्वीकार किया है तथा उसके बारे में गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है। इस भाँति हम देखते हैं कि दैवी शक्ति, सहजा प्रतिभा और प्रेरणा, काव्य का प्रधान हेतु है। अतः उसके स्वभाव, कार्य तथा व्याप्ति के सम्बन्ध में विचार करना उचित है। काव्य-प्रेरणा के आधार पर हम यह समझने का प्रयत्न करते हैं कि कविता कैसे उत्पन्न होती है, अर्थात् उसकी उत्पत्ति के प्रमुख कारण क्या हैं और कौन-से उसके सहायक कारण हैं। इसके अतिरिक्त काव्य-प्रेरणा का स्वरूप समझ लेने पर सहृदय पाठक अथवा आलोचक उत्तम काव्य की परख कर सकता है। जिस काव्य-कृति में नैसर्गिक प्रेरणा का सन्निवेश होगा, वह सहृदयों के मन को अनायास ही चमत्कृत एवं प्रमुदित करेगी। प्रेरणा-रहित रचनाएँ, चाहे जितने ज्ञान और अभ्यास के साथ लिखी जायँ, उत्कृष्टता के उच्चतम स्तर तक नहीं पहुँच पायेंगी। कवि को अभिभूत और प्रेरित करनेवाली शक्ति का प्रेषण काव्यरसिक तक होता है अथवा यह कहा जा सकता है कि काव्य के पढ़ने से रसिक के मन में कवि के सदृश ही प्रेरणा आविर्भूत होती है, यद्यपि उसकी तीव्रता में कमी हो सकती है। इस दृष्टि से काव्य-प्रेरणा का विस्तार कवि से सहृदय तक होता

है। उसका संचरण शब्द और लय के माध्यम से होता है, जो प्रेरणा के स्पर्श से स्वयं अनुप्राणित हो उठते हैं।

हम ऊपर लिख आये हैं कि भारतवर्ष में कवियों द्वारा रचना के प्रारम्भ में सरस्वती तथा इष्टदेव की वन्दना की परम्परा अत्यन्त दीर्घकालीन है। महाकाव्यों में तो अत्यन्त विस्तृत रीति से अनेक देवताओं से सफलता तथा त्रुटियों और बाधाओं से रक्षा के लिए प्रार्थना की जाती है। अपेक्षाकृत लघु काव्यों में भी आराधना तथा शक्ति-याचना के अनेक उदाहरण मिलते हैं। गणेशादि की वन्दना विघ्न-विनाश के लिए होती थी तथा विष्णु, शिव, पार्वती आदि की स्तुति सब प्रकार से सफलता और मंगल के लिए होती थी। काव्य की अधिष्ठात्री सरस्वती से आलोक और प्रबोध की भिक्षा माँगी जाती थी, जिनके अभाव में उत्तम काव्य-सर्जन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ, रामचरितमानस का प्रारम्भ सरस्वती-वन्दना से होता है :

वर्णानामर्थसङ्घानां रसानां छन्दसामपि।
मङ्गलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ॥

शास्त्रज्ञान तो व्युत्पत्ति से उपलब्ध हो जाता है, किन्तु कवि का अन्तःकरण दैवी अनुकम्पा से ही आलोकित होता है, और उसी अनुकम्पा से ही उसे दिव्य दृष्टि मिलती है। सरस्वती की दया से ही कवि में सौन्दर्य और आह्लाद उत्पन्न करने तथा नव रसों की सृष्टि करने की क्षमता उत्पन्न होती है :

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥

मंगलाचरण तथा प्रार्थना की इस दीर्घकालीन एवं स्थायी परम्परा से यह स्पष्ट है कि कवि यह मानते आये हैं कि किसी अलौकिक शक्ति की कृपा अथवा कोई बाह्य प्रेरणा उनकी सफल काव्य-रचना के लिए अपेक्षित है। जब क्रौंचवध के समय आदिकवि की वाणी से काव्यस्रोत फूटकर बह पड़ा, तब उनका मन केवल द्रवित ही नहीं, अपितु किसी अलौकिक शक्ति द्वारा काव्य-रचना के लिए प्रेरित भी हुआ था। यदि केवल करुणा की अनुभूति-मात्र होती, तो उनका श्लोक मुखरित नहीं होता। यह परम्परागत विश्वास है कि सरस्वती की कृपा से 'लाख पाखर निराखर के मुख तैं मधुर मंजु आखर कढ़त हैं।' ऐसी ही धारणा पाश्चात्त्य कवियों की भी रही है, किन्तु हम उसकी चर्चा आगे चलकर करेंगे।

भारतीय दर्शन और साहित्यशास्त्र में प्रतिभा के स्वरूप की व्याख्या अनेक स्थलों पर मिलती है। दर्शन में प्रतिभा से आर्ष ज्ञान का बोध होता है, जो ऋषियों को ईश्वरीय अनुग्रह से मन के समाहित होने पर उपलब्ध होता था। उसका उद्भव अन्तःकरण में होता था। अन्तःकरण ज्ञान से प्रतिभासित अथवा आलोकित हो उठता था और इस प्रकार का आर्ष ज्ञान सामान्य कार्य-कारण-नियम से परे था। वह या तो योग और समाधि द्वारा प्राप्त होता था अथवा दैवी अनुग्रह से जागरित हो उठता था। आदिकवि वाल्मीकि को इसी प्रकार का प्रातिभज्ञान, ऐसी ही अलौकिक अन्तर्दृष्टि मिली थी। उत्तररामचरित में ब्रह्मा ने वाल्मीकि से

कहा है : "अव्याहतज्योतिषं ते चक्षुः प्रतिभातु । आद्यःकविरसि ।" अनेक दर्शनों में प्रतिभा की चर्चा है, किन्तु उसका सबसे सन्तोषप्रद विवेचन शैवागम में मिलता है, जहाँ उसकी तुलना शक्ति से की गई है । कतिपय आचार्यों ने प्रतिभा को शिव का तीसरा नेत्र बताया है, जिसके खुलने से त्रिकालदर्शन होता है और सृष्टि के सभी रहस्य उद्घाटित हो जाते हैं ।

साहित्यशास्त्र में मूलतः इसी दार्शनिक मत को ग्रहण किया गया है, यद्यपि अनेक आचार्यों ने प्रतिभा का सम्बन्ध संस्कार से भी माना है । अधिकांश विचारकों ने प्रतिभा के सहज स्फुरणशील स्वरूप को ही महत्त्व दिया है और उसे एक ऐसी पारलौकिक प्रज्ञा माना है, जो साधारण तत्त्वों पर निर्भर नहीं करती । तभी तो अभिनवगुप्त ने उसके सम्बन्ध में लिखा है : "प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा ।" राजशेखर ने भी **काव्यमीमांसा** में प्रतिभा की कुछ ऐसी ही व्याख्या प्रस्तुत की है : "या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्ति-मार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा", अर्थात् प्रतिभा वह तत्त्व है, जो काव्योपयोगी शब्दराशि, अर्थ-सम्पत्ति, अलंकारपुंज, उक्तिमार्ग और उसी प्रकार की अन्य वस्तुओं को भी प्रतिभासित करता है । राजशेखर ने कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा में भेद किया है । यहाँ हमारा मुख्य प्रयोजन कारयित्री प्रतिभा से ही है । भट्टतौत, रुद्रट, पण्डितराज जगन्नाथ एवं अनेक आधुनिक विद्वानों और आलोचकों ने प्रतिभा की अलौकिक शक्ति का उल्लेख करते हुए उसे काव्य का प्रधान हेतु माना है । प्रतिभा में नवोन्मेष, स्फुरण एवं आलोक की सहज क्षमता विद्यमान रहती है और वह साधन-निरपेक्ष है । रुद्रट ने उत्पाद्या प्रतिभा की चर्चा की है और राजशेखर ने औपदेशिकी की, जो मन्त्र-तन्त्र द्वारा उत्पन्न होती है । किन्तु, ये अपवाद-मात्र हैं और मूलतः प्रतिभा का 'सहजा' स्वरूप ही स्वीकार्य है । इस प्रकार, प्रतिभा में आर्ष ज्ञान और दैवी प्रेरणा के अंश निहित रहते हैं । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रहस्यवाद को मुख्यतः धर्म और दर्शन के क्षेत्र की वस्तु माना है और काव्य से उसका सीधा सम्बन्ध अस्वीकार किया है । प्रेरणा का सिद्धान्त, जो बीजरूप में प्रतिभा की कल्पना में विद्यमान है, रहस्य-भावना के लिए काव्य का द्वार खोल देता है । प्रेरणा-सम्बन्धी पाश्चात्त्य मतों पर विचार करने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है ।

यूरोप में अनादिकाल से कवियों द्वारा दैवी कृपा तथा प्रेरणा का आवाहन होता आया है । होमर ने **इलियड** और **ओडेसी** के प्रारम्भ में म्यूज की स्तुति तथा उनसे काव्य-प्रणयन की शक्ति की याचना की है । उनके शब्दों से उनके इस विश्वास का पता लगता है कि कविता का मूल स्रोत किसी ऐसी पारलौकिक शक्ति में है, जो कवि के नियन्त्रण से बाहर होती है । हिसीयड ने तो साफ-साफ कह दिया है कि म्यूज ने अनुग्रहपूर्वक काव्य-रचना की शक्ति उसमें भर दी थी । प्राचीन यहूदी सन्तों के वचन भी, जो **बाइबिल** में संकलित हैं, इसी विश्वास के द्योतक हैं कि कवि केवल किसी पारलौकिक संकेत अथवा प्रेरणा का ग्रहण और प्रकाशन करनेवाला होता है । आधुनिक युग में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कवि की तुलना उस वंशी से की है, जिसमें ईश्वर स्वयं अपने स्वर फूँकता रहता है । अनेक प्राचीन और अर्वाचीन रहस्यवादियों की यही धारणा रही है और इस दृष्टि से कवि किसी पारलौकिक शक्ति के प्रकाशन और वहन का माध्यम-मात्र होता है ।

जो लोग प्रेरणा को काव्य का सर्वस्व न मानकर कला तथा कवि के चेतन-प्रयास को भी महत्त्व देते हैं, वे भी कम-से-कम प्रेरणा की अनिवार्य आवश्यकता को तो स्वीकार करते ही हैं। इसीलिए आवाहन और स्तुति से काव्य-रचना प्रारम्भ करने की प्रथा दीर्घजीवी सिद्ध हुई है। वर्जिल, दान्ते, टैसो, मिल्टन प्रभृति महाकवियों की कृतियों के किसी-न-किसी भाग में दैवी प्रेरणा का आवाहन अवश्य किया गया है। ईसाई धर्म के प्रचार के उपरान्त भी प्राचीन यूनानी देवताओं की अभ्यर्थना बन्द नहीं हुई। उदाहरणार्थ, दान्ते ने अपोलो का स्तवन किया है और मिल्टन ने कट्टर ईसाई होने पर भी यूरैनिया से शक्ति-याचना की है। दैवी काव्य-प्रेरणा में कवियों का प्राचीनतम युगों से चला आनेवाला विश्वास कुछ रूढ़िबद्ध हो गया था। अतः कवि अपने काव्य में उसका आश्रय लेते थे।

आधुनिक युग में काव्यप्रेरणा-सम्बन्धी धारणा कुछ परिवर्त्तित हो गई है, किन्तु उसमें विश्वास अब भी दृढ़ और अक्षुण्ण बना हुआ है। शेक्सपियर ने अनेक स्थलों पर कवि की तीव्र सर्जनात्मक अनुभूति की चर्चा की है तथा अनेक परवर्त्ती कवियों ने काव्य-प्रेरणा में अपनी आस्था व्यक्त की है। ड्राइडेन ने स्पष्टरूपेण लिखा है कि बिना प्रेरणा के उत्तम काव्य की रचना नहीं हो सकती। ब्लेक की काव्य-रचना दैवी प्रेरणा पर ही आधृत थी तथा कॉलरिज की कतिपय रचनाएँ प्रेरणा का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। वर्ड्सवर्थ ने प्रेरणा का उल्लेख किया है तथा शेली ने उसकी गम्भीर व्याख्या की है। रिम्बो से ब्लोक तक प्रायः सभी यूरोपीय प्रतीकवादी प्रेरणा को ही काव्य-रचना का आश्रय और प्रधान कारण मानते आये हैं और उनमें से बहुतों ने तो प्रेरणा के मूर्त्त रूप की भी कल्पना की है। बादलेयर, रिम्बो, वर्लेन, वेलरी, रिल्के, येट्स, ब्लोक—सभी के बारे में यह सत्य है कि वे पारलौकिक प्रेरणा की प्रतीक्षा तथा उसका आवाहन करते थे। प्रेरणा के क्षणों में अल्प कालावधि में वे उत्कृष्ट काव्य की रचना द्रुतगति से एवं प्रभूत मात्रा में करते थे। किन्तु, प्रेरणा के तिरोहित होने पर वे असमर्थ हो जाते थे। जैसा हम कह आये हैं, रहस्यवादी सन्तकवियों में प्रेरणा का कार्य और भी सुस्पष्ट रूप से प्रकट होता है। वे दैवी संकेतों और आदेशों को ग्रहण और अभिव्यक्त करने में ही अपने अभीष्ट की पूर्त्ति मानते हैं।

काव्य-प्रेरणा की प्रक्रिया किस प्रकार परिचालित होती है, इस सम्बन्ध में प्लेटो का मत ऐतिहासिक तथा तात्त्विक दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व रखता है। फेड्रस नामक संवाद में काव्य-प्रेरणा के बारे में कुछ लिखा गया है, किन्तु उसका विस्तृत विवेचन 'इआन' नामक संवाद के अधोलिखित अंश में मिलता है :

सुकरात इआन से कहता है : "जो शक्ति तुम्हें प्राप्त है, वह 'कला' नहीं है, किन्तु जैसा कि मैंने अभी बताया है, वह 'प्रेरणा' है। तुम्हें एक दैवी शक्ति परिचालित कर रही है, वह ऐसी शक्ति के सदृश है, जो उस प्रस्तर-खण्ड में निहित रहती है, जिसे युरिपिडीज ने 'चुम्बक' की संज्ञा दी है, किन्तु जो सामान्यतः हेरेक्ली का प्रस्तर कहलाता है। यह प्रस्तर न केवल लोहे की अँगूठियों को स्वयं आकृष्ट करता है, अपितु उन्हें अन्य अँगूठियों को आकृष्ट करने की शक्ति भी प्रदान करता है और कभी-कभी हम कई लोहे के टुकड़ों तथा अँगूठियों को आकर्षण द्वारा एक ही शृंखला में सम्बद्ध पाते हैं। इस शृंखला को सभी

कड़ियाँ एकत्र रहने की शक्ति मूलतः उसी एक प्रस्तर-खण्ड से प्राप्त करती हैं। इसी भाँति म्यूज सर्वप्रथम कतिपय व्यक्तियों को प्रेरित करती है और इन अनुप्रेरित व्यक्तियों से अन्य प्रेरणाप्राप्त जनों की शृंखला प्रलम्बित रहती है, जो म्यूज द्वारा प्रेरित जनों से निरन्तर प्रेरणा प्राप्त करते रहते हैं। क्योंकि सभी उत्कृष्ट कवि, चाहे वे महाकाव्य-प्रणेता हों अथवा मुक्तक-प्रणेता हों, अपने सुन्दर काव्य की रचना कला द्वारा नहीं करते, अपितु उस प्रेरणा द्वारा करते हैं, जो उन्हें प्रेरित और अभिभूत करती है। और, जैसे कोरिवेण्टियन आमोद-प्रमोद करनेवालों के मन में नृत्य करते समय विक्षेप होता है, वैसे ही मुक्तक रचनेवाले कवियों के मन में भी विक्षेप होता है, जब वे अपने मधुर गीतों की रचना करते हैं। किन्तु, जब वे संगीत और छन्द से प्रभावित होकर प्रेरित और अभिभूत होते हैं, तब वे मदिरा के देवता बेकस की पूजा करनेवाली उन कुमारियों के तुल्य होते हैं, जो डायनिसस के प्रभाव से उन्मत्त होकर सरिता से दुग्ध और मधु प्राप्त करती हैं, जो सहज मानसिक अवस्था में अप्राप्य हैं। जैसा कि मुक्तक-रचयिता कवि स्वयं कहते हैं, उनकी अन्तरात्मा की क्रिया भी तदनुरूप होती है; क्योंकि जैसा कि वे स्वयं कहते हैं, वे अपने गीत मधुर स्रोतों से ग्रहण करते एवं म्यूज के उपवनों से चुनकर एकत्र करते हैं, जहाँ वे मधुमक्खी की भाँति एक कुसुम से दूसरे कुसुम तक विचरण करते हैं। और, यह सत्य है; क्योंकि कवि अल्पभार, पंखिल एवं पवित्र प्राणी होता है, जो नवनिर्माण का कार्य तभी सम्पन्न कर सकता है जब वह प्रेरित होता है तथा उसके मन में विक्षेप होता है। जबतक वह ऐसी अवस्था को नहीं प्राप्त होता, वह नितान्त शक्तिहीन एवं अपनी भविष्यवाणी के कथन में असमर्थ होता है। कवि मनुष्यों के कार्यों के सम्बन्ध में अनेक सुन्दर बातें कहते हैं, किन्तु जैसा तुमने स्वयं होमर के विषय में बताया है, वे उनके बारे में कला के नियमों द्वारा कथन नहीं करते, वरन् वही बातें कहते हैं, जिनके लिए म्यूज उन्हें प्रेरित करती है। प्रेरित होकर कोई कवि डिथीरैम्ब की रचना करता है, तो अन्य कवि प्रशंसात्मक गीतों, कोरल गीतों तथा महा-काव्य और आयम्बिक छन्दों की रचना करते हैं। जो कवि एक प्रकार की रचना में सफल होता है, वह अन्य प्रकार की रचनाओं में समान रूप से सफलता नहीं प्राप्त करता; क्योंकि कवि कला की सहायता से गान नहीं करता, अपितु दैवी प्रेरणा द्वारा। यदि वह कला द्वारा दीक्षित होता, तो वह एक विषय के ही बारे में नहीं, वरन् समस्त विषयों के बारे में काव्य-रचना की शक्ति रखता। अतः ईश्वर कवियों की चेतना को अपने वश में कर लेता है और उनका उपयोग अपने कार्यसाधक के रूप में करता है; ठीक वैसे ही, जैसे वह भविष्य-वक्ता तथा भविष्यद्रष्टा-रूपी साधकों का उपयोग करता है। फलतः हम जब उनकी वाणी को सुनते हैं, तब हमें यह प्रतीति होती है कि अचेतन अवस्था में कवि नहीं बोल रहे हैं, अपितु ईश्वर उनके माध्यम से स्वयं हमसे कुछ कह रहा है।" इसके आगे प्लेटो ने एक उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि निम्नकोटि के कवि भी दैवी प्रेरणा के वशीभूत होकर अत्यन्त उत्कृष्ट काव्य-रचना करते हैं, जो इस बात का प्रमाण है कि काव्य-रचना दैवी प्रेरणा पर ही निर्भर होती है और कवि की कला का कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। इआन गायक था और प्लेटो के मतानुसार वह काव्यपाठ के समय कवि से प्रेरणा ग्रहण करता

था, अतः वह म्यूज और कवि के उपरान्त आनेवाली शृंखला की तीसरी कड़ी था और उसके बाद श्रोता और आलोचक का स्थान आता है। इसी प्रकार, प्लेटो ने प्रेरणा से उद्भूत एवं सम्पर्क और आकर्षण द्वारा निबद्ध लौह अँगूठियों की प्रलम्बित शृंखला की कल्पना प्रस्तुत की है। प्लेटो के बाद अनेक परवर्त्ती कवियों और विचारकों ने कवि की अचेतन अथवा विक्षेपयुक्त मनःस्थिति का उल्लेख किया है। शेक्सपियर ने प्रेमी, कवि और उन्मत्त व्यक्ति को एक ही कोटि में रखा है।

जिन विचारकों ने प्लेटो के मत को पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं किया है, उनमें भी अनेक ऐसे हैं, जो प्रेरणा को दैवी शक्ति मानते हैं। होरेस ने काव्य के लिए प्रेरणा की अनिवार्यता को स्वीकृति प्रदान की है, यद्यपि उसका मुख्य उद्देश्य काव्य के शिल्प-विधान तथा सजावट से है। इसी भाँति मिल्टन ने प्रेरणा की कल्पना ऐसी अग्नि के रूप में की है, जिसे देवदूत ईश्वर के राजसिंहासन से लाकर प्रत्येक राष्ट्र में कतिपय भाग्यवान् कवियों को प्रदान करते हैं। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि प्रेरणा उस ज्ञान से भिन्न है, जो हमारी इन्द्रियाँ निरीक्षण और अनुभव द्वारा बाह्य जगत् से ग्रहण करती हैं। बाह्य प्रभावों के सम्पर्क और आघात से हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ निरन्तर उत्तेजित होकर नवीन ज्ञान तथा भावनाओं का सर्जन करती हैं। इस प्रकार की उत्तेजना, भावना और ज्ञान से प्रेरणा, स्वभाव और प्रभाव में सर्वथा पृथक् है। वह सामान्य ज्ञान की कोटि में नहीं आती; क्योंकि उसका स्वरूप अलौकिक और रहस्यमय है।

विचारकों की एक अन्य कोटि है, जो मानती है कि काव्य-प्रेरणा अन्तःकरण में ही प्रसूत होती है और उसका उद्गम-स्थान कवि से बाहर नहीं होता। फ्रायड का सिद्धान्त है कि प्रेरणा अचेतन मन का उद्गार-मात्र है, अतः उसकी उत्पत्ति मानव-मन में ही होती है। किन्तु, इस सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विचार शेली का है, जिनका निम्नलिखित कथन विचारणीय है :

"कविता तर्क की भाँति कोई ऐसी शक्ति नहीं है, जिसका व्यवहार इच्छापूर्वक किया जा सकता है। कोई आदमी यह नहीं कह सकता कि मैं कविता करूँगा। बड़ा-से-बड़ा कवि भी यह नहीं कह सकता; क्योंकि सर्जनशील मन बुझते हुए अंगारे की भाँति होता है, जिसे कोई अदृश्य हवा के अस्थिर झोंके की भाँति जगाकर क्षण-भर के लिए प्रज्वलित कर देता है। यह शक्ति आन्तरिक होती है, जो पुष्प के उस रंग की भाँति होती है, जो जिस प्रकार विकसित होता, वैसे ही परिवर्त्तित होता और मुरझा जाता है और हमारा चेतन मन उस शक्ति के आविर्भाव अथवा तिरोभाव की सूचना देने में असमर्थ होता है।" अन्तःकरण में आविर्भूत प्रेरणा का यह स्वरूप क्रोचे की अभिव्यक्ति से मिलता-जुलता है, यद्यपि कुछ अन्तर भी है।

प्रेरणा के क्षणिक स्वरूप तथा विलय की बात बार-बार दुहराई गई है। ऊपर उद्धृत किये हुए शेली के लेख में आगे चलकर कहा गया है कि शीघ्र ही प्रेरणा के झोंके से प्रज्वलित अंगारे बुझने लगते हैं और कवि के मन में उत्पन्न नवीन शक्ति क्षीण होने लगती है। अमेरिकी कवि एडगर एलेन पो ने भी अपने एक प्रसिद्ध भाषण में इस बात

पर बल दिया है कि सर्जनशील काव्य-प्रेरणा अल्पजीवी होती है, अतः विस्तृत काव्य-कृतियों में उसका उत्कर्ष प्रकट नहीं होता। यदि हम इस मत को स्वीकार कर लेते हैं, तो यह निष्कर्ष स्वतः निकलता है कि मुक्तक ही उत्कृष्ट काव्य है और प्रबन्ध उसकी तुलना में नहीं टिक सकता। किन्तु यथार्थ में प्रेरणा क्षणिक होने पर भी निरन्तर संचरित होती रहती है और संवेदनशील कवि उसके तीव्र प्रभाव के विलय के उपरान्त भी स्मृति की सहायता से अपना कार्य कर सकता है। इसी प्रकार, महाकाव्यों और दीर्घ आकार के कथाकाव्यों की रचना होती है। यह सम्भव है कि उनके कुछ अंशों में उसकी प्रेरणा की छाप न मिले, किन्तु सम्पूर्ण रचना को एक साथ लेने पर यह प्रतीति होती है कि उसमें प्रेरणा का प्रसार आद्योपान्त सर्वत्र विद्यमान है।

प्रोफेसर सी० एम० बावरा ने काव्य-प्रेरणा के क्रियात्मक स्वरूप की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है। सर्वप्रथम प्रेरणा किसी विचार, भावना अथवा प्रतीति के साथ उत्पन्न होती है। यह सहगामी विचार प्रारम्भ में अस्पष्ट होता है, किन्तु उसके बिना प्रेरणा न होगी, केवल स्नायु-मण्डल की झंकृति-मात्र होगी। विचार और भाव शक्ति तथा आह्लाद में परिवेष्टित होकर प्रकट होते हैं और कवि की मनःस्थिति अलौकिक एवं चमत्कार-पूर्ण होती है। उसकी मानसिक चेष्टाओं का उत्कर्ष होता है और नवोन्मेष के कारण उसका चित्त ही नहीं, वरन् सारा व्यक्तित्व आन्दोलित हो उठता है। प्लेटो ने इसी अवस्था को 'डिवाइन मैडनेस', अर्थात् 'दैवी उन्माद' की संज्ञा प्रदान की है। प्रेरणा अकस्मात् आकर अथवा अन्तःकरण में उदित होकर कवि के मन को विभोर कर देती है और उसकी विह्वलता उसकी मुखाकृति एव व्यवहार में भी प्रकट होने लगती है। इस आन्दोलन के केन्द्र में वही विचार अथवा भावना स्थित होती है, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। इस भाँति कवि अलौकिक शक्ति तथा किसी नवीन विचार अथवा भावना के सम्मिलित प्रभाव से अभिभूत होता है।

काव्यप्रेरणा-जन्य मन में अनुपम एकाग्रता होती है, इसी अवस्था को राजशेखर ने 'समाधि' कहकर उसे एक महत्त्वपूर्ण काव्यहेतु माना है। प्रेरणा के वशीभूत कवि बाह्य व्यवधानों और विक्षेपों की ओर बिलकुल आकृष्ट नहीं होता; क्योंकि उसका मन अपनी ही अलौकिक अनुभूति में रमता है। स्थूल तत्त्वों की ही नहीं, वरन् अमूर्त्त प्रभावों की भी उपेक्षा करता हुआ कवि का चित्त एकाग्र होकर स्थिरता प्राप्त करता है। यहाँ स्थिरता से यह अभिप्राय नहीं है कि कवि की प्रज्ञा जड़ होकर निश्चल बन जाती है। यहाँ केवल उसकी एकनिष्ठता तथा तटस्थता से ही प्रयोजन है। शक्ति और नवीन उद्भावना से परिपूर्ण कवि-मानस उद्वेलित होकर सर्जनशील हो उठता है। भाव भाषा में व्यक्त होने के लिए व्यग्र हो उठते हैं और आत्म-प्रकाशन से कवि को अनुपम सन्तोष मिलता है। प्रेरणा और रचना का अभेद्य सम्बन्ध है और जब वर्ड्सवर्थ कविता को भावनाओं का निष्प्रयास उद्गार-मात्र बताते हैं, तब वह केवल प्रेरणा, रचना और प्रेषण के अनिवार्य सम्बन्ध को व्यक्त करते हैं। ऐसा देखा गया है कि कभी-कभी प्रेरणा का आग्रह इतना प्रबल होता है कि रचना उसका तत्काल अनुसरण नहीं कर सकती। प्रेरणा में शक्ति होती है और वेग भी होता है, अतः

अभिव्यक्ति का पिछड़ जाना स्वाभाविक है। एक रूसी कवि के निम्नलिखित शब्द रचना की कठिनाई का सुन्दर प्रतिपादन करते हैं :

What a vague, what a passionate murmur,
Lacking any intelligent plan;
But a sound may be truer than reason;
And a word may be stronger than man.
And then melody, melody, melody,
Blends my accent and joins in their quest,
And a delicate, delicate, delicate,
Pointed Blade seems to enter my breast. (*Vladislav Khodasevich*)

प्रेरणा की धारा इतनी शक्ति और अबाध गति से प्रवाहित होती है कि न तो कोई उसे रोक सकता है और न उससे होड़ लगा सकता है। जब वह शब्दों के माध्यम में निबद्ध होकर प्रकट होती है, तब वह लय और संगीत में बहकर अग्रसर होती है। लय प्रेरणा के अन्तराल की वस्तु है और सदैव उसके सहयोगी और सहायक के रूप में कार्य करती है।

प्रेरणा के क्षणिक स्वरूप की चर्चा हम ऊपर कर आये हैं, किन्तु साथ ही यह भी स्मरणीय है कि मन की एकाग्रता तथा अनुभूति की तीव्रता के कारण प्रेरणा का एक अमूल्य क्षण अनन्तकाल का बोध कराता है। महाकवि ब्लेक ने एक घड़ी में अनन्त युगों का दर्शन प्राप्त किया था तथा स्वच्छन्दतावादी कवियों ने 'अनन्त' शब्द के प्रति अपूर्व आकर्षण प्रकट किया है। वर्ड्सवर्थ और शेली में 'इटरनल', 'इटरनिटी' आदि शब्दों का अनेक बार प्रयोग हुआ है और ऐसी ही प्रवृत्ति हमारे छायावादी कवियों में दिखाई पड़ती है। यहाँ तक कि 'अनन्त' के प्रति उनका मोह असहिष्णु आलोचकों के लिए हास्य का विषय भी बन गया है। यूरोप के स्वच्छन्दतावादी और प्रतीकवादी कवियों ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि कल्पना के प्रदीप्त एवं स्वर्णिम क्षण में भूत और भविष्य की प्रतीति लुप्तप्राय हो जाती है और केवल उसी एक जीवन्त क्षण का ज्ञान रहता है, जो मानों सम्पूर्ण काल को समेटकर अपने में निबद्ध कर लेता है। काल की प्रवहमाण धारा से प्रेरणा-अभिभूत कवि एक क्षण को ग्रहण करके उसे न केवल सौन्दर्य और आलोक प्रदान करता है, वरन् उसे चिरस्थायी भी बना देता है। अमर कवि कीट्स ने 'ग्रीशियन अर्न' पर चित्रित प्रेमी और प्रेमिका का उल्लेख करते हुए इसी प्रेरणा-प्रसूत अमर क्षण की ओर संकेत किया है।

प्रेरणा और आलोक का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रेरणा से प्रबोध होता है और मन आलोकित हो उठता है। इस भाँति प्रेरणा के क्षण की तुलना हम ऐसे प्रकाश-विन्दु से कर सकते हैं, जो चतुर्दिक् ज्योति विकीर्ण करता है। मानस आलोकित हो जाने पर अन्तर्दृष्टि गूढ़ तत्त्वों से अवगत होती है, अतएव प्रेरणा ज्ञानस्वरूप है तथा कवि और योगी तज्जनित आलोक को अपनी परम निधि और सम्बल मानते आये हैं। काव्य-कृतियों के अध्ययन करने पर असंख्य ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें प्रेरणा के आलोकमय स्वरूप का उल्लेख मिलता है।

है। ऐसे उदाहरण प्राच्य और पाश्चात्त्य कवियों की रचनाओं से सरलतापूर्वक एकत्र किये जा सकते हैं।

प्रेरणा ज्ञानरूप ही नहीं, वरन् आनन्दरूप भी है। वह कवि के मन में अनुपम आह्लाद की सृष्टि करती है। कवि का उद्बुद्ध मानस तीव्र आनन्दानुभूति के प्रबल आग्रह से काव्य-रचना के लिए तत्पर हो जाता है। काव्य का विषय सुखद अथवा दुःखद हो सकता है, किन्तु कृतित्व के काल में कवि की अनुभूति सदैव आनन्दमय होती है। जर्मन कवि रिल्के अस्वस्थ शारीरिक अवस्था में काव्य-रचना के लिए सहज ही प्रेरित होता था और टी० एस० इलियट महोदय ने भी एक स्थल पर लिखा है कि शरीर अस्वस्थ होने पर कविता लिखने के लिए मन अधिक जागरूक हो उठता है। यह बात कुछ विचित्र मालूम पड़ती है, किन्तु मानसिक और स्नायविक क्रियाओं के विश्लेषण द्वारा हम उसे समझने की चेष्टा करते हैं। अस्वस्थता से यहाँ मतलब ऐसी रुग्णता से नहीं है, जिसमें पीड़ा से आदमी बेचैन हो जाता है। थोड़ी-बहुत अस्वस्थता में आदमी जीवन के संघर्ष और परिश्रम से अपने मन को खींचकर विश्राम का आवाहन करता है। अवकाश मिलने पर मन में एकाग्रता आती है तथा कल्पना जागरित होने लगती है। इस अवस्था में मन एक विचित्र प्रकार के सन्तोष का अनुभव करता है। कदाचित् रिल्के और टी० एस० इलियट के विचारों का यही आधार है। उनके मत अपवाद हैं तथा अनन्तकाल से यह सर्वस्वीकृत विश्वास है कि प्रेरणा आनन्द की जननी है। श्रीअरविन्द ने कवि के मन में उत्पन्न होनेवाले आनन्द का सीधा सम्बन्ध उस दैवी आनन्द से माना है, जो समस्त सृष्टि को आप्लावित करता रहता है। प्रेरणा-प्राप्त कवि को उसी पारलौकिक आनन्द का अंश मिलता है। इसीलिए न केवल वह स्वयं आह्लादित होता है, वरन् दूसरों को भी प्रमुदित करता है।

प्रेरणा एक विशेष अन्तर्वृत्ति है, जिसका मन की अन्य शक्तियों से पार्थक्य है। सबसे अधिक अन्तर प्रेरणा और तर्क में है। तर्क पूर्वाग्रहों को छोड़कर ज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश में पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या करता है। वह दर्शन का प्रमुख साधन है, अतएव प्लेटो के काल से ही दार्शनिक उसे प्रेरणा की अपेक्षा वरीयता प्रदान करते आये हैं। प्रेरणा कल्पना से भी भिन्न है। कल्पना मन की वह शक्ति है, जो अनेकता में एकता की प्रतीति कराती है। वह पदार्थों की आत्मा तक प्रविष्ट होकर संश्लेषण द्वारा नवनिर्माण का कार्य सम्पन्न करती है। प्रेरणा का उपर्युक्त स्वरूप निश्चय ही इससे कुछ भिन्न है, यद्यपि प्रेरणा और कल्पना की सहकारिता अनिवार्यरूपेण अपेक्षित है। आन्तरिक प्रेरणा और सहज ज्ञान में विभेद होने पर भी उनकी स्थिति एक-दूसरे के अत्यन्त निकट है और प्रतिभा को जाग्रत् करने में दोनों ही सहायक हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेरणा की पृथक् सत्ता हमें माननी ही पड़ेगी चाहे हम उसका उद्गम-स्थान दैवी अनुग्रह में मानें अथवा अन्तःकरण में। रहस्यवादियों की विशिष्ट अनुभूति और काव्य-प्रेरणा में निश्चित समानता है।

काव्यात्मक प्रेरणा और कवि के कलात्मक प्रयास में क्या सम्बन्ध है, यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। कुछ कवि ऐसे होते हैं, जो प्रेरणा के तीव्र वेग को निष्प्रयास ग्रहण करते एवं बिना विशेष परिवर्त्तन के शब्दों द्वारा उसे अभिव्यक्त करते हैं। ब्लेक ने अपनी कतिपय

रचनाओं के सम्बन्ध में लिखा है : "मैं तो केवल लिपिक-मात्र हूँ, उनका वास्तविक रचयिता तो अनन्त में छिपा हुआ है।" प्रेरणा की शक्ति अपने अपरिवर्त्तित रूप में ब्लेक की कविताओं में प्रवाहित होती है और कलात्मक नियन्त्रण और परिष्कार के अभाव के कारण ही उनमें चमत्कारपूर्ण जटिलता आ गई है। शेली की कविताओं में भी प्रेरणा का प्रायः विशुद्ध रूप ही दिखाई देता है। क्योंकि वह महाकवि प्रेरणा के वशीभूत होकर लिखता था तथा अपनी आलोचनात्मक शक्ति का प्रयोग अपनी रचनाओं को सुधारने में नहीं करता था। शेक्सपियर की प्रतिभा इतनी उच्च कोटि की थी कि उसके काव्य में प्रेरणा और परिष्कार की सम्मिलित प्रक्रिया स्वतः कार्यान्वित हुई है, किन्तु अधिकांश कवियों में प्रेरणा के साथ-साथ आलोचनात्मक प्रयास का सूत्रपात भी होता है। कवि प्रेरणा को ग्रहण करके अपनी रचना में उसे रूप सौष्ठव प्रदान करता है। प्रेरणा-प्रसूत काव्य को वह निखारता और सँवारता रहता है। परिष्कार की यह क्षमता प्रेरणा का ही एक अंग है। इस प्रकार, प्रतिभा-व्युत्पत्ति और प्रयास अर्थात् 'इन्सपिरेशन' और 'आर्ट' का समन्वय हो जाता है। अतः उत्कृष्ट कवि वही है, जिसमें काव्यात्मक प्रेरणा और कलात्मक प्रयास का मेल होता है।

अभी तक हमने प्रेरणा की अपूर्व शक्ति और उसकी सर्जनात्मक क्षमता का उल्लेख किया है और यह बताने का प्रयास किया है कि सफल काव्य-रचना का वह अनिवार्य तत्त्व है। अब हमें यह देखना चाहिए कि सहृदय पाठक अथवा श्रोता काव्य-प्रेरणा से किस प्रकार प्रभावित होता है। इसमें संदेह नहीं कि उत्तम और सफल काव्य वही है, जिस पर प्रेरणा की छाप अंकित होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि सहृदय काव्य के इस विशिष्ट गुण को कैसे पहचानता है, अर्थात् प्रेरणा-जनित काव्य के क्या लक्षण हैं? सर्वप्रथम यह निर्विवाद सत्य है कि ऐसी काव्य-रचना जो प्रेरणा पर आधृत होती है, सहज ही मन को प्रभावित और वशीभूत करती है। उसका बाह्य स्वरूप सौष्ठवपूर्ण और आकर्षक होता है तथा उसमें एक ऐसी अद्भुत शक्ति होती है, जो उसे अनायास रोचक बना देती है। उससे मन मोहित और उत्तेजित होकर सन्तोष और शान्ति प्राप्त करता है। काव्य द्वारा पड़नेवाले प्रभाव का सम्यक् विश्लेषण अत्यन्त कठिन है और आनन्दवादी आलोचकों का यह मत अतीव सार्थक है कि संवेदनशील पाठक द्वारा केवल उसकी परख हो सकती है। अतएव काव्य में निबद्ध प्रेरणा स्वतः विज्ञापित होकर काव्य-प्रेमियों को रसास्वादन के लिए आहूत करती है।

तब भी प्रेरणाजन्य काव्य के कुछ ऐसे लक्षण हैं, जिन्हें हम इंगित कर सकते हैं। उसमें अनुपम शक्ति और गति होती है। फ्यूरर पोएटिक्स, अर्थात् तीव्र भावोन्मेष से जो शक्ति संचरित होती है वह अबाध गति से काव्य में प्रवाहित होती है। लघु रचनाओं में तो इसके प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं, किन्तु विस्तृत रचनाओं में भी इसका अनुभव होता है। बिना इस शक्ति और गति के कविता निर्जीव और नीरस मालूम पड़ती है। इसी के स्पर्श से पाठक का भावोत्कर्ष होता है और वह प्रेरणा की प्रक्रिया में भाग लेता है। उसे इस बात का अनुभव होने लगता है कि जिस काव्य का वह अवलोकन कर रहा है, उसकी सृष्टि कवि की असाधारण शक्तियों के विशिष्ट संयोग से हुई है। हरएक आदमी कवि नहीं हो सकता

तथा कवियों की अप्रेरित अवस्था भी होती है, जब वे उत्कृष्ट काव्य-रचना नहीं कर सकते। इससे प्रच्छन्न शक्तियों के स्फुरण की अनिवार्यता सिद्ध होती है। प्रतिभा जब इस प्रकार प्रबुद्ध और सन्नद्ध हो जाती है, तभी भाव और विचार मुखर हो उठते हैं। योग्य पाठक अपनी जिज्ञासा और रागात्मिका शक्ति के बल से प्रेरणा तथा उसके वरदान को परखता और ग्रहण करता है। काव्य का शिल्प-विधान कतिपय स्वीकृत नियमों तथा कवि की निजी आलोचनात्मक चेष्टा पर निर्भर रहता है। अतः यदि हम प्रेरणा के उन्मुक्त स्वरूप को पूर्णतः मान लेते हैं, तो हमारे सामने एक उलझन उठ खड़ी होती है। तब प्रश्न यह उठता है कि विषय और अभिव्यक्ति-शैली का सामंजस्य कैसे उपस्थित होता है। इस शंका का यह समाधान है कि प्रेरणा की व्याप्ति केवल विषय तक ही सीमित नहीं, अपितु वह रूपविधान में भी प्रविष्ट होकर अपना कार्य करती है। उदाहरणार्थ, तुलसीदास ने महाकाव्यों और चरितकाव्यों के परम्परागत ढाँचे में नवीन प्राण तथा अभिनव शक्ति भर दी है। फलतः रामचरितमानस का काव्यग्रन्थों में मूर्धन्य स्थान है। महाकवि ने केवल विषय का ही प्रतिपादन नहीं किया है, वरन् शैली और अभिव्यंजना को भी अनुप्राणित किया है। यह प्रेरणा की ही शक्ति से सम्भव होता है। शिल्प-विधान चाहे परम्परागत हो अथवा प्रयोगशील, प्रेरणा के सम्पर्क से ही उसमें चारुता का समावेश होता है। सफल कवि प्रेरणा के क्षणों में विषय और रूप की प्रतीति एक-दूसरे से पृथक् नहीं करता तथा दोनों एक-दूसरे से मिलकर प्रकट होते हैं। इस दृष्टि से टेकनिक, काव्य का कोई आरोपित गुण नहीं है, वह प्रेरणा का ही प्रतिफलन है।

ऊपर जो विवेचना हम कर आये हैं, उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रेरणा के स्वरूप को हम तर्क तथा अनुसन्धान द्वारा पूर्णरूपेण समझ सकते हैं। वह चमत्कार, जो सदा से उसका धर्म माना गया है, अब भी बना हुआ है और भविष्य में बना रहेगा। प्रो० बावरा के निम्नलिखित वाक्य अत्यन्त सारगर्भित हैं :

"The most powerful and most authentic poetry is a richer source of life than any other form of words. If creates in us the kind of exaltation which the poet himself has known in his hours of vision and enraptured creation. We cannot explain how this happens. It is part of the mystery of words. They are a means of communication, and they communicate a great deal more than ideas. At their best they communicate something so powerful that it makes us live more abundantly. This is much more than a matter of richness of content or intensity of emotion or even clarity of vision. All these may contribute to it, and all these we may recognise in it, but the central, final, and inescapable fact is that inspired words create life in us because they are themselves alive. Just because they are fixed and settled, their vitality is enhanced and enables

us to find in them stores of abounding strength secured from the destructive hand of time."

अर्थात् सर्वाधिक सबल और आधिकारिक कविता शब्दों के किसी अन्य रूप की अपेक्षा जीवन का कहीं अधिक समृद्ध स्रोत है। वह हमारे मन में उसी उन्मेष की सृष्टि करती है, जिसका अनुभव कवि ने कृतित्व के आह्लादपूर्ण क्षणों में किया था। हम इस सम्पूर्ण प्रक्रिया की व्याख्या नहीं कर सकते। यह शब्दों के रहस्य का एक अंग है। शब्द प्रेषण के माध्यम होते हैं तथा विचारों से कहीं अधिक तत्त्वों को प्रेषित करते हैं। अपनी उत्कृष्टावस्था में वे इतने सजीव और सशक्त तत्त्वों को प्रेषित करते हैं कि हमारा जीवन कहीं अधिक समृद्ध बन जाता है। यह दशा विषय, वैभव, भावतीव्रता अथवा कल्पना की स्पष्टता से कहीं अधिक मूल्यवान् होती है। ये सभी उपकरण उसके सहयोगी तथा उसके अन्तर्गत द्रष्टव्य हो सकते हैं। किन्तु, निश्चित और केन्द्रीय तथ्य यह है कि प्रेरणायुक्त शब्द हमें जीवन प्रदान करते हैं; क्योंकि वे स्वयं जीवन्त होते हैं। स्थिर और निबद्ध होने के कारण उनकी जीवनी-शक्ति परिवर्द्धित हो जाती है, अतः हम उनसे ऐसी अक्षय शक्ति प्राप्त करते हैं, जो समय के आघात से विनष्ट नहीं होती।

## द्वितीय अध्याय

# अनुकरण-सिद्धान्त

यूरोपीय सौन्दर्य-दर्शन और साहित्यशास्त्र में माइमेसिस, इमिटेशन, अर्थात् अनुकरण की चर्चा अनेक प्रकार से बराबर होती रही है। इस पारिभाषिक शब्द के अनेक स्वीकृत अर्थ हैं, जो आपस में आंशिक रूप में पार्थक्य रखते हैं। अनुकरण का सबसे सामान्य अर्थ यह है कि अभ्यास के लिए तथा अपनी लेखन-शैली को परिष्कृत और सुन्दर बनाने के लिए लेखकों और कवियों को उपलब्ध उत्कृष्ट रचनाओं का अध्ययन एवं अनुसरण करना चाहिए। उच्च कोटि के नमूनों को सामने रखकर निरन्तर प्रयास करने से लेखकों और कवियों को लाभान्वित होने की असीम सम्भावना रहती है, इसमें सन्देह नहीं। इस तथ्य को अनेक आचार्यों ने दुहराया है। सिसरो ने शैली के गुणों का निर्धारण करने के उपरान्त महत्त्वाकांक्षी लेखकों और प्रवक्ताओं को प्राचीन क्लासिकी मार्ग पर अनुगमन करने का आदेश दिया है। होरेस ने तो यहाँ तक कह दिया है कि नवीन लेखकों को उच्च कोटि की प्राचीन कृतियों का दिन में अध्ययन तथा रात्रि में उनपर चिन्तन करना चाहिए। लांजिनस ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जिन लेखकों को उच्च भावनाओं की नैसर्गिक उपलब्धि नहीं होती, वे भी महान् लेखकों की रचनाओं के सहानुभूतिपूर्ण निरीक्षण से उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। अनुकरण के सम्बन्ध में अनेक परवर्त्ती विचारकों ने इसी से मिलता-जुलता मत प्रकट किया है। अधिकांश विद्वानों ने अनुकरण तथा कोरी नकल में विभेद करते हुए यह संकेत किया है कि अनुकृति के लिए पूर्ववर्त्ती आदर्शों से प्रेरणा प्राप्त करना तथा उनके सामान्य गुणों का ग्रहण करना ही यथेष्ट होता है। कोरी नकल तथा साहित्यिक चोरी तक के समर्थक हुए हैं, किन्तु हम उन्हें अपवाद-मात्र मान सकते हैं। नवजागरण के युग में यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि कवि को प्राचीन कृतियों का अनुकरण करना चाहिए अथवा प्रकृति का। दो-तीन सौ वर्षों तक यह विवाद चलता रहा। फ्रांस और इंगलैंड में नवक्लासिकी मत के कतिपय समर्थकों ने प्राचीन साहित्य को प्रकृति की अपेक्षा अधिक अनुकरणीय माना। अन्य लोगों ने यह माना कि होमर और नेचर में कोई भेद नहीं है, अतः होमर का अनुकरण करना नेचर का ही अनुकरण करना है। अभिप्राय यह था कि नैसर्गिक प्रभावों को प्राचीन महाकवियों की कृतियों से ग्रहण करना सम्भव है। आगे चलकर स्वच्छन्दतावादी विचारकों ने प्रकृति को ही प्राथमिकता प्रदान की और कॉलरिज ने कृत्रिमता-रहित विशुद्ध प्राकृतिक उपादानों को ही कलात्मक सर्जन का आधार माना।

'इमिटेशन' शब्द का यह सामान्य अर्थ है। इसके अतिरिक्त प्लेटो, अरस्तू और उनके द्वारा प्रेरित अन्य विचारकों ने उक्त शब्द की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की है, जिसका कला-दर्शन में विशेष महत्त्व है। प्लेटो के बहुत पूर्व अनुकरण के स्वरूप का सूत्रपात हो चुका था। होमर के महाकाव्य में वर्णित एचिलीज की सुनहली तथा समतल धरातलवाली

ढाल पर ऐसा चित्र अंकित था, जिससे हल द्वारा जोते हुए खेत का भान होता था। तदुपरान्त 'माइमेसिस' शब्द का प्रयोग दर्शन और कलात्मक विवेचन के क्षेत्र में होता रहा, किन्तु उसकी विस्तृत व्याख्या सर्वप्रथम प्लेटो ने ही अपने 'रिपब्लिक' नामक संवाद में प्रस्तुत की। यह स्मरणीय है कि यद्यपि प्लेटो की काव्यात्मक प्रतिभा अत्यन्त उच्चकोटि की थी, तथापि अपनी विचार-सरणि में उन्होंने निरन्तर काव्य की अपेक्षा दर्शन को ही उत्कृष्ट सिद्ध किया। ईसा-पूर्व छठी शताब्दी के यूनानी दार्शनिकों के समय से एक प्रकार से दर्शन और काव्य में प्रतिद्वन्द्विता चली आ रही थी। यही प्लेटो के विचारों में प्रकट हुई है। प्लेटो ने अपने गुरु सुकरात से नैतिकता का आग्रह ग्रहण किया था, अतः उसने काव्य की परीक्षा नैतिक मानदण्ड पर ही की। अपने राज्य एथेन्स के समकालीन अधःपतन को वह अंशतः काव्य के विकृत स्वरूप से उद्भूत मानता था। इन्हीं कारणों से उसने कविता को सुन्दर और मनोमोहक मानते हुए भी नागरिकों के लिए अग्राह्य माना और अपने आदर्श प्रजातन्त्र से उसने कवि को सम्मानपूर्वक निष्कासित करने की सलाह दी। प्लेटो का अनुकरण-सिद्धान्त इसी नैतिक दृष्टि, कविता के प्रति इसी उपेक्षा की भावना से रंजित है। महादार्शनिक प्लेटो ने अनुकरण-सिद्धान्त का प्रतिपादन कविता को हेय तथा हानिकर सिद्ध करने के अभिप्राय से किया है। अतः उसकी सार्थकता सीमित हो गई है। उसके शिष्य अरस्तू ने उसकी अनुकरण-सम्बन्धी प्रतिस्थापना में जो त्रुटि थी, उसे ठीक करने का प्रयास किया। उसके सम्बन्ध में हम आगे लिखेंगे। यहाँ हम प्लेटो के 'रिपब्लिक' नामक संवाद से यह अंश उद्धृत कर रहे हैं, जिसमें अनुकरण का विवेचन किया गया है। सुकरात और ग्लाकन आपस में बातचीत करते हैं :

"अच्छा, क्या हमलोग अपने ढंग से इस प्रश्न की परीक्षा करेंगे? जब एक ही नाम के अनेक व्यक्ति होते हैं, तब हम मान लेते हैं कि उनका एक आइडिया, फार्म, अर्थात् आदर्शरूप है—क्या तुम समझते हो?"

"जी हाँ।"

"हमलोग एक सामान्य उदाहरण लें, संसार में बहुत-सी मेजें और चारपाइयाँ हैं—बहुत-सी हैं न?"

"हाँ।"

"किन्तु उनके केवल दो आदर्श रूप हैं—एक चारपाई का आदर्श रूप और दूसरा मेज का।"

"ठीक है।"

"और उनका बनानेवाला हमारे लिए मेज अथवा कुरसी उसी आदर्श रूप के अनुसार बनाता है। इस विषय में तथा अन्य विषयों में हमारे कहने की यही रीति है—कोई भी कारीगर आदर्श रूप का निर्माण नहीं करता : वह कर भी कैसे सकता है?"

"यह असम्भव है।"

"और एक अन्य कलाकार है - हम जानना चाहते हैं, तुम उसके बारे में क्या कहते हो?"

"वह कौन है ?"

"वह, जो अन्य सभी व्यक्तियों की रचनाओं का निर्माता है।"

"कितना असाधारण व्यक्ति है वह ?"

"जरा रुको, तुम्हारे ऐसा कहने के लिए और भी अधिक कारण होगा ! क्योंकि वह वही है, जो केवल विभिन्न प्रकार के पात्रों को ही नहीं बनाता, वरन् पौधों और जीव-जन्तुओं, अपनी तथा अन्य सभी पदार्थों की रचना करता है—पृथ्वी और आकाश, और सभी पदार्थ, जो खगोल में और धरातल के नीचे हैं ; वह देवताओं की सृष्टि भी करता है।"

"वह बड़ा मायावी होगा, निस्सन्देह।"

"अरे ! तुम अविश्वासी हो, हो न ? क्या तुम यह मानते हो कि कोई ऐसा निर्माता अथवा कर्त्ता नहीं है, अथवा यह मानते हो कि एक अर्थ में उनका कर्त्ता हो सकता है और दूसरे अर्थ में नहीं ? तुम यह बात तो समझते हो कि एक प्रकार से तुम स्वयं उन सबका निर्माण कर सकते थे ?"

"किस तरह ?"

"बहुत सरलतापूर्वक अथवा ऐसा कहिए कि बहुत-से ढंग हैं, जिनके द्वारा यह चमत्कारपूर्ण कार्य सरलतापूर्वक एवं शीघ्रता से सम्पन्न हो सकता है। सर्वाधिक द्रुतगति से निर्माण-कार्य एक दर्पण को चारों ओर घुमाकर होता है—तुम तत्काल निर्माण कर सकते हो सूर्य और आकाश का, पृथ्वी का और स्वयं का, तथा जीव-जन्तुओं और पौधों और उन सभी अन्य पदार्थों का, जिनकी चर्चा हम अभी कर चुके हैं उसी दर्पण में ?"

"उसने कहा, हाँ, किन्तु वे सभी छाया और आभास-मात्र होंगे।"

"मैंने कहा ठीक है, अब तुम रास्ते पर आ रहे हो। और, मैं समझता हूँ कि चित्रकार भी ऐसा ही निर्माता है, केवल छाया का रचयिता। है न वह ?"

"वास्तव में।"

"तब तो तुम कहोगे कि वह जो बनाता है, असत्य है। किन्तु तब भी एक अर्थ में चित्रकार भी चारपाई को बनाता है ?"

"उसने कहा, हाँ, किन्तु वास्तविक चारपाई नहीं।"

"और, चारपाई के बनानेवाले के सम्बन्ध में क्या होगा ? क्या उसके बारे में भी आप नहीं कह रहे थे कि वह आदर्श रूप का निर्माता नहीं है। वह आदर्श रूप, जो हम लोगों के मत से चारपाई का सारतत्त्व है, वरन् एक चारपाई-विशेष का ?"

"हाँ, मैंने ऐसा कहा था।"

"तब यदि वह उसे नहीं बनाता, जो वास्तव में विद्यमान है, तब वह यथार्थ सत्ता की सृष्टि नहीं कर सकता, अपितु अस्तित्व का केवल आभास-मात्र उत्पन्न करता है, और यदि कोई यह कहे कि चारपाई बनानेवाले अथवा किसी कारीगर की रचना यथार्थ सत्ता रखती है, तब हम यह नहीं कह सकते कि वह सत्य बोल रहा है।"

"उसने उत्तर दिया—कम-से-कम दार्शनिक लोग यह नहीं कहेंगे कि वह सच बोल रहा है।"

"तब इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उसका कार्य भी सत्य का एक अस्पष्ट प्रकाशन-मात्र है।"

"इसमें तनिक भी आश्चर्य नहीं।"

"मान लो कि अब उपर्युक्त उदाहरणों के आलोक में हम इस बात का पता लगाते हैं कि यह अनुकरणकर्त्ता कौन है ?"

"हाँ, यदि आपकी इच्छा हो।"

"अच्छा, तब तीन प्रकार की चारपाइयाँ हैं। एक आदर्शरूप है जिसके कर्त्ता स्वयं ईश्वर हैं, हमलोग ऐसा कह सकते हैं; क्योंकि उसका निर्माता कोई अन्य नहीं हो सकता !"

"नहीं।"

"एक दूसरी चारपाई होती है न, जिसका बनानेवाला बढ़ई होता है ?"

"हाँ।"

"इस प्रकार, चारपाइयाँ तीन प्रकार की होती हैं और तीन विभिन्न कलाकार होते हैं, जो उनके निर्माण की व्यवस्था करते हैं : ईश्वर, चारपाई बनानेवाला बढ़ई तथा चित्रकार ?"

"हाँ, तीनों होते हैं।"

"ईश्वर ने अपनी इच्छा से अथवा आवश्यकतावश निसर्ग में एक और केवल एक ही चारपाई का निर्माण किया, चारपाई के दो या अधिक आदर्शरूप न तो ईश्वर ने बनाया है और न कभी बनायेगा।"

"ऐसा क्यों है ?"

"क्योंकि यदि उसने दो चारपाइयाँ भी बनाई होतीं, तो अनिवार्यरूपेण उनके पीछे एक तीसरी चारपाई प्रकट होती, जो दोनों के लिए आदर्श कलारूप का काम करती और वही तीसरी आदर्श चारपाई होती, प्रथम दोनों नहीं।"

"बिलकुल सत्य है", उसने कहा।

"ईश्वर को यह ज्ञात था और वह वास्तविक चारपाई का वास्तविक निर्माता बनने का इच्छुक था, न कि एक विशिष्ट चारपाई का विशिष्ट निर्माता। अतः उसने एक ऐसी चारपाई बनाई, जो स्वभाव से एवं साररूपेण केवल एक है।"

"हमलोग ऐसा विश्वास करते हैं।"

"तो क्या हमलोग उसे चारपाई का नैसर्गिक कर्त्ता अथवा निर्माता कहेंगे ?"

"हाँ", उसने उत्तर दिया; 'क्योंकि सृष्टि की प्राकृतिक प्रक्रिया से वह इसका तथा अन्य सभी पदार्थों का रचयिता है।"

"और, बढ़ई के बारे में हम क्या कहेंगे—क्या वह भी चारपाई का बनानेवाला नहीं है ?"

"हाँ।"

"तो क्या तुम चित्रकार को स्रष्टा एवं निर्माता कहोगे ?"

"कदापि नहीं।"

"किन्तु यदि वह निर्माता नहीं है, तो उसका और चारपाई का क्या सम्बन्ध है ?"

"मैं समझता हूँ", उसने कहा कि "हमलोग उसे उस पदार्थ का अनुकर्त्ता कह सकते हैं, जिसका निर्माण दूसरे करते हैं।"

"ठीक है", मैंने कहा "तो जो प्रकृति से नीचे तीसरी श्रेणी में है, उसे तुम अनुकरण करनेवाला कहते हो ?"

"निश्चय ही", उसने कहा।

"और दुःखान्त नाटकों का रचयिता कवि भी अनुकरण करनेवाला है, अतः सभी अन्य अनुकरण करनेवालों के सदृश हैं। वह सत्य से तिगुना दूर है।"

"ऐसा ही प्रतीत होता है।"

"तब अनुकर्त्ता के बारे में हमलोग सहमत हैं.....तब क्या तुम समझते हो कि यदि मौलिक पदार्थ एवं उसकी प्रतिच्छाया दोनों के बनाने में वह समर्थ हो, तो वह सचमुच अपने को प्रतिच्छाया-निर्माण में संलग्न करेगा ? क्या वह अनुकरण को अपने जीवन का प्रेरक सिद्धान्त बनायेगा, मानों उसके लिए कोई उच्चतर कार्य करने के लिए ही न हो ?"

× × ×

"तब क्या हम इस निष्कर्ष तक नहीं पहुँचते हैं कि होमर से अबतक के सभी कवित्वपूर्ण व्यक्ति अनुकर्त्ता-मात्र होते हैं। वे नैतिक गुणों आदि की नकल प्रस्तुत करते हैं, किन्तु सत्य तक कभी नहीं पहुँचते ?"

"यह भी तथ्य है कि अनुकर्त्ता अथवा बिम्ब-विधायक वास्तविक अस्तित्व के बारे में कुछ नहीं जानता, वह केवल आभास-मात्र से परिचित होता है।"

× × ×

"सभी पदार्थों से सम्बद्ध तीन विभिन्न प्रकार की कलाएँ होती हैं। पहले का सम्बन्ध व्यवहार से, दूसरे का निर्माण से, और तीसरे का अनुकरण से होता है ?"

"ऐसा ही है।"

"यहाँ तक हमलोग एकमत हैं कि अनुकर्त्ता को अनुकार्य वस्तु का बिलकुल ज्ञान नहीं होता। अनुकरण केवल एक खिलवाड़ है, और दुःखान्त काव्य-प्रणेता, चाहे वे आयम्बिक में लिखें अथवा हीरोइक छन्द में, मुख्यतः अनुकर्त्ता हैं।"

प्लेटो ने अपने 'रिपब्लिक' नामक संवाद में यह सिद्ध करने का भरसक प्रयत्न किया है कि कविता अनुकरण मात्र है। अतः वह उच्च उद्देश्यों और आदर्शों से रहित है। उन्होंने कविता को न केवल दैवी ज्ञान और नैसर्गिक पदार्थों की अपेक्षा, वरन् सामान्य कारीगरी की उपयोगी वस्तुओं से भी हेय और तुच्छ प्रमाणित किया है। प्लेटो की विस्तृत व्याख्या के पढ़ने पर यह स्पष्ट दिखाई देता है कि उनका उद्देश्य तथ्य तक पहुँचने का नहीं, वरन् कविता को येन-केन-प्रकारेण गर्हित सिद्ध करने का था। ऐसा प्लेटो ने क्यों किया, इसके बारे में हम ऊपर संकेत कर आये हैं। उनका दृष्टिकोण नैतिकतावादी था, वे 'रिपब्लिक' मुख्यतः शिक्षा

और राजनीति के सम्बन्ध में लिख रहे थे और परम्परागत विश्वासों के कारण उनके मन में पूर्वाग्रह बने हुए थे। यही कारण है कि अनुकरण का वह रूप, जिसका विवेचन उनके परवर्त्ती विचारकों ने किया है, उनके लेखों में प्रकट न हो पाया। प्लेटो ने इस प्रत्यक्ष सत्य को भुला दिया कि अनुकरण द्वारा कवि साधारण तथ्यों को सार्वभौम और सार्थक रूप देकर उनका उन्नयन करता है। अतः काव्य-कृतियाँ सामान्य पदार्थों से अधिक मूल्यवान् होती हैं।

अरस्तू ने अपने आचार्य प्लेटो के अनुकरण-सम्बन्धी विचारों का अन्धानुरण न करके उनको एक नवीन एवं अपेक्षाकृत गम्भीर अर्थ से समन्वित कर दिया। जैसा हम अभी कह आये हैं, प्लेटो के मन में प्रबल नैतिक और राजनीतिक पूर्वाग्रह विद्यमान थे और उन्होंने कविता-सम्बन्धी अपनी बद्धमूल धारणा को तर्क द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया। इसके विपरीत अरस्तू ने उपलब्ध साहित्य के निरीक्षण और अध्ययन के उपरान्त अपने निष्कर्ष साहित्य-प्रेमियों के सामने रखे। प्लेटो में पूर्व निश्चित धारणाओं को प्रमाणित किया गया है, किन्तु अरस्तू प्रमाणों के आधार पर अपनी धारणा तक पहुँचे हैं। इस भाँति उनकी प्रणाली आगमन और वैज्ञानिक विश्लेषण पर आधृत है। अरस्तू के काव्यशास्त्र में प्लेटो के संवादों की-सी लाक्षणिकता तथा काव्यमयता का आकर्षण नहीं है, किन्तु वह अपनी संयत सुस्पष्टता में अद्वितीय है। अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में कविता की निम्नलिखित परिभाषा दी है :

"Epic poetry and tragedy, comedy also and dithyrambic poetry and the music of the flute and of the lyre in most of their forms, are all in their general conception modes of imitation."

"एपिक कविता, ट्रेजेडी, कामेडी, डिथीरैम्बिक और अधिकतर फ्लूट और लायर का संगीत भी—ये सभी सर्वाधिक सामान्य दृष्टि से अनुकरण हैं, यद्यपि तीन बातों में उनमें परस्पर भेद होता है : अनुकरण के विभिन्न साधनों, विभिन्न आश्रयों तथा विभिन्न रीतियों में।"

इस परिभाषा को देने के बाद अरस्तू ने एक प्रचलित भ्रम का निराकरण किया है। उनके समय में कुछ लोगों की यह धारण थी कि छन्द ही कविता का भेदक तत्त्व है, अर्थात् छन्दोबद्ध रचना को ही कविता कहते हैं। अरस्तू ने इस प्रचलित विश्वास का खण्डन करके अपनी इस स्थापना को दुहराया है कि कविता हम उन सभी रचनाओं को कह सकते हैं, जिनमें अनुकरण की प्रक्रिया सम्पन्न होती है, चाहे वे गद्य में लिखी गई हों अथवा पद्य में। अभिप्राय यह है कि अनुकरण ही कविता का प्रमुख तत्त्व, अथवा प्रधान गुण है। तत्पश्चात् अनुकरण के स्वभाव और स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। यह ध्यान रखने की बात है कि काव्यशास्त्र में प्रायः सभी बातें सूत्ररूप में लिखी गई हैं और अर्थसंगति एवं प्रतिपादित सिद्धान्त के लिए हमें गम्भीरतापूर्वक सोचना पड़ता है। तीसरे अध्याय में कहा गया है कि अनुकरण का विषय होता है क्रियाशील मानव। 'क्रियाशील मानव' से यह स्पष्ट संकेत है कि मनुष्य की चर्चा यहाँ उसके उस सजीव रूप में की गई है, जिसमें वह कर्त्ता भी होता है और भोक्ता भी। क्रिया केवल बाह्य कर्त्तव्यों का ही नाम नहीं है, अपितु उसमें अन्त-र्वृत्तियों का भी समावेश अनिवार्य रूप से होता है। थोड़े-से शब्दों में अरस्तू ने कविता को

मानव-जीवन का ऐसा अनुकरण माना है, जिसमें उसका केवल बाह्य प्रत्यक्ष रूप ही नहीं, वरन् तल के नीचे छिपे हुए सूक्ष्म तत्त्व भी उभड़कर सामने आते हैं। यद्यपि अरस्तू प्लेटो की भाँति नैतिकतावादी न थे, किन्तु उनके मानववाद में नैतिकता के लिए उचित स्थान था। इसलिए उन्होंने कविता के अनुकार्य, क्रियाशील मनुष्य की नैतिकता के प्रश्न की चर्चा भी की है। नैतिक गुणों और दोषों के अनुसार ही मनुष्य बड़ा और छोटा होता है और इस भेद को अरस्तू के अनुकरण-सिद्धान्त के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। फलतः अनुकरण-सिद्धान्त की विस्तृत परिधि में मनुष्य की चेष्टाओं, भावनाओं, व्यवहार आदि का भी सन्निवेश हो जाता है और यह मानना कि उसका आधार केवल भौतिक तत्त्व तथा मानव-जीवन के प्रत्यक्ष व्यापारों में है, केवल भ्रममात्र होगा। अनुकरण केवल बाह्य क्रिया नहीं है और न वह जीवन की केवल यान्त्रिक प्रतिलिपि-मात्र है। कवि अनुकरण द्वारा नवीन रूप और नवीन अर्थ की सृष्टि करता है तथा जो प्रत्यक्ष है उसे परोक्ष से मिला देता है।

काव्यशास्त्र के नवम अध्याय में अरस्तू ने उस महत्त्वपूर्ण सम्भावना-सिद्धान्त का उल्लेख किया है, जिसकी सहायता से ही हम अनुकरण के वास्तविक स्वरूप को समझ सकते हैं। इतिहास और कविता में भेद बताते हुए इस मौलिक अन्तर की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है कि इतिहास का प्रयोजन जीवन के पृथक् एवं विशेष तथ्यों और अनुभवों से है, किन्तु कविता मानव-जीवन, उसके अंगों, तथ्यों, अनुभवों आदि को सार्वभौमिकता और नवीन सार्थकता प्रदान करके हमारे सम्मुख उन्हें उपस्थित करती है। यहाँ निम्नलिखित पंक्तियों का उद्धृत करना आवश्यक प्रतीत होता है :

"It is, moreover, evident from what has been said, that it is not the function of the poet to relate what has happened, but what may happen, what is possible according to the law of probability or necessity."

"यह जो कुछ कहा जा चुका है उससे यह भी प्रकट होता है कि कवि का अधिकार केवल यही नहीं है कि वह वास्तव में घटित होनेवाली घटनाओं का ही वर्णन करे, अपितु ऐसी घटनाओं का जिनके होने की सम्भावना थी—ऐसी जो सम्भव हैं, आवश्यक अथवा सम्भावित परिणाम के रूप में।"

"The poet and the historian differ not by writing in verse or in prose. The work of Herodotus might be put into verse, and it would still be a species of history, with metre no less than without it. The true difference is that one relates what has happened, the other what may happen. Poetry, therefore, is a more philosophical and a higher thing than history : for poetry tends to express the universal, history the particular. By the universal I mean how a person of a certain type will on occasion speak or act, according to the law of probability or necessity; and it is this universality at which poetry aims in the names she attaches to the personages."

"कवि और इतिहासकार में केवल गद्य और पद्य में लिखने से भेद नहीं होता। यदि हीरोडोटस की रचनाएँ पद्यबद्ध कर दी जायँ तो भी वे इतिहास ही रहेंगी, जैसे बिना छन्द के, वैसे ही छन्द में भी। वास्तविक अन्तर यह है कि एक सचमुच होनेवाली घटनाओं का वर्णन करता है और दूसरा, ऐसी घटनाओं का, जिनके होने की सम्भावना है। अतः काव्य इतिहास की अपेक्षा अधिक दार्शनिक और उच्चतर होता है; क्योंकि काव्य सामान्य और सार्वभौम की अभिव्यक्ति करता है और इतिहास विशेष की। सार्वजनिक अथवा सार्वभौम से हमारा हेतु यह है कि एक विशिष्ट कोटि का व्यक्ति किसी अवसर पर किस प्रकार का कथन अथवा आचरण प्रकट करेगा, आवश्यकता और सम्भावना के नियम के अनुसार। और, व्यक्तियों के नामकरण में भी यही सार्वभौमिकता का निर्दिष्ट उद्देश्य छिपा रहता है।" संक्षेप में अरस्तू का मत है कि इतिहास की घटनाओं की पुनरावृत्ति नहीं होती और वह देश और काल में बँधकर केवल अपने पृथक् और विशिष्ट रूप में हमारे सामने आती हैं। काव्य में निबद्ध तथ्य अपने सार्वभौम रूप में अभिव्यक्त होते हैं, अतः उनकी पुनरावृत्ति सम्भावित होती है। देश और काल से सीमित न होने के कारण वे सर्वत्र ग्राह्य होते हैं और सभी देशों में तथा अनन्तकाल तक वे अपना आकर्षण बनाये रखते हैं।

जीवन के तथ्यों और अनुभवों को कवि किस प्रकार नई व्याप्ति और अर्थ-गरिमा प्रदान करता है, यह दार्शनिक चिन्तन का विषय है। रूपवादी विचारकों का कहना है कि यथार्थ अनुभूतियों और पदार्थों को कवि रूप के साँचे में ढालकर उन्हें सौष्ठव ही नहीं प्रदान करता, अपितु उनमें एक ऐसे विशिष्ट गुण की सृष्टि करता है, जो सभी के लिए रोचक और सार्थक सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए, प्रभाव, ऐक्य, अन्विति, औचित्य आदि के रूपगत नियमों को सफलतापूर्वक प्रयुक्त करने से ही काव्यकृति सार्वभौमिकता प्राप्त कर लेती है। कुछ अन्य लोगों के विचार में निर्वैयक्तिकता के कारण ही कविता अपना सामान्य रूप प्राप्त करती है। कवि निर्लिप्त होकर निर्वैयक्तिक रूप में अनुभूतियों को प्रेषित करता है। इसीलिए उसकी रचना सबको आनन्द प्रदान करती है और सभी के लिए मर्मस्पर्शी सिद्ध होती है। कल्पना-सिद्धान्त के सहारे भी काव्य की सार्वभौमिकता समझी जा सकती है। कल्पना ही पदार्थों के अन्तराल में प्रविष्ट होकर उनको एक अत्यन्त नवीन और जीवन्त रूप देती है। कल्पना के ही स्पर्श से विशिष्ट सामान्य हो जाता है और जो नगण्य है, वह अत्यन्त मूल्यवान् बन जाता है। इस सम्बन्ध में और भी मत और सिद्धान्त हैं, जिनकी चर्चा यहाँ सम्भव नहीं। स्मरण रखने की बात यह है कि अरस्तू ने केवल अपने अनुकरण-सिद्धान्त में काव्य के जिस मौलिक गुण को सर्वप्रथम उद्घाटित किया, वह सर्वमान्य हो गया है और उसकी व्याख्या करने के लिए परवर्त्ती युगों में अनेक अन्य सिद्धान्तों का आश्रय लिया गया है।

अरस्तू ने अनुकरण के प्रमुख तीन तत्त्वों का विवेचन किया है। वे तत्त्व हैं : विषय, माध्यम और रीति। क्रियाशील मनुष्य ही अनुकरण का विषय है। मनुष्य नैतिक दृष्टि से सामान्य से उच्च, सामान्य से निम्न अथवा सामान्य कोटि का हो सकता है। ट्रेजेडी आदि काव्यरूपों में उच्च कोटि तथा लैम्पून आदि में निम्न कोटि के मानवों का निरूपण होता है।

आज के यथार्थवादी उपन्यासों में सामान्य जीवन के यथातथ्य निरूपण की चेष्टा होती है। काव्य का माध्यम शब्द, लय और संगीत के मिश्रण से तैयार होता है। अन्य ललित कलाओं में लय के साथ दूसरे उपकरणों का प्रयोग होता है। अनुकरण की तीन रीतियों अथवा शैलियों का उल्लेख किया गया है। अनुकरण की नाट्य-शैली में कवि तटस्थ होकर क्रिया और कथन की सम्पूर्ण जिम्मेवारी पात्रों पर ही छोड़ देता है। वर्णनात्मक काव्य, अर्थात् नैरेटिव 'पोएट्री' में कवि स्वयं कथा-वर्णन में संलग्न होता है। महाकाव्य में कवि स्वयं भी बोलता है और पात्रों के मुख से भी बातें कहलाता है। कविता की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अरस्तू ने लिखा है कि उसकी मूल प्रेरणा मानव-मन की दो प्रवृत्तियों से प्राप्त हुई—(१) अनुकरण-प्रियता तथा (२) संगीत-प्रियता। इन्हीं दोनों स्वाभाविक चेष्टाओं से उत्पन्न होकर कविता निरन्तर विकसित होती आई है और क्रमशः उसके विभिन्न रूप प्रकट हुए हैं। इस वैविध्य के होने पर भी काव्य का मूल रूप नहीं बदला है। अतः अरस्तू की परिभाषा आज भी संग्रहणीय और विचारणीय बनी हुई है।

यह शंका व्यक्त की गई है कि अरस्तू का अनुकरण-सिद्धान्त नाटक, महाकाव्य आदि के लिए ही विशेष उपादेयता रखता है; क्योंकि उन्होंने इन्हीं काव्यरूपों को ध्यान में रखकर अपनी प्रतिस्थापना प्रस्तुत की थी। काव्यशास्त्र में ट्रेजेडी, एपिक, कॉमेडी आदि के बारे में ही विशेष रूप से लिखा गया है और उसमें मुक्तक का नाम तक नहीं लिया गया है। यहाँ तक कि प्रथम अध्याय में जो काव्यरूपों की सूची दी गई है, उसमें भी मुक्तक का नाम नहीं मिलता है। डिथीरैम्बिक एवं फ्ल्यूट और लायर के संगीत की चर्चा है, किन्तु मुक्तक की नहीं। यह सचमुच आश्चर्य की बात है; क्योंकि अरस्तू के पूर्व अनेक मुक्तक-प्रणेता महाकवि हो चुके थे। इसलिए यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि अनुकरण-सिद्धान्त प्रतिपादित करते समय मुक्तक-काव्य अरस्तू की दृष्टि से ओझल था। उत्तर में हम कह सकते हैं कि प्रथम अध्याय की सूची सम्पूर्ण नहीं है, केवल उदाहरणार्थ थोड़े-से काव्यरूपों की परिगणना-मात्र हुई है। काव्य क्रियाशील मानव का अनुकरण है और क्रियाशील शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है, इसे हम ऊपर कह आये हैं। 'क्रियाशील' शब्द अत्यन्त व्यापक है और उसके अन्तर्गत वे सभी मानव-मन की अन्तर्वृत्तियाँ सन्निविष्ट हो जाती हैं, जिनकी अभिव्यक्ति मुक्तक में होती है। सामान्य अर्थ में अनुकृति और नाटक का सीधा सम्बन्ध है, किन्तु अपने गम्भीर अर्थ में अनुकरण काव्य के सभी रूपों को आत्मसात् कर लेता है। इस प्रकार, अनुकरण की व्याप्ति के बारे में सन्देह करना ठीक नहीं है।

१७वीं शताब्दी में अँगरेज आलोचक जान ड्राइडेन ने नाटक की निम्नलिखित परिभाषा प्रस्तुत की :

"नाटक मानव-स्वभाव का वास्तविक एवं मनोरंजक चित्र होता है और उसकी भावनाओं, चित्तवृत्तियों तथा उनको प्रभावित करनेवाले भाग्य-परिवर्त्तनों को निरूपित करता है, मानव-जाति के आनन्द और प्रशिक्षण के लिए।"

यह परिभाषा केवल नाटक के लिए ही नहीं, वरन् समस्त काव्य के लिए उपयुक्त है तथा संक्षेप में अनुकरण और काव्य के प्रयोजन पर प्रकाश डालती है। काव्य जीवन का

यथासम्भव यथार्थ चित्रण करता है और साथ ही उसमें रोचकता का प्रादुर्भाव भी होना अनिवार्य है। ड्राइडेन ने इस परिभाषा में यह स्पष्ट कर दिया है कि अभिव्यक्ति जीवन के धरातल पर मिलनेवाले केवल बाह्य तत्त्वों की नहीं होती, अपितु मुख्यतः आन्तरिक भावनाओं और मनोवृत्तियों की होती है। भाग्य-परिवर्त्तन के अवसर पर और उसके सन्दर्भ में ही मानव-मन के भीतर उठनेवाले विचारों और भावों का उचित उद्घाटन होता है। अतएव यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि अनुकरण का सम्बन्ध केवल स्थूल भौतिक तत्त्वों से नहीं, वरन् अमूर्त्त भावनाओं आदि से भी है। अनुकरण गम्भीर और गहन सत्य का प्रकाशन होता है, केवल पदार्थों का बिम्ब-ग्रहण नहीं होता। परिभाषा के अन्तिम भाग में साहित्य के उद्देश्य की चर्चा है। होरेस की भाँति ड्राइडेन आनन्द तथा शिक्षा दोनों को ही काव्य का ध्येय मानते हैं, अन्तर केवल इतना है कि ड्राइडेन पहले को और होरेस दूसरे को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व देते हैं।

अनुकरण-सिद्धान्त का प्रभाव अनेक शैलियों और निर्माण-पद्धतियों में व्याप्त है। यथार्थवाद तो उससे गम्भीरतापूर्वक प्रभावित दिखाई देता है। १९वीं शताब्दी के फ्रांसीसी और रूसी यथार्थवादियों ने जीवन के यथातथ्य निरूपण का प्रयत्न तो अवश्य किया, किन्तु वे काव्य के सूक्ष्म सार्वभौम तत्त्वों की पूर्ण अवहेलना न कर सके। जिन प्रकृतिवादियों ने काव्य को जीवन का लघु खण्डमात्र कह डाला तथा फोटोग्राफी के कैमरे द्वारा प्रवर्त्तित शिल्प-विधान को अपनाया, उनको भी अपनी कृतियों में कुछ-न-कुछ सामान्य तत्त्वों और विशेषताओं को स्थान देना पड़ा। अनुकरण-सिद्धान्त की छाप वर्त्तमान शताब्दी के साहित्यिक चिन्तन पर दिखाई देती है। उदाहरणार्थ, अमरीकी विद्वान् जे० सी रैनसम ने दरसाया है कि काव्य में दोनों मिलते हैं, भौतिक तत्त्व और अमूर्त्त विचार और दोनों के योग से ही कविता उत्पन्न होती तथा फलती-फूलती है। प्लेटो ने यह आरोप लगाया था कि कविता सत्य से त्रिगुण दूरस्थ है। अरस्तू ने अपने अनुकरण-सिद्धान्त में इस दूरी को बहुत घटाकर काव्य और सत्य में केवल थोड़ा-सा भेद माना है। आज के विचारक विज्ञान और कविता के अन्तर की व्याख्या करते हुए सत्य और कविता के बीच उसी थोड़े-से अन्तर को स्वीकार करते हैं, जिसकी कल्पना अरस्तू ने अपने अनुकरण-सिद्धान्त को प्रतिपादित करते समय की थी। इस प्रकार, अब प्रत्यक्ष रूप में भी अरस्तू का अनुकरण-सिद्धान्त आधुनिक साहित्यिक चिन्तन को प्रभावित कर रहा है।

अभिनवगुप्त ने भरत और शंकुक के अनुकरण-सम्बन्धी मतों का जो विवेचन किया है, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भरत और अरस्तू के विचारों में पर्याप्त साम्य है। इस प्रसंग में श्रीकुप्पूस्वामी शास्त्री की निम्नलिखित पंक्तियाँ विषय पर प्रकाश डालती हैं :

"The answer is simple. Abhinavagupta gives us that the imitation spoken of by Bharata and that spoken of by Sri Sankuka are poles asunder. Sri Sankuka speaks of and means the mechanical imitation of one person by another, Bharat on the other hand, speaks of imitation

not exactly in the sense of 'अनुकरण' but really in the sense of 'अनुव्यवसाय'. This is what, according to Abhinavagupta, Bharat means. The poet is steeped in the experience of the world. By the force of his wide observation and the faculty of imagination in him, he selects, regroups and rearranges human qualities and features and creates his own personages—'of various essences distilled.' He names one Rama and another Ravana simply in order that his readers might easily understand what he creates, because these are puranic figures and because the world already associates good qualities with some and wicked ones with others of these known figures. The actor, being likewise a man of wordly experiences, makes his imitation in the sense of idealisation. The critical spectator is in quite a simllar case. He knows how to distinguish the idealisation of characters by the creative artist from the imitation of persons by the mechanical mimic. The difference between Bharata's discussion of imitation and Sri Sankuka's is beautifully stressed by Abhinavagupta in the following statements :

**तदिदमनुकीर्त्तनमनुव्यवसायविशेषो नाट्यापरपर्यायो नानुकार इति भ्रमितव्यम् ।**

(A. B., p. 37)

जिस प्रकार अनुकरण-सिद्धान्त तथा सम्भावना-सिद्धान्त का अभेद्य सम्बन्ध है, उसी प्रकार रस और साधारणीकरण भी एक-दूसरे पर निर्भर हैं। रस के स्वभाव तथा सहृदय द्वारा उसके आस्वाद के रहस्य को समझाने के लिए ही भट्टनायक, अभिनवगुप्त तथा अनेक अन्य आचार्यों ने साधारणीकरण अथवा सामान्यीकरण का आश्रय लिया है। यह द्रष्टव्य है कि दशरूपक के निम्नलिखित वाक्यों मे प्रायः वही बात कही गई है, जो अरस्तू ने अपने सम्भावना-सिद्धान्त-निरूपण में कही है :

**न हि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थां इतिहास वदुपनिबध्नन्ति। किं तर्हि, सर्वलोकसाधारणीः स्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधी धीरोदात्ताद्यवस्थाः क्वचिदाश्रयमात्रदायिनीः विदधति ।**

**ता एव च परित्यक्तविशेषां रसहेतवः ।**

**तस्मादनुव्यवसायात्मकं कीर्त्तनं रूपितविकल्पसंवेदनं नाट्यम्,**

**तद्भेदनवेद्यत्वात्, न त्वनुकरणरूपम् ।**

**कान्तवेषानुकारवद्धि न रामचेष्टितस्यानुकारः ।**

—अर्थात् कवि योगियों के समान ध्यानचक्षु से देखकर रामादि की विशिष्ट अवस्थाओं का इतिहास के समान उपनिबन्धन नहीं करते, तो क्या सर्वलोकसाधारण तथा आश्रयमात्र में रहनेवाली धीरोदात्तादि अवस्थाओं को अपनी उत्प्रेक्षा से प्राप्त कर उन्हें धारण करते हैं और वे अपने विशेष श्रेयत्व को छोड़कर रस का कारण बन जाती हैं।

साधारणीकरण की अत्यन्त सरल व्याख्या आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रस्तुत की है। हम उसके कुछ अंश उद्धृत कर रहे हैं :

"कल्पना में मूर्त्ति तो विशेष ही की होगी, पर वह मूर्त्ति ऐसी होगी, जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में जगाये, जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है, जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। तात्पर्य यह कि आलम्ब-रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाव-वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है। विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं, इसका तात्पर्य यही है कि रस-मग्न पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोकसामान्य हृदय हो जाता है। उसका अपना अलग हृदय नहीं रहता।"

आचार्य भट्टनायक के पूर्व भरत के रस-सूत्र की व्याख्या आरोप और अनुमान के आधार पर हुई, किन्तु उक्त आचार्य ने सर्वप्रथम साधारणीकरण की प्रक्रिया का उल्लेख किया। उन्होंने रस-निष्पत्ति के लिए काव्य के तीन व्यापार माने—अभिधा, भावुकत्व तथा भोजकत्व। अभिधा से पदार्थों का असाधारण रूप से ज्ञान होता है, अर्थात् व्यक्ति और पदार्थ अपने सविशेष रूप में प्रकट होते हैं। राम दशरथसुत एवं अयोध्या-नरेश के ही रूप में ग्रहण किये जाते हैं। आचार्य भट्टनायक के मतानुसार इसके उपरान्त लय, छन्द, काव्यात्मक अलंकरण, अभिनय इत्यादि के प्रभाव से तथा मन में जागरित होनेवाले सत्त्व के योग से उन्हीं पदार्थों के निर्वैक्तिक और अविशेष रूप की प्रतीति होने लगती है। फलतः जो विशिष्ट था, वह सामान्य हो जाता है, अर्थात् पदार्थों का एकनिष्ठ रूप उनके सार्वभौम रूप में विलीन हो जाता है। यही उनका वह साधारणीकृत स्वरूप होता है, जिसका उपभोग प्रेक्षक अथवा पाठक भोजकत्व-व्यापार की सहायता से करता है। आचार्य भट्ट-नायक का समर्थन अनेक परवर्त्ती मतों और सिद्धान्तों द्वारा होता है। प्रेक्षागृह में सविशेष अविशेष कैसे हो जाता है, इसको हम नाट्यभ्रान्ति की कल्पना द्वारा भी समझ सकते हैं। रंगशाला में जब वाद्य और नृत्य के साथ अभिनय शुरू होता है और नट-नटी द्वारा विभिन्न प्रकार के अभिनय में भावनाओं का चढ़ाव-उतार व्यक्त होने लगता है, तब सारा वातावरण उत्साह और आनन्द से व्याप्त हो जाता है और दर्शकों में आनन्द की लहर दौड़ पड़ती है। वे इतने विभोर हो उठते हैं कि कुछ क्षणों के लिए आत्मभाव तिरोहित हो जाता है, विशिष्ट और सामान्य का भेद मिट जाता है और काव्य का अखण्ड रसास्वादन सम्भव हो जाता है। श्रव्य काव्य में यही क्रिया शब्दों के माधुर्य, लय और छन्द के संगीत, अलंकारों, प्रतीकों आदि के प्रयोग से सम्पन्न होती है। इन सभी का सम्मिलित प्रभाव पाठक के चेतन और अवचेतन में भर जाता है और इस प्रकार काव्य का साधारणीकृत रूप अवगत होने लगता है। काव्यशैली की उपादेयता के बारे में कभी-कभी शंका की जाती है, किन्तु यह निर्विवाद है कि उत्कृष्ट काव्य-शैली से साधारणीकरण में सहायता मिलती है।

इस बात को आचार्य अभिनवगुप्त ने भलीभाँति दरसाया है ; क्योंकि साधारणीकरण के लिए उन्होंने अभिधा की अपेक्षा व्यंजना को ही अधिक उपयोगी माना है। उन्होंने भी भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण को मान्यता प्रदान की है, किन्तु उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण स्थापना यह है कि स्थायी भाव वासनारूप में सहृदय के मन में ही विद्यमान रहता है और मुख्यतः उसी का साधारणीकरण होता है। विभाव, अनुभाव और संचारियों के योग से उसी प्रच्छन्न स्थायी भाव की अभिव्यक्ति होती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भाव की स्थिति संस्कार और अनुभव से संवलित होकर अन्तःकरण में ही रहती है और वहीं वह कतिपय अवस्थाओं में और कतिपय प्रभावों के संयोग से उद्‌बुद्ध होता है। आधुनिक दृष्टि से देखने पर यह विचारणीय हो जाता है कि वासना एवं वंश-परम्परा और सामूहिक अचेतन का क्या सम्बन्ध है। अनेक विद्वानों ने साधारणीकरण का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है, किन्तु इस बात की चर्चा हम आगे चलकर करेंगे। इसी भाँति नवीन आलोचकों ने काव्यपाठ के समय हमारी मनःस्थिति कैसी होती है और हम रसास्वादन कैसे करते हैं, इन समस्याओं पर भी अच्छा प्रकाश डाला है। किन्तु उनके सम्बन्ध में भी अगले अध्यायों में ही लिखा जायगा।

# तृतीय अध्याय

## रेचन-सिद्धान्त

प्रसिद्ध आधुनिक अमरीकी आलोचक जे० सी० रैनसम ने काव्य के दो पक्षों की विशेष चर्चा की है : 'द माइमेटिक ऐण्ड द केथारटिक', अर्थात् अनुकरण-पक्ष तथा रेचन-पक्ष। अनुकरण का सम्बन्ध काव्य-सर्जन से है। उसके द्वारा हम काव्य-रचना के रहस्य को समझते हैं तथा काव्य के सार्वदेशिक एवं सर्वयुगीन गुणों पर प्रकाश पड़ता है। रेचन-सिद्धान्त से हमें कविता के उद्देश्य एवं विशिष्ट प्रभाव के समझने में सहायता मिलती है। 'केथारसिस' शब्द सर्वप्रथम प्लेटो के लेखों में प्रयुक्त हुआ, किन्तु उसका विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण उपयोग अरस्तू ने मानव-जीवन और मानव-मन पर पड़नेवाले ट्रेजेडी के प्रभाव को उद्घाटित करने के लिए किया। तभी से यह पारिभाषिक शब्द निरन्तर व्यवहृत होता आया है। बहुत दिनों तक उसकी उपयोगिता ट्रेजेडी तक ही सीमित मानी जाती थी, किन्तु अब साहित्य-शास्त्र एवं मनोविज्ञान की नवीन उपलब्धियों के फलस्वरूप रेचन-सिद्धान्त अपने व्यापक रूप में अन्य काव्यरूपों से सम्बद्ध माना जाता है। रेचन-सम्बन्धी साहित्यिक मत का सूत्रपात अरस्तू के काव्यशास्त्र में ट्रेजेडी की परिभाषा के सन्दर्भ में हुआ। उक्त ग्रन्थ के छठे अध्याय में निम्नलिखित परिभाषा मिलती है :

"Tragedy is an imitation of an action that is serious, complete, and of a certain magnitude, in language embellished with each kind of artistic ornament, the several kinds being found in separate parts of the play ; in the form of action, not of narrative ; through pity and fear effecting the proper 'Katharsis', or purgation of these emotions."

"ट्रेजेडी ऐसी क्रिया का अनुकरण है, जो गम्भीर, पूर्ण एवं एक विशेष आकार की होती है, ऐसी भाषा में, जो विभिन्न साधनों द्वारा कलात्मक अलंकरण से विभूषित होती है, विभिन्न प्रकार के अलंकरण विभिन्न भागों में उपलब्ध होते हैं, क्रिया के रूप में, वर्णन के रूप में नहीं, करुणा और भय द्वारा उन भावनाओं के रेचन के निमित्त।"

इस परिभाषा के अन्तिम वाक्यांश में रेचन-सिद्धान्त बीजरूप में निबद्ध है। आचार्य ने कहीं भी इससे अधिक स्पष्ट कोई बात इस सम्बन्ध में नहीं कही है। हाँ, काव्यशास्त्र के तेरहवें और चौदहवें अध्याय में यह अवश्य बताया गया है कि भय और करुणा का उद्रेक मुख्यतः कथावस्तु और अंशतः चरित्र-चित्रण से होना चाहिए। जो उद्रेक केवल दृश्यविधान और प्रेक्षागृह के यान्त्रिक उपकरणों से होता है, वह ट्रेजेडी के सर्वथा अनुपयुक्त होता है। इन्हीं संक्षिप्त कथनों को लेकर १६वीं शताब्दी से आज तक रेचन-सिद्धान्त की व्याख्या अनेक रूपों में होती आई है। अरस्तू ने अपने राजनीतिशास्त्र-विषयक ग्रन्थ में लिखा है कि उग्र संगीत द्वारा मन के उद्वेग शान्त किये जाते हैं और जब

अल्पवयस्क शिशु बेचैन हो उठते हैं, तब उन्हें हिला-हिलाकर शान्त किया जाता है। केथारसिस की प्रक्रिया का संकेत-मात्र यहाँ मिलता है तथा अरस्तू ने इस विषय को काव्यशास्त्र में विस्तारपूर्वक उद्घाटित करने का वचन दिया है। किन्तु, जैसाकि हम कह चुके हैं, काव्य-शास्त्र में केथारसिस की विशद व्याख्या नहीं मिलती। कुछ लोगों का कहना है कि उक्त ग्रन्थ का केवल पूर्वार्द्ध ही उपलब्ध है और कदाचित् रेचन-सिद्धान्त की पूरी व्याख्या उत्तरार्द्ध में प्रस्तुत की गई थी। बात चाहे जो हो, आज परिस्थिति यह है कि अरस्तू के थोड़े-से शब्दों के आधार पर एक व्यापक कला-सिद्धान्त की नियोजना हुई है।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि प्लेटो के काव्य-सम्बन्धी आक्षेपों को ध्यान में रखकर ही अरस्तू ने ट्रेजेडी के विशिष्ट प्रभाव की व्याख्या की थी तथा अपना मत स्थिर करते समय उनका ध्यान केवल ट्रेजेडी पर ही केन्द्रित नहीं था, वरन् समस्त काव्य उनके मन में था। प्लेटो ने काव्य को नैतिक दृष्टि से घातक सिद्ध किया था। उनका सुविख्यात मत है कि काव्य से हमारी भावनाएँ उत्तेजित होती हैं, काव्य उन्हें खाद्य प्रदान करता एवं सींचता है। फलतः हम भावावेग के वशीभूत हो जाते हैं और उसपर आवश्यक और उचित नियन्त्रण नहीं कर पाते। काव्य से मन में भ्रम उत्पन्न होता है, हमारा दृष्टिकोण दूषित होता है तथा अनियन्त्रित मानसिक प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं और इस भाँति हमारे नैतिक अधःपतन के लिए भूमिका तैयार होती है। अनियन्त्रित एवं प्रबल भावनाओं के उद्दीप्त होने से कविता के प्रति जो आपत्ति प्लेटो ने प्रस्तुत की, अरस्तू ने अपने रेचन-सिद्धान्त में उसी का उत्तर दिया। इस भाँति हम देखते हैं कि जिस प्रकार अरस्तू ने अपने आचार्य के अनुकरण-सम्बन्धी विचारों से अपना मतभेद प्रकट किया, वैसे ही उन्होंने काव्य के उद्देश्य के बारे में भी अपना पृथक् मन्तव्य व्यक्त किया। उन्होंने इस बात का निर्देश किया है कि काव्य के अनुशीलन और प्रेक्षण से भावनाएँ, विशेषकर अवांछनीय और कष्ट-कर भावनाएँ उत्तेजित नहीं होतीं, अपितु उनका परिष्कार एवं शमन होता है और फलतः चित्त में शान्ति उत्पन्न होती है।

अरस्तू का प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यशास्त्र लेखक की मृत्यु के उपरान्त दीर्घकाल तक अनुपलब्ध था। मध्ययुग में वह विस्मृति के गर्त में विलीन बना रहा और नवजागरण के काल में ही उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ पुनः प्राप्त हुईं। तदुपरान्त उसका प्रचलन बढ़ने लगा और साहित्यशास्त्रियों ने ही नहीं, परन्तु कुछ समय के बाद धर्माचार्यों ने भी उसको उच्चतम मान्यता प्रदान की। काव्यशास्त्र के प्रचार और प्रसार के साथ ही यह समस्या आई कि करुणा और भय के उद्रेक तथा रेचन से अरस्तू का क्या अभिप्राय था। उस समय से व्याख्या और वादविवाद का जो क्रम प्रारम्भ हुआ, वह अबतक चला आया है। हम उसके बारे में यहाँ केवल संक्षेप में ही लिख सकते हैं। अरस्तू ने अपने रेटॉरिक, अर्थात् वाग्मिताशास्त्र में करुणा और भय का उल्लेख दुःखद भावनाओं के रूप में किया है। इन दुःखद भावनाओं के जागरित होने से किसका परिष्कार होता है तथा उक्त परिष्कार अथवा रेचन से ट्रेजेडी के विशिष्ट प्रभाव का क्या सम्बन्ध है, यही मूल प्रश्न है। ट्रेजेडी में दुःखद घटनाओं का निरूपण होता है तथा करुणा, भय आदि उग्र भावनाएँ उत्तेजित होती

हैं। यह सब अरोचक सामग्री किस प्रकार बदलकर रोचक और शान्तिदायिनी हो जाती है, यह प्रश्न युगों से गम्भीर चिन्तन और मनन का विषय बना हुआ है। यह जिज्ञासा बार-बार मन में उठती है कि दुःख से सुख की प्राप्ति कैसे होती है और हम दुःखान्त रचनाओं के प्रति क्यों आकृष्ट होते हैं? रेचन-सिद्धान्त इन्हीं शंकाओं के निराकरण में सहायक सिद्ध हुआ है।

अरस्तू ने अपनी ट्रेजेडी की प्रसिद्ध परिभाषा के अन्त में उसके उद्देश्य को बताते हुए कहा है: 'करुणा और भय द्वारा उन भावनाओं के रेचन के निमित्त।' अब प्रश्न यह उठता है कि रेचन किसका होता है, व्यक्ति का अथवा भावनाओं का। हम यह कह सकते हैं कि करुणा और भय की कष्टकर भावनाएँ अवांछनीय हैं, अथवा उनका अतिरेक अवांछनीय है और ट्रेजेडी द्वारा उनसे हमें मुक्ति मिलती है अथवा कम-से-कम उनका अतिरेक तो अवश्य ही मिटता है। इस दृष्टि से व्यक्ति का ही रेचन होता है, अतः उसके लिए ट्रेजेडी की विशेष उपादेयता है। दूसरा मत यह है कि भावनाओं का ही परिष्कार होता है। मूलतः वे विनष्ट अथवा विलुप्त नहीं होतीं, केवल उनका उदात्तीकरण होता है और वे अपने आपत्तिजनक रूप का परित्याग करती हैं। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि अधिकांश विद्वानों ने पहली व्याख्या को ही अपनाया है और कदाचित् उसी के आधार पर हम अरस्तू के मन्तव्य तक पहुँच सकते हैं।

प्रथम सम्प्रदाय के विचारकों की स्थापनाओं में भी पर्याप्त वैविध्य मिलता है। १६वीं शताब्दी के कई इटालियन और जर्मन विद्वानों ने रेचन की प्रक्रिया का एक विचित्र विवेचन सामने रखा। उन लोगों का वक्तव्य था कि ट्रेजेडी के निरन्तर पठन और प्रेक्षण से मानव-मन कठोर हो जाता है और वास्तविक जीवन में करुणा और भय से वह उद्वेलित और उद्विग्न नहीं होता। यह व्याख्या स्टोइक दर्शन के सन्दर्भ में प्रस्तुत की गई थी और विशेष महत्त्व नहीं रखती। अस्पतालों में रोगियों को देखते-देखते जैसे परिचर्या करनेवालों का मन दृढ़ हो जाता है अथवा श्मशान में रहनेवाले जिस प्रकार मृतकों के शव देखकर विगलित नहीं होते, क्या ट्रेजेडी देखनेवालों को वैसी ही दृढ़ता अथवा तटस्थता मिलती है? क्या इसी लाभ के लिए हम ट्रेजेडी पढ़ते तथा उत्सुकतापूर्वक उसके अभिनय को देखते हैं? क्या मन को कठोर बनाने का अभिप्राय प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हमारे ध्यान में रहता है? इस प्रकार, अपने अनुभव के आधार पर हम ट्रेजेडी के उपयुक्त उद्देश्य और रेचन की तत्सम्बन्धी व्याख्या को स्वीकार नहीं कर सकते।

इससे कुछ भिन्न मत वह है, जिसमें मन को कठोर बनाने की बात नहीं कही जाती, अपितु भावनाओं के विलय से मन में शान्ति और सन्तुलन उपस्थित होने की चर्चा की जाती है। ट्रेजेडी के प्रेक्षण से मन के तीव्र उद्वेग, करुणा, भय आदि मिट जाते हैं। फलतः चित्त में स्थिरता और शान्ति की स्थापना होती है। कुछ लोगों में करुणा और भय की अतिशयता होती है, जो मानसिक दुर्बलता और दुर्व्यवस्था को प्रमाणित करती है। उदाहरणार्थ, एक सीमा के भीतर करुणा श्रेयस्कर होती है, किन्तु उस हद के बाद वह दुर्बलता का ही परिचय देती है। प्रो० लूकस महोदय ने लिखा है कि यदि कोई कुत्ते के

मरने पर रो उठता है, तो ऐसी करुणा अवांछनीय है। भय के बारे में भी यही बात सही है। ट्रेजेडी देखने अथवा पढ़ने से इस प्रकार की भाव-बहुलता मिट जाती है और मन स्वस्थ, शान्त और सुदृढ़ हो जाता है। मिल्टन ने भावावेग के समाप्त हो जाने पर किस प्रकार चित्त शान्त हो जाता है, इस बात का उल्लेख किया है और गेटे ने भी भिन्न प्रकार से इसी बात की चर्चा की है। जब हम रेचन-प्रक्रिया पर इस पद्धति से विचार करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह व्याख्या चिकित्साशास्त्र पर आधृत है। जिस प्रकार औषधि द्वारा रेचन कराकर शरीर के विकार बाहर निकाल दिये जाते हैं वैसे ही ट्रेजेडी द्वारा करुणा, भय आदि दुःखद भावनाओं को मानव-मन से निकालने का उपक्रम होता है। इस चिकित्सामूलक व्याख्या के दो रूप हैं। इनकी चर्चा हम अभी कर आये हैं, उसे हम 'एलोपैथिक' कह सकते हैं। इससे कुछ विभिन्न मत १९वीं शताब्दी के विचारक जैकब बर्नीज का है, जिसकी तुलना होमियोपैथिक चिकित्सा-पद्धति से हो सकती है। जिस प्रकार होमियोपैथी में औषधियों द्वारा रोगों के अनुरूप लक्षण उत्पन्न करके उनके उग्र लक्षणों को नियन्त्रित किया जाता है, ठीक उसी प्रकार ट्रेजेडी भी अपना कार्य करती है। उसके पठन और प्रेक्षण से संयत रूप में करुणा और भय का जो संचार होता है, उससे व्यावहारिक जीवन में करुणा और भय के प्रचण्ड आवेगों को झेलने की शक्ति उत्पन्न होती है। इस होमियोपैथिक विवेचन की ही चर्चा सामान्यतः रेचन-सिद्धान्त के सम्बन्ध में आज की जाती है और फलतः वह पाठकों के लिए सुपरिचित है। मनोवैज्ञानिक खोजों से भी उसको समर्थन प्राप्त हुआ है। फ्रायड ने दमित भावनाओं और उनके प्रकाशन की आवश्यकता का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया है। उन्हीं की भाषा में कहा जा सकता है कि दमित करुणा और भय का उद्घाटन दुःखान्त नाटकों की सहायता से सरलतापूर्वक हो जाता है। तत्पश्चात् उनका मार्जन सरल बन जाता है। सर्जनात्मक साहित्य के क्षेत्र में बर्नीज, फ्रायड प्रभृति की स्थापनाओं को ध्यान में रखकर प्रभूत रचना-कार्य हुआ है। उदाहरण के लिए किशोर-साहित्य में साहसपूर्ण कार्यों को निरूपित करनेवाली कहानियों का विशेष महत्त्व है; क्योंकि ऐसा विश्वास किया जाता है कि उनके पढ़ने से किशोरावस्था में उत्पन्न होनेवाली दुस्साहस की प्रवृत्ति नियन्त्रित होती है। ऐसे ही रूप और सौन्दर्य-वर्णन से सम्बद्ध साहित्य भी किशोरावस्था में कामवासना के उफान को रोकता है।

केथारसिस के इस भैषज्यमूलक स्वरूप के विरुद्ध कई आपत्तियाँ उठती हैं। पहली कठिनाई यह है कि इस व्याख्या में विशेष बल नाटक के पढ़ते या देखते समय उठनेवाले भावों पर नहीं है, वरन् प्रेक्षण के उपरान्त मन में उत्पन्न होनेवाली शान्ति की ही चर्चा अधिक है। ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्य-अभिनय के तात्कालिक प्रभाव को भुलाकर कोई यह कह रहा है कि नाटक देखने के बाद रात्रि की शेष घड़ियों में नींद अच्छी आयगी। यदि कोई ट्रेजेडी का अध्ययन अथवा अवलोकन केवल इसी स्वास्थ्य-सम्बन्धी प्रयोजन से करता है, तो हम नहीं कह सकते कि उसके उद्देश्य और कला के उद्देश्यों में कोई तादात्म्य है। ट्रेजेडी न तो कोई मानसिक रोगों की औषधि है और न रंगशाला चिकित्सा-गृह ही है। यह अनुभव की बात है कि ट्रेजेडी का उपभोग लोग आनन्द के लिए करते हैं। उसका

सेवन औषधि-रूप में नहीं करते। यदि कोई कहे कि मैं ट्रेजेडी का अभिनय इसलिए देखने जा रहा हूँ कि मेरा मन अशान्त है और मैं उसे व्यवस्थित करना चाहता हूँ, तो यह हँसी की ही बात होगी। अतीतकाल से ट्रेजेडी अपने आनन्द प्रदान करने की क्षमता के कारण ही लोकप्रिय रही है। यह बतलाने के लिए कि उसके अन्तर्गत दुःख आनन्द में किस प्रकार परिवर्त्तित हो जाता है, किसी चिकित्सा-पद्धति का आश्रय लेना ठीक न होगा। हमें रहस्योद्घाटन के लिए कला के परिवेश के भीतर ही कारणों की खोज करनी पड़ेगी। जिस व्याख्या के बारे में हम लिख रहे हैं, उसमें भौतिकता पर बहुत अधिक आग्रह है तथा सौन्दर्यानुभूति एवं कलात्मकता आदि अनिवार्य तत्त्वों पर ध्यान केन्द्रित नहीं हुआ है। इस सम्बन्ध में एक विद्वान् ने ठीक कहा है कि हम ट्रेजेडी की अधिष्ठात्री म्यूज को वल्लभा के रूप में तो स्वीकार कर सकते हैं, किन्तु अध्यापिका के रूप में नहीं।

रेचन-सम्बन्धी अपेक्षाकृत आधुनिक मत यह है कि ट्रेजेडी द्वारा करुणा और भय की भावनाओं का ही परिष्कार होता है। अपने प्रकृत रूप में वे अत्यन्त उग्र एवं कष्टकर बनकर प्रकट होती हैं तथा उनके कारण मन उद्वेलित हो उठता है। ट्रेजेडी के पठन अथवा निरीक्षण के फलस्वरूप वे अपने अनुग्र एवं अनापत्तिजनक रूप को प्रकाशित करती हैं। ऐसा इसलिए सम्भव होता है कि वे भावनाएँ निर्वैयक्तिक तथा सार्वभौम बनकर सामने आती हैं। इस दृष्टि से अनुकरण, साधारणीकरण और रेचन का घनिष्ठ सम्बन्ध सहज ही देखा जा सकता है। इसी प्रकार, कल्पना-सिद्धान्त और रेचन-सिद्धान्त का पारस्परिक सहयोग भी सिद्ध होता है। फ्रायड और युंग ने भी नवीन मनोविज्ञान की खोजों के आधार पर केथारसिस की व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। किन्तु, यह मानना पड़ेगा कि रेचन-सिद्धान्त के ये सभी आधुनिक विवेचन अत्यन्त चमत्कारपूर्ण होने पर भी अरस्तू के वास्तविक अभिप्राय से दूर हैं। वे रेचन के व्यापक स्वरूप को भलीभाँति इंगित करते हैं, किन्तु अरस्तू के मौलिक सिद्धान्त को ठीक-ठीक नहीं समझाते। यहाँ प्रो० आई० ए० रिचर्ड्स के बारे में भी लिख देना आवश्यक है। उनके काव्य-सिद्धान्त का मूलाधार यह है कि कला द्वारा मन के विरोधी आवेग सुव्यवस्थित और सन्तुलित हो जाते हैं। ट्रेजेडी से सम्बद्ध प्रमुख भावनाएँ, करुणा और भय आपस में विरोधी हैं। करुणा से मन किसी के प्रति आकृष्ट होता है और भय से वह दूर हटता है। ट्रेजेडी के अन्तर्गत इन दोनों भावनाओं की ऐसी उत्कृष्ट नियोजना होती है कि वे मिलकर गम्भीर प्रभाव और आनन्द की सृष्टि करती हैं और फलतः चित्त व्यवस्थित होता है। वस्तुतः, यह मत केथारसिस की ही व्याख्या है। रिचर्ड्स के व्यवस्था-सिद्धान्त में विरोधी मनोवेगों का समन्वय होता है और इस भाँति मन में वह निर्वैयक्तिक (इम्परसनल) दशा उत्पन्न होती है, जिसमें केवल आनन्द की अनुभूति होती है। इसीलिए ट्रेजेडी से अपूर्व सुख और शान्ति की प्राप्ति होती है, यद्यपि उसकी मूलभूत भावनाएँ भय और करुणा अपने यथार्थ रूप में उग्र एवं कष्टप्रद होती हैं।

ट्रेजेडी के प्रयोजन और प्रभाव को समझने के लिए क्या रेचन-सिद्धान्त ही एकमात्र समीचीन माध्यम है, यह प्रश्न अनेक बार पूछा गया है। उत्तर में कतिपय विद्वानों ने यह कहा है कि ट्रेजेडी द्वारा भावनाओं का शमन नहीं, वरन् वर्द्धन होता है। ट्रेजेडी शामक

नहीं, अपितु उत्तेजक है और इसी उत्तेजना को प्राप्त करने के लिए लोग समय और धन का व्यय करते हैं। प्रो० एफ्० एल्० लूकस महोदय का कथन है कि भूमध्यसागर के तट पर निवास करनेवाले अतिशय भावना-सम्पन्न प्राचीन यूनानियों को भावरेचन और शमन की आवश्यकता रही होगी, किन्तु ठंडे भूभाग में रहनेवाले अपेक्षाकृत संयत मनवाले अँगरेजों को तो भावोत्कर्ष ही अधिक अपेक्षित होता है। इसके अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ट्रेजेडी के कार्य को रेचन तक ही सीमित कर देना उसके उद्देश्य को अत्यन्त संकीर्ण बना देना है। उस उद्देश्य की व्याख्या अनेक दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार से की है। हेगेल, शॉपेनहावर, नीत्से आदि के ट्रेजेडी-सम्बन्धी विचार अत्यन्त गम्भीर हैं, किन्तु यदि हम उन्हें भुलाकर काव्य के स्वीकृत प्रतिमानों से ही काम लें, तब भी यह स्पष्ट हो जायगा कि ट्रेजेडी केवल रेचन-मात्र नहीं करती। काव्यरूप होने के कारण उससे वे सभी फल उपलब्ध होते हैं, जिनकी हम काव्य से सामान्यत; आशा रखते हैं। ट्रेजेडी से आनन्द मिलता है। उससे हमें जीवन के गम्भीर तथ्यों को समझने की शक्ति बढ़ती है तथा हमारी भावनाएँ जागरित होतीं और उदार बनती हैं। काव्य जीवन का अनुकरण है, जीवन की समीक्षा है, कल्पना द्वारा उसका नवनिर्माण होता है। ट्रेजेडी इन सभी कार्यों को सम्पन्न करती है; क्योंकि काव्यरूपों की परिगणना में उसका अत्यन्त उच्च स्थान है।

१७वीं और १८वीं शताब्दी के भाववादी समीक्षकों ने रेचन-सिद्धान्त का क्षेत्र विस्तृत बनाकर यह सिद्ध किया है कि ट्रेजेडी से केवल करुणा और भय का ही परिष्कार और नियन्त्रण नहीं होता, किन्तु अन्य अवांछनीय भावनाओं में भी परिवर्त्तन होता है और उनका अतिरेक मिटता है। जब हम रंगमंच पर किसी उच्चवर्गीय एवं विशिष्ट पात्र को संकटग्रस्त होकर यातना भोगते हुए देखते हैं, तब हमारे मन में करुणा और भय का संचार होता है और उसके साथ ही पाप, क्रोध, लोभ, महत्त्वाकांक्षा आदि प्रबल मनोभावों की निस्सारता का परिचय भी मिलता है। इन उग्र मानसिक आवेगों से अन्ततोगत्वा कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होता तथा केवल संकट और पीड़ा की उत्पत्ति होती है, यह हमें अवगत हो जाता है और हम आत्मनियन्त्रण के लिए सहज प्रेरणा प्राप्त करते हैं। इस अपेक्षाकृत व्यापक दृष्टिकोण का प्रतिपादन ड्राइडेन, रेपिन, स्टील, एडिसन आदि ने किया है। अधो-लिखित उद्धरण में डॉ० जॉन्सन ने एक प्रश्न का उत्तर दिया है, जिससे रेचन की भाववादी व्याख्या पर प्रकाश पड़ता है।

"आखिरकार भावनाओं का रेचन करुणा और भय द्वारा किस प्रकार होता है? (मैंने अज्ञान का आडम्बर करते हुए उनसे पूछा ; क्योंकि मैं बातचीत के लिए उन्हें उत्तेजित करना चाहता था।) क्यों जनाब, मनोवेग मानव-क्रिया के प्रमुख परिचालक हैं, किन्तु उनमें अशुद्धियाँ इस प्रकार मिली रहती हैं कि करुणा और भय द्वारा उनका परिष्कार आवश्यक हो जाता है। उदाहरणार्थ, महत्त्वाकांक्षा एक उत्तम मनोभाव है, किन्तु रंगमंच पर यह देखकर कि एक ऐसा व्यक्ति, जो अत्यधिक महत्त्वाकांक्षी है और अन्याय द्वारा ऊपर उठना चाहता है, अन्त में कष्ट भोगता है। हम अतिशय महत्त्वाकांक्षा के घातक परिणामों से अवगत हो जाते हैं। इसी भाँति किसी हद तक क्रोध आवश्यक होता है, किन्तु जब हम

देखते हैं कि कोई व्यक्ति उसके अत्यधिक वशीभूत हो गया है, तब हमारे मन में उस व्यक्ति के प्रति दया उत्पन्न होती है और हम क्रोध के मनोवेग को नियन्त्रित करना सीखते हैं।" यद्यपि रेचन की यह भाववादी व्याख्या मुख्यतः १६वीं-१८वीं शताब्दी में प्रचलित हुई, तथापि प्राचीन काल में भी इसके कुछ संकेत मिलते थे। प्लेटो के संवादों में इसके बीज विद्यमान हैं तथा यह एक स्वीकृत विश्वास था कि ट्रेजेडी से केवल करुणा और भय का ही नियन्त्रण नहीं होता, अपितु सामान्यतः सभी उग्र और संकटप्रद भावनाओं का संयम और नियमन सरल हो जाता है। एक प्राचीन कथा है कि रोम का एक स्वार्थी और क्रूर शासक ट्रेजेडी का अभिनय देखने के लिए नाट्यशाला में गया। अभिनय प्रारम्भ होने के थोड़ी देर बाद ही उसका मन इतना द्रवित और विगलित हो गया कि वह रो पड़ा और स्थान छोड़कर चला गया। उसके अहंकार, उसकी कठोरता, उसकी स्वार्थपरायणता—सभी को धक्का लगा था तथा उसका सारा व्यक्तित्व प्रभावित हो गया था। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि ट्रेजेडी केवल एक या दो मनोभावों को ही उत्तेजित और परिष्कृत नहीं करती, वरन् उसका गम्भीर और व्यापक प्रभाव सम्पूर्ण व्यक्तित्व को अभिभूत करता है।

अरस्तू ने रेचन का उल्लेख ट्रेजेडी की परिभाषा के अन्तर्गत किया है, अतः मूलरूप में उसे ट्रेजेडी के प्रभाव से ही सम्बद्ध माना जाता है। प्रश्न यह उठता है कि अरस्तू कॉमेडी के लिए उसकी उपयोगिता कहाँ तक स्वीकार करता था। वैसे यह तो स्पष्ट है कि ट्रेजेडी को अरस्तू ने काव्य का सर्वोत्कृष्ट रूप मानकर उसका विवेचन किया है, अतः उसके बारे में कही हुई अनेक बातें समस्त काव्य के लिए सत्य हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर आधुनिक विचारकों ने रेचन-सिद्धान्त की चतुर्दिक् व्याप्ति पर बल दिया है। इसके अतिरिक्त अरस्तू के बाद तत्काल आनेवाले अनुयायियों ने कॉमेडी की परिभाषा अरस्तू-प्रदत्त ट्रेजेडी की परिभाषा को ही सामने रखकर बनाने का प्रयास किया है। काव्यशास्त्र में कॉमेडी की जो परिभाषा है, उसके साथ-ही-साथ अरस्तू के शिष्य-व ं द्वारा प्रस्तुत की हुई निम्नलिखित परिभाषा भी विचारणीय है :

"Comedy is an imitation of an action that is ludicrous and imperfect....through pleasure and laughter effecting the purgation of the like emotions."

—अर्थात् कॉमेडी एक ऐसी क्रिया का अनुकरण है, जो हस्यास्पद और अपूर्ण होती है—आनन्द और हास्य द्वारा तत्सम्बन्धी भावनाओं के रेचन के निमित्त।

इस कथन को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि अरस्तू ने निरन्तर हास्य को सशंक दृष्टि से देखा है। अपने राजनीति-शास्त्र में उन्होंने गम्भीर चिन्तन को महत्त्व देते हुए मनोरंजन और हास्य को तिरस्कृत किया है। अपने राजनीति-शास्त्र में उन्होंने नववयस्कों के लिए हास्य तथा सुखान्त नाटकों का प्रेक्षण वर्जित माना है। कॉमेडी और तत्सम्बन्धी अभिनय को प्लेटो ने भी अपने 'रिपब्लिक' और 'लॉज' नामक संवादों में अग्राह्य सिद्ध किया है। ऐसी दशा में अतिशय हास्य तथा मनोरंजन की प्रवृत्ति को कॉमेडी में रेचन द्वारा नियन्त्रित करने की चेष्टा सहज ही समझ में आ जाती है। जैसे करुणा और

भय का अतिरेक अवांछनीय है वैसे ही हास्य और मनोरंजन का भी ; और ट्रेजेडी की भाँति ही कॉमेडी में भावातिशय का शमन होता है। प्लेटो के मतानुसार कॉमेडी से उत्पन्न हास्य में ईर्ष्या का अंश निहित रहता है। हम अपने विरोधी की कमजोरियों पर हँसते हैं और इस प्रकार अपने मनोमालिन्य का ही प्रकाशन करते हैं। हमारी कटुता और ईर्ष्या का वेग हास्य द्वारा विरोधी की कमजोरियों की अभिव्यक्ति से कम होता है। इस तरह विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि हास्य द्वारा ईर्ष्या मिटती है और मन शुद्ध होता है। प्लेटो का यह मत भी अरस्तू के रेचन-सिद्धान्त के अत्यन्त निकट है; क्योंकि इसमें यह स्वीकार किया गया है कि कॉमेडी के उपभोक्ता के मानसिक विकारों का शमन होता है। आधुनिक युग में रेचन-सिद्धान्त के विस्तृत स्वरूप की चर्चा हम ऊपर कर आये हैं। यहाँ थोड़े में फ्रॉयड, युंग आदि के विचारों का जिक्र कर देना भी ठीक होगा। फ्रॉयड की यह महत्त्वपूर्ण स्थापना है कि अचेतन और अधचेतन मन में दमित काम-वासना से अनेक मानसिक उपद्रव उठ खड़े होते हैं, जिनका प्रतिकार उपभोग, उदात्तीकरण, अथवा रेचन द्वारा हो सकता है। काव्य काम-वासना के उदात्तीकरण और रेचन का माध्यम है। विश्व-साहित्य में सौन्दर्य-वर्णन और शृंगार की बहुलता इस बात का प्रमाण है कि कला और साहित्य के माध्यम से अनापत्तिजनक रीति से हम काम-वासना का प्रकाशन कर सकते हैं। रेचन-सिद्धान्त को हम ध्यान में रखकर कहेंगे कि सौन्दर्य-काव्य और शृंगार-काव्य के अध्ययन और रसास्वादन से मनुष्य की काम-वासना परिष्कृत होती है। और, उसका वेग भी कम हो जाता है। युंग ने कविता और पुरावृत्त, अर्थात् मिथ को समकक्ष रखा है। जैसे स्वप्न और पुरावृत्त में अनादिकाल से संचित सामूहिक अचेतन भावनाओं का प्रकाशन होता है, वैसे ही कविता में भी। पुरावृत्त और कविता दोनों में अप्रतिहत वेग से प्रवाहित होनेवाली जीवनी शक्ति निबद्ध होकर अपना अपेक्षाकृत संयत और नियन्त्रित स्वरूप प्रस्तुत करती है। वैयक्तिक और जातीय जीवन में पुरावृत्त और कविता की यही उपादेयता है। उनके अभाव में वह तीव्र प्रवाह या तो अवरुद्ध हो जायगा अथवा अपने अतिशय वेग से मानसिक जीवन में अराजकता उत्पन्न कर देगा। कविता से रेचन होता है और जीवनी शक्ति की अबाध गति एक निश्चित मार्ग पर अग्रसर होती है।

●

# चतुर्थ अध्याय

## रस-सिद्धान्त

रस-सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम भरत मुनि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में विस्तारपूर्वक किया, यद्यपि इसका निश्चित प्रमाण मिलता है कि उनके पूर्व भी रस-सम्बन्धी मत और विचार प्रचलित थे। भरत मुनि के काल से आजतक अनेक प्राचीन और अर्वाचीन विचारकों ने रस-सिद्धान्त की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की है तथा यह निर्विवाद है कि भारतीय साहित्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। ध्वनिवादियों और आलंकारिकों ने भी रसास्वादन को ही काव्य-पठन और नाट्य-अभिनय का अन्तिम ध्येय माना है और विशुद्ध रसवादियों से उनका मतभेद केवल साधन के बारे में है। रस-सिद्धान्त की प्रतिस्थापना मूलतः नाट्य-रचनाओं के सन्दर्भ में हुई थी, किन्तु बाद में इसकी व्याप्ति विस्तृत रूप में स्वीकृत हुई और अब यह माना जाता है कि समस्त काव्य रस-सिद्धान्त की सीमा के अन्तर्गत सन्निविष्ट हो जाता है। रस-सिद्धान्त की व्यापकता का एक प्रमाण यह भी है कि वह समान रूप से अध्यात्म-दर्शन, मनोविज्ञान, शब्दशास्त्र तथा रंगशाला के व्यावहारिक अनुभव पर आधृत है। उसमें सूक्ष्म चिन्तन और मानव-मनोभावों के वास्तविक ज्ञान का चमत्कारपूर्ण मिश्रण मिलता है। इसीलिए रस-सिद्धान्त आज भी आकर्षण रखता है और अध्ययन तथा मनन का विषय बना हुआ है।

'रस' शब्द निःसन्देह भरत मुनि के समय में लोक-प्रचलित था और नाट्यशास्त्र में इसका जो उपयोग हुआ है, उसका सीधा सम्बन्ध आयुर्वेद एवं पाकशास्त्र से था। दोनों में ही रस की संज्ञा आस्वाद्य पदार्थों को मिलती थी। रस गणना में छह थे, अर्थात् मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय। भरत मुनि ने रसास्वाद की व्याख्या करते हुए जो व्यंजन का प्रसिद्ध उदाहरण दिया है उससे भी यही धारणा पुष्ट होती है कि उनके मन में 'रस' का यही प्रचलित अर्थ था। 'रस' शब्द के और भी गम्भीर दार्शनिक अर्थ हैं, जिनकी ओर नाट्यशास्त्र के परवर्त्ती व्याख्याताओं ने संकेत किया है, किन्तु यह सन्दिग्ध है कि ये गूढ़ अर्थ रससूत्र को प्रस्तुत करते समय भरत मुनि के मन में विद्यमान थे। भरत मुनि का सुविख्यात रस-सूत्र है :

**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।**

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव—इन तीनों के संयोग से रस निष्पन्न होता है। इस सूत्र में 'संयोगाद्रसनिष्पत्तिः' यह कथन विशेष विचारणीय है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव केवल सहयोगी के रूप में अपना कार्य करते हैं और वे सब आपस में मिलकर ही भाव, अर्थात् स्थायी भाव को वह शक्ति प्रदान कर सकते हैं, जिसके बल पर वह रस की अवस्था में सिद्ध होता है। यद्यपि सूत्र में भाव का उल्लेख नहीं है, तथापि

रस-सिद्धान्त की प्रमुख समस्या यह है कि किन साधनों द्वारा भाव रस की अवस्था को प्राप्त होकर अनिर्वचनीय आनन्द प्रदान करने में सक्षम होता है। विभाव, अनुभाव और संचारी तथा विभिन्न प्रकार के अभिनय, भाव और रस के बीच में रहकर अभीष्ट की सिद्धि में सहायक बनते हैं। यह एक बार पुनः उल्लेखनीय है कि उनमें से कोई भी तत्त्व अकेले कार्य नहीं करता, किन्तु सब मिल-जुलकर रस-निष्पत्ति के लिए भूमिका तैयार करते हैं।

रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया में भाव का प्रमुख स्थान है; क्योंकि वही रसावस्था को प्राप्त होता है। यह प्रश्न कि भाव से रस उत्पन्न होता है अथवा रस से भाव, बहुत सार्थक नहीं है। विचार करने पर यह सहज ही प्रतीत हो जाता है कि भाव में रस की क्षमता उसी प्रकार निहित रहती है, जैसे बीज में वृक्ष की सम्भावना छिपी रहती है। रस-सिद्धान्त में भाव का निश्चित महत्त्व है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भरत मुनि अपने रससूत्र में किसी मनोवैज्ञानिक प्रश्न का उल्लेख-मात्र कर रहे थे। उनका मुख्य उद्देश्य नाट्य-रचना, अभिनय और प्रेक्षण की समस्याओं से था। अतः कथावस्तु की भावनात्मक शक्ति को किस प्रकार उद्‌बुद्ध और उद्‌घाटित करके उसे अलौकिक आनन्द का विषय बनाया जाता है, सौन्दर्यशास्त्र और साहित्यशास्त्र की इस मौलिक समस्या का उत्तर वे हमारे लिए प्रस्तुत कर रहे थे। इस प्रकार, हम देखते हैं कि रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत भावों का कोई स्वतन्त्र मूल्य नहीं है और वे भी नाट्य-निर्माण और अभिनय के अंग बनकर ही स्वीकृत हुए हैं। जिस प्रकार यूरोपीय नाट्यशास्त्र के प्रथम नियामक अरस्तू ने कथावस्तु को ही प्राथमिकता देकर अन्य नाट्य-तत्त्वों को उस पर आश्रित सिद्ध किया है, वैसे ही भरत मुनि ने भी कथा और अभिनय के आधार पर ही रस की चर्चा की है। डी० के० बेडेकर महोदय ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि काव्यार्थ के सन्दर्भ में ही रस-सिद्धान्त की व्याख्या होनी चाहिए। हमें उनके तर्क में सार प्रतीत होता है, इसलिए रस-सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक विवेचन एक सीमा के उपरान्त अनावश्यक मालूम होता है।

भरत मुनि ने आठ भावों अथवा स्थायी भावों तथा ३३ व्यभिचारी अथवा संचारी भावों की तालिका दी है। दोनों प्रकार के भावों में भेद स्पष्ट है। स्थायी भाव अपेक्षाकृत दीर्घकालिक होते हैं। वे प्रवृत्ति, चेष्टा अथवा वासना के रूप में मानव-स्वभाव में अन्तर्निहित रहते हैं तथा कतिपय परिस्थितियों में और कुछ विशिष्ट साधनों के योग से जागरित हो उठते हैं। इसके विपरीत संचारी भाव अल्पकालिक अथवा क्षणिक होते हैं। जिस प्रकार पानी में छोटी-छोटी लहरें उठती और विलीन होती हैं, प्रायः उसी प्रकार संचारी भी उदित और विलीन होते रहते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की शब्दावली में हम भावों को 'इमोशन्स' कह सकते हैं। जैसा प्रायः सभी मनोवैज्ञानिक स्वीकार करते हैं, इमोशन्स के दो पक्ष होते हैं—शारीरिक और मानसिक। इमोशन्स से प्रभावित होकर शारीरिक परिवर्त्तन प्रकट होते हैं। उदाहरणार्थ, क्रोध के वशीभूत व्यक्ति का चेहरा तमतमा उठता है, आँखें लाल हो जाती हैं, हृदय की गति तेज हो जाती है तथा ग्रन्थियों की क्रिया और रक्त की रासायनिक बनावट में भी अन्तर आ जाता है। इसी प्रकार रति, क्षोभ आदि अन्य इमोशन्स के सबल होने पर विभिन्न प्रकार के विशिष्ट शारीरिक लक्षण परिलक्षित होते हैं। इन

शारीरिक परिवर्त्तनों के साथ-साथ मानसिक परिवर्त्तन उपस्थित हो जाते हैं, जो कहीं अधिक महत्त्व रखते हैं। इमोशन्स के प्रत्यक्ष और अदृष्ट मानसिक लक्षणों को हम पृथक् नहीं कर सकते और रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत भावों का जो उल्लेख हुआ है, उसमें मानसिक और शारीरिक दोनों ही प्रकार के लक्षणों का समावेश है। तब भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि आचार्यों के मन में इस विषय में तनिक भी सन्देह न था कि भावों का सूक्ष्म मानसिक तत्त्व ही अधिक महत्त्वशील है।

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में निम्नलिखित स्थायी भावों और व्यभिचारी भावों की सूची मिलती है :

**स्थायी भाव**

| रस | भाव | वर्ण |
|---|---|---|
| १. शृंगार | रति | श्याम |
| २. हास्य | हास | श्वेत |
| ३. करुण | शोक | कपोत |
| ४. रौद्र | क्रोध | लाल |
| ५. वीर | उत्साह | गोरा |
| ६. भयानक | भय | काला |
| ७. बीभत्स | जुगुप्सा | नीला |
| ८. अद्भुत | विस्मय | पीला |

**व्यभिचारी भाव**

१. निर्वेद, २. ग्लानि, ३. शंका, ४. असूया, ५. मद, ६. श्रम, ७. आलस्य, ८. दैन्य, ९. चिन्ता, १०. मोह, ११. स्मृति, १२. धृति, १३. व्रीडा, १४. चपलता, १५. हर्ष, १६. आवेग, १७. जड़ता, १८. गर्व, १९. विषाद, २०. औत्सुक्य, २१. निद्रा, २२. अपस्मार (मिर्गी), २३. सुप्त, २४. प्रबोध, २५. अमर्ष (असहनशीलता), २६. अवहित्थ (भाव का छिपाना), २७. उग्रता, २८. मति, २९. व्याधि, ३०. उन्माद, ३१. मरण, ३२. त्रास, ३३. वितर्क।

भाव नाम अत्यन्त सार्थक है; क्योंकि उसी के द्वारा रसिकजन भावित या वासित होते हैं। भाव सागर के तुल्य है और संचारी उसमें प्रतिक्षण उठनेवाली ऊर्मियों के समान हैं। विभाव और अनुभाव का भी स्वतन्त्र अस्तित्व न तो स्थायी होता है, न विशिष्ट प्रयोजन-युक्त। भाव में समाहित होने पर ही विभावों, अनुभावों और संचारियों का रस-निष्पत्ति-विषयक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न होता है। इस दृष्टि से भाव की भूमि पर ही विभिन्न मानसिक व्यापारों की अभिव्यक्ति को विस्तार और गम्भीरता प्राप्त होती है। भाव को स्थायी भाव की संज्ञा भी प्रदान की जाती है। अन्य तत्त्वों की अपेक्षा भावों में अधिक स्थायित्व होता है। सहृदय के मन में वासना-रूप में विद्यमान भावों का विभाजन स्थायी और अस्थायी—इन दो कोटियों में सरलतापूर्वक हो जाता है। हमारी मूल भावनाओं को

स्थायी भाव और उनसे उत्पन्न अथवा उनपर निर्भर सहकारी भावों को संचारी आदि नाम दिया जाता है। रस की स्थापना के लिए स्थायी भाव अनिवार्यरूपेण अपेक्षित हैं।

स्थायी भावों की संख्या के बारे में पर्याप्त मतभेद है। भरत ने केवल आठ भावों का उल्लेख किया है। अतः अनेक परवर्त्ती विचारकों ने आठ से अधिक भावों को स्वीकार करने में संकोच प्रकट किया है। शान्तरस को स्वीकार करने में दशरूपककार को आपत्ति है; क्योंकि भरत मुनि ने उसके आवश्यक विभाव, अनुभावादि का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु, बहुत-से अपेक्षाकृत उदार आचार्यों ने अन्य रसों और भावों के ग्रहण करने के प्रश्न पर भी गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। अभिनवगुप्त, आनन्दवर्द्धन आदि ने शान्तरस को लेकर नवरसों को तो निश्चित ही स्वीकार किया है। शान्तरस का स्थायी भाव शम है। नाटक में भावोद्रेक होता है, अतः यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि शान्तरस पर आधृत नाटकों की रचना और अभिनय के मार्ग में सदैव बाधा उत्पन्न होगी। यद्यपि इस कथन में सार है, तथापि यह मानना पड़ेगा कि नाटक के अध्ययन और प्रेक्षण का अन्तिम फल मानसिक शान्ति और व्यवस्था के रूप में ही प्रकट होता है। पाश्चात्त्य नाट्यशास्त्र में दुःखान्त नाटकों के सम्बन्ध में इस बात की विस्तृत चर्चा मिलती है। अन्य काव्य-रूपों में शम की अभिव्यक्ति और शान्तरस की प्रतिस्थापना के बारे में विशेष कठिनाई नहीं दिखाई पड़ती। शम मन की एक अत्यन्त स्पृहणीय अवस्था है। वह क्षणिक हो सकती है, किन्तु यह कहना कि शम और निर्वेद अयथार्थ हैं और उनका निरूपण कोई मूल्य नहीं रखता, ठीक नहीं। अतः आज नवरस और उनके स्थायी भाव प्रायः सर्वमान्य हो गये हैं। अन्य रसों के पक्ष में भी कतिपय आचार्यों ने अपने मत प्रकट किये हैं। वात्सल्य, भक्ति, स्नेह आदि का उल्लेख हुआ है, किन्तु इनमें से अधिकांश अन्य रसों में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं या भावदशा तक ही रहने के कारण रस नहीं कहे जा सकते। यह नहीं कहा जा सकता कि मानव-मन में स्थित मूल भावनाएँ गणना में केवल आठ और नौ ही हैं, किन्तु परम्परा से स्वीकृत इस सूची को विस्तार देने के लिए अकाट्य कारण होना चाहिए। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों में भी नित्य नये 'इमोशन्स' की चर्चा करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है, किन्तु जब कभी कोई विद्वान् किसी नवीन इमोशन का उल्लेख करता है, तब उसके प्रतिपक्षी खड़े हो उठते हैं और अनेक प्रकार की आपत्तियाँ उपस्थित करते हैं। इस प्रकार आधुनिक अनुसन्धान के बावजूद इमोशन्स की वास्तविक संख्या अनिश्चित ही बनी हुई है।

संचारी अथवा व्यभिचारी भाव उनको कहते हैं, जो मूल भावों के सहकारी बनकर उनकी ओर संचरण करते हैं। भावों में स्थायित्व की विशेषता होती है, तो संचारियों में गतिशीलता की। वे स्वभाव से ही उत्पन्न और विलीन होनेवाले होते हैं और विभिन्न स्थायी भावों के आसपास व्यवस्थित होने की प्रवृत्ति उनमें विद्यमान रहती है। प्रत्येक स्थायी भाव के उपयुक्त सहयोगी संचारी होते हैं, जो उसका परिपोषण तथा उसकी परिपुष्टि करते हैं। "दशरूपककार ने संचारी भाव अथवा व्यभिचारी भावों के सम्बन्ध में लिखा है—विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः। स्थायिन्युन्मग्ननिमग्नाः कल्लोला इव वारिधौ"—अर्थात् जो भाव विशेष रूप से स्थायी भाव के अन्तर्गत आविर्भूत और तिरोहित

होते दिखाई देते हैं, वे संचारी भाव कहलाते हैं ; जैसे लहरें समुद्र में पैदा होती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं। यह परम आवश्यक है कि विभिन्न रसों और भावों के साथ उपयुक्त व्यभिचारियों की ही नियोजना की जाय ; क्योंकि प्रतिकूल संचारियों के विनियोग से रस-सर्जना में व्यतिक्रम उत्पन्न होगा। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने संचारियों का वर्गीकरण सुखात्मक, दुःखात्मक, उभयात्मक और उदासीन—इन चार कोटियों में किया है। उदाहरणार्थ रति के साथ सुखात्मक और शोक के साथ दुःखात्मक संचारी ही निबद्ध होंगे। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक भाव के साथ अविरुद्ध और अनुकूल संचारियों की संगति ही ठीक बैठती है।

भरत-प्रदत्त तैंतीस संचारियों की सूची हम ऊपर दे आये हैं। प्रश्न यह उठता है कि क्या संचारियों की यह संख्या घट-बढ़ सकती है अथवा नहीं। अनेक प्राचीन और आधुनिक विद्वानों ने संचारियों की संख्या बढ़ाने के पक्ष में मत प्रकट किये हैं। कहा गया है कि स्थायी भाव भी कभी-कभी संचारी के रूप में अपना कार्य करते हैं। भानुदत्त, रूपगोस्वामी आदि ने नवीन संचारियों को स्वीकृति के लिए प्रस्तावित किया है। इसके विपरीत संचारियों की संख्या घटाने का आग्रह भी किया गया है ; क्योंकि तैंतीस संचारियों की सूची में कई ऐसे हैं, जो एक-दूसरे में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं, जैसे ग्लानि और श्रम। देव ने शारीरिक एवं आन्तरिक अर्थात् चित्तवृत्तात्मक—इन दो प्रकारों में विभेद किया है और आज के कई विचारकों ने इस बात की ओर संकेत किया है कि स्तम्भ आदि कई संचारियों का सम्बन्ध शरीर से है, मन से नहीं। किन्तु, सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने पर यह प्रकट होता है कि किसी-न-किसी अंश में भरत मुनि द्वारा उल्लिखित सभी व्यभिचारी मनोविकार ही हैं, यद्यपि इनमें से कुछ का सम्बन्ध शारीरिक अवस्थाओं से भी है। सभी पक्षों पर विचार करने के उपरान्त अभी तक तैंतीस संचारियों की सीमित सूची को विस्तृत करने के लिए कोई प्रबल कारण नहीं दिखाई देते और न तो उस सूची को काटने-छाँटने के लिए ही कोई अनिवार्यता अभी तक सिद्ध हो सकी है। ऐसी दशा में अभी परम्परागत तैंतीस संचारियों की सूची को ही मान्यता प्रदान करना समीचीन होगा।

भरत ने आठ सात्त्विक भावों की परिगणना अपने नाट्यशास्त्र में की है, किन्तु उनको अपने रससूत्र में स्थान नहीं दिया है : सात्त्विक भावों का सीधा सम्बन्ध मन की उस एकाग्रता (कान्सेण्ट्रेशन) से है, जो रस-सर्जना और रसास्वाद में सहायक सिद्ध होती है। भरत के मतानुसार आठ सात्त्विक भाव इस प्रकार हैं : १. स्तम्भ, २. स्वेद, ३. रोमांच, ४. स्वर-भंग, ५. वेपथु, ६. वैवर्ण्य, ७. अश्रु और ८ प्रलाप।

अभिनय के समय इन सात्त्विक भावों के प्रदर्शन के लिए अभिनेता में विशेष मनोयोग अपेक्षित होता था। सत्त्व अन्तःकरण का एक विशेष गुण है और उसी की शारीरिक अभिव्यक्ति को सात्त्विक भाव अथवा सात्त्विक अनुभाव कहते हैं। वास्तव में ये अनुभाव ही हैं ; क्योंकि इनके द्वारा सहृदय को आश्रय के मन में उत्पन्न भावों का पता चलता है। अन्तःकरण का स्पर्श करनेवाले तत्त्वों के कारण कौन-कौन-सी शारीरिक अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं, इसका बोध हमें सात्त्विक भावों के प्रदर्शन से होता है। ये भावों के अनुवर्त्ती हैं

और प्रकाशन इनका ध्येय है, इसलिए इनकी गणना अनुभावों की श्रेणी में होनी चाहिए। कदाचित् इसीलिए रससूत्र में इनका पृथक् उल्लेख नहीं किया गया है। दशरूपककार ने उनकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है ; क्योंकि उनमें विशिष्ट मनोदशा का द्योतन होता है। अनुभावों में इस प्रकार की निश्चित मनोदशा सदैव स्पष्ट रूप से द्रष्टव्य नहीं होती। विभाव और अनुभाव रस के कारण माने गये हैं। अनुभावों का प्रमुख कार्य है मनोविकारों की अभिव्यक्ति। जब भाव सबल और उद्दीप्त होने लगते हैं, तब उनका प्रकाशन वाणी, शारीरिक अवस्था और आन्तरिक मानसिक विकारों में होता है। अभिनेता इसी वाचिक, आंगिक और सात्त्विक परिवर्त्तन को अपने अभिनय द्वारा प्रकट करता है। प्रत्येक भाव और रस को प्रकाशित करनेवाले उपयुक्त अनुभाव होते हैं। जैसे शृंगार में कटाक्ष इत्यादि और वीररस में नेत्र और मुखमण्डल का लाल हो जाना इत्यादि विभाव रस के कारण हैं। आलम्बन आधारभूत होता है। आश्रय के मन में विषय अथवा आलम्बन के प्रति भाव जागरित होते हैं। उद्दीपन विशेष परिस्थितियों और साधनों को प्रस्तुत करके भाव को तीव्र बनाते हैं। प्रत्येक रस के सम्बन्ध में उपयुक्त उद्दीपकों का उल्लेख मिलता है, जैसे चाँदनी, उपवन, शीतल, समीर आदि शृंगार अथवा रति भाव के स्वीकृत उद्दीपन-विभाव हैं।

भरत मुनि ने कहा है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है, रससूत्र में केवल इतना कहकर छोड़ दिया है। रस का उद्गम-स्थान कहाँ है, सहृदय उसका उपभोग किस प्रकार करता है, आश्रय, अभिनेता, प्रेक्षक आदि का रसोत्कर्ष की प्रक्रिया में क्या निश्चित स्थान है—इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर उन्होंने स्वयं नहीं दिया है। अतः हमें इन समस्याओं के लिए टीकाकारों और भाष्यकारों की सहायता लेनी पड़ती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी रस-व्याख्या प्रतिपादित करने के पूर्व तीन प्रचलित मतों की परीक्षा की है—भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद, शंकुक का अनुमिति-वाद और भट्टनायक का भोगवाद। इन तीनों मतों की प्रस्थापनाओं का खण्डन करने के बाद ही उन्होंने अपना मत सुस्थिर किया है। कहना न होगा कि आचार्य अभिवनगुप्त की रससूत्र की व्याख्या आजतक सर्वाधिक प्रामाणिक बनी हुई है, यद्यपि दशरूपककार पण्डित-राज जगन्नाथ आदि ने रस-सिद्धान्त के विवेचन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

अभिनवभारती में आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के मतों का खण्डन करने के उपरान्त अपनी व्याख्या उपस्थित की है, अतः संक्षेप में उन पूर्वगामी आचार्यों के विचारों का उल्लेख आवश्यक है। रससूत्र की व्याख्या में भट्टलोल्लट ने यह माना है कि अनुकार्य रामादि में ही विभाव, अनुभाव और संचारियों के योग से स्थायी भाव उपचित होकर रसावस्था को प्राप्त होता है। अभिनय में अपने कौशल से नटादिक उन्हीं पात्रों का अनुकरण करते हैं तथा प्रेक्षक आश्रयगत स्थायी भाव का अनुकर्त्ता, अभिनेतादि पर आरोप करके चमत्कृत होता है। आशय यह है कि रस की मूल स्थिति आश्रय में होती है और अभिनयकर्त्ताओं पर वह केवल आरोपित होता है। आश्रय को ध्यान में रखकर इस मत को उत्पत्तिवाद और अभिनेता को दृष्टि में रखकर उसे आरोप-वाद कहते हैं। इस व्याख्या का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें सामाजिक द्वारा रसास्वाद

की प्रक्रिया केवल लौकिक और गौण होकर रह जाती है। केवल चमत्कृत होने को हम स्वादन के समकक्ष नहीं रख सकते और यदि रस मूलरूप में अनुकार्य में ही स्थित है, तो सहृदय पाठक अथवा प्रेक्षक के लिए उसका केवल अल्प महत्त्व है। उसके अतिरिक्त आचार्य शंकुक ने उत्पत्तिवाद के विरुद्ध कई आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। यदि भाव की उपचित अवस्था ही रस है, तो भावों के क्रमिक उत्कर्ष और अपकर्ष में आनेवाली विभिन्न अवस्थाओं के बारे में हम क्या कहेंगे। रति, हास्य अथवा शोक की तीव्रता निरन्तर एक समान नहीं बनी रहती। इसलिए, यदि हम उपचित अवस्था को चरमोत्कर्ष की अवस्था मान लें, तो भावाभिव्यक्ति का क्षेत्र बहुत सीमित रह जाता है।

उत्पत्तिवाद की कमी बताने के बाद आचार्य शंकुक ने अपने नवीन मत अनुमितिवाद की स्थापना की है। न्यायदर्शन से प्रभावित इस आचार्य ने चित्र-तुरंग न्याय का सहारा लेकर यह सिद्ध किया है कि प्रेक्षक अभिनय को देखकर अनुमान द्वारा रस की प्रतीति करता है। वास्तव में रस की स्थिति अनुकार्य में ही होती है। किन्तु कुशलतापूर्वक अभिनय करनेवाले नट-नटी आदि कौशलपूर्वक रंगशाला में अनुकार्य में उत्पन्न और स्थित भावों का सफल प्रदर्शन करते हैं। जैसे चित्र में बने हुए तुरंग की प्रतीति तस्वीर को देखने से होती है, वैसी ही प्रतीति दर्शक को होती है। चित्र देखनेवाला यह समझता है कि चित्र वास्तविक अश्व नहीं है, किन्तु उसे यथार्थ का बोध और अनुमान तो चित्र से होता ही रहता है। अनुमितिवाद के सम्बन्ध में भी वही आपत्ति उठती है, जो उत्पत्तिवाद के सम्बन्ध में। यदि हम शंकुक की व्याख्या मान लें तो सामाजिक का महत्त्व अल्प रह जाता है और उसे गौणरूप में आनन्द की प्रतीति से अधिक कुछ नहीं मिलता। आचार्य भट्टनायक और आचार्य अभिनवगुप्त दोनों ने अनुमितिवाद की तीव्र आलोचना की है। शंकुक के मत में सबसे बड़ा अभाव यह है कि उससे उस रहस्यपूर्ण प्रक्रिया का उद्घाटन नहीं होता, जिसके द्वारा शोक, भय आदि कष्टप्रद भावनाएँ रसरूप होकर आनन्ददायिनी हो जाती हैं। शोक, भय और पीड़ा से अनुमान द्वारा हम केवल उन भावों को ग्रहण कर सकते हैं, उनका आमूल रूप-परिवर्त्तन नहीं हो सकता। आचार्य भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित भोगवाद, आरोपवाद और अनुमितिवाद से कहीं अधिक सन्तोषप्रद है। जिस भाँति भट्टलोल्लट मीमांसा और शंकुक न्यायदर्शन के अनुवर्त्ती थे, उसी भाँति भट्टनायक के मत पर, कहा जाता है, सांख्यदर्शन की अमिट छाप है। उन्होंने रस-निष्पत्ति की सम्यक् व्याख्या के लिए तीन विशिष्ट शक्तियों को आधारभूत माना है। अभिधा से हमें पदार्थों का प्रत्यक्ष बोध होता है। इस अवस्था में पदार्थों का वैशिष्ट्य और व्यक्तियों का निजत्व बना रहता है। सामान्य जीवन में प्रत्येक पदार्थ दिक् और काल की सीमा के भीतर अपना विशेष अस्तित्व रखता है और प्रत्येक व्यक्ति के मन में अपने और पराये का भेद बना रहता है। आचार्य भट्टनायक ने काव्य-जगत् में वैशिष्ट्य और निजत्व को विलीन करके साधारणीकृत करनेवाली भावकत्व-शक्ति का अस्तित्व सर्वप्रथम स्वीकार किया। काव्य में दोषों के अभाव तथा गुणों, अलंकारों आदि के उपस्थित रहने के कारण तथा रंगशाला में नृत्य-संगीत और विभिन्न प्रकार के अभिनयों के कारण विशिष्टता और एकदेशीयता की सीमाएँ विनष्ट हो जाती

हैं। इसी परिवर्त्तन को साधारणीकरण कहते हैं। भट्टनायक ने सर्वप्रथम इस सिद्धान्त की स्थापना की और तब से यह रस व्याख्या का एक अनिवार्य अंग बन गया है। उत्तम काव्य का सार्वदेशिक और सर्वयुगीन आकर्षण बिना साधारणीकरण को ध्यान में रखे हुए हम नहीं समझ सकते। भट्टनायक ने भोजकत्व नामक एक तीसरी शक्ति की भी कल्पना की, जिसकी सहायता से प्रेक्षक अथवा सामाजिक रस का आस्वाद प्राप्त करता है। भोगशक्ति द्वारा सामाजिक के मन में तम और रज का वेग विच्छिन्न होकर सत्त्वोद्रेक होता है। इसी सत्त्वोद्रेक की अवस्था में रस-चर्वणा मिलती है। किन्तु, रसानुभूति में आनन्द का अनुभव होता है। रस-सम्बन्धी विचारकों में भट्टनायक का स्थान अत्यन्त उच्च है। उनकी सबसे बड़ी देन है, साधारणीकरण का सिद्धान्त। इसके अतिरिक्त सर्वप्रथम उन्होंने ही रस को सहृदयगत माना। भट्टलोल्लट और शंकुक ने उसकी स्थिति मूलतः आश्रय में ही मानी थी।

अभिनवगुप्त के काल तक ध्वनिवादियों का प्रभाव काफी बढ़ चुका था और आनन्दवर्द्धन तथा अभिनवगुप्त उस सम्प्रदाय के प्रमुख प्रवर्त्तक थे।। अतः अभिनवगुप्त की रस-विवेचना पर ध्वनि-सिद्धान्त की अमिट छाप है। उन्होंने सामान्यतः भट्टनायक की उपस्थापनाओं को स्वीकार किया, साधारणीकरण को ग्रहण किया और रस की स्थिति सहृदय में मानी, किन्तु भट्टनायक से उनका प्रमुख मतभेद यह है कि वे भावकत्व और भोजकत्व की कल्पना को अनावश्य मानते हैं और उनके स्थान पर व्यंजना को आरूढ करना चाहते हैं। उनका मत है कि व्यंजना से ही रस निष्पन्न हो जाता है। इसलिए अन्य शक्तियों की कल्पनाएँ नितान्त अनावश्यक हैं। यदि अभिनव के आलोचकों का हम यह तर्क मान भी लें कि लक्षणा सर्वजनग्राह्य नहीं है, तो भी अभिधा और व्यंजना के आधार पर हम रस के अभ्युदय और आस्वाद की समस्त पद्धति को समझ सकते हैं। अभिनवगुप्त की दूसरी महत्त्वपूर्ण स्थापना यह है कि स्थायी भाव अनादि होते हैं और वासना-रूप में सहृदय के अन्तःकरण में स्थित रहते हैं। रसोद्रेक की अवस्था में वे उद्‌बुद्ध हो जाते हैं। आचार्य ने रसनिष्पत्ति के बारे में बाधाओं का जिक्र भी किया है और यह बताया है कि अध्ययन और अभ्यास से रसास्वादन सरल हो जाता है। जैसे, मुकुर के स्वच्छ करने से उसमें छाया साफ-साफ ग्रहण होती है, वैसे ही मन-मुकुर के साफ हो जाने से उसमें प्रभाव आसानी से ग्रहण हो सकते हैं। भट्टलोल्लट और शंकुक ने रस की व्याख्या मुख्य रूप से लौकिक भूमि पर की थी। भट्टनायक ने उसकी अलौकिकता की ओर संकेत किया था, किन्तु अभिनवगुप्त ने उसके अलौकिक स्वरूप पर विशेष बल दिया है। उसे अलौकिक मानकर उसकी तुलना विमर्श से की है; क्योंकि आचार्य अभिनवगुप्त शैवदर्शन से गहराई तक प्रभावित थे।

आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त द्वारा ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना हो जाने के उपरान्त यह प्रायः सर्वस्वीकृत हो गया कि व्यंजना-व्यापार द्वारा ही रस-चर्वणा सम्भव है। उनलोगों ने यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि अभिधा और लक्षणा रस-निष्पत्ति में अशक्त होते हैं और व्यंजना-व्यापार द्वारा ही विभाव, अनुभाव तथा संचारी ध्वनित होकर सहृदय के अन्तःकरण तक पहुँचते हैं और वहाँ स्थायी भाव को उद्‌बुद्ध करके रस के हेतु बनते हैं। धनिक और धनंजय ने 'रस सहृदयनिष्ठ है', इस मत की अत्यन्त स्पष्ट स्थापना

की है। रामादि अनुकार्य तो अतीत में थे, किन्तु रस वर्त्तमान है, अतः अनुकार्य में रस-स्थिति का प्रश्न नहीं उठता। अनुकर्त्ता केवल आंशिक रूप में आस्वादन करते हैं। अतः यह निर्विवाद है कि रस की स्थिति सहृदय में ही है। मम्मट ने भी व्यंजना और रस के घनिष्ठ सम्बन्ध को व्यक्त किया है। रस के विषय में विचार करनेवाले अन्तिम आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ भी वस्तुतः ध्वनि-सिद्धान्त और विशेषकर अभिनवगुप्त के विचारों से प्रभावित थे, यद्यपि वेदान्त-दर्शन के अनुयायी होने के कारण उन्होंने रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। उनका मत यहाँ हम उद्धृत कर रहे हैं :

**"समुचितललितसन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः सहृदयहृदयं प्रविष्टैस्तदीयसहृदयता-सहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीयत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभि-चारिशब्दव्यपदेश्यैः शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैः चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैः अश्रुपाता-दिभिः कार्यैः चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च सम्भूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण तत्काल-निवर्त्तितानन्दांशावरणाज्ञानेनातएव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रास्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः।"**

अर्थात्, रसोचित ललित शब्दों के सन्निवेश से मनोहर काव्य के द्वारा समुपस्थित होकर सहृदयों के हृदय में प्रविष्ट हुए उनकी सहृदयता और भावना-विशेष के पुनः-पुनः अनुसन्धान के प्रभाव से (साधारणीकरण व्यापार के द्वारा) दुष्यन्त-रमणी के रूप शकुन्तला की निवृत्ति से अलौकिक विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव से व्यवहृत शकुन्तला आदि आलम्बन-कारणों, चन्द्रिका आदि उद्दीपन-कारणों, अश्रुपात आदि कार्यों एवं चिन्ता आदि सहकारी कारणों से सम्मिलित रूप से उत्पन्न हुए अलौकिक व्यापार के द्वारा उसी समय आनन्दांश के अज्ञान-रूपी आवरण के हट जाने के कारण अपने वैयक्तिक धर्मों से रहित प्रमाता के द्वारा स्व-प्रकाशस्वरूप अपने वास्तविक आनन्दमय स्वरूप से प्रत्यक्ष किये जाते हुए पहले से वासनारूप से समुपस्थित रत्यादि स्थायी भाव ही रस कहलाते हैं।

उनके मत का सारांश निम्नलिखित है :

**चर्वणा चास्य चिद्गतावरणभङ्ग एव प्रागुक्ता तदाकारान्तःकरणवृत्तिर्वा।**

अर्थात्, चैतन्य के आवरण का विवृत हो जाना चर्वणा है और उसका विलय होने पर स्थायी का स्वाद रस का आस्वाद कहलाता है, जैसा कि पहले कह आये हैं, अन्तःकरण की वृत्ति के आनन्दमय हो जाने को आस्वाद समझना चाहिए।

पण्डितराज जगन्नाथ के बाद रस के सम्बन्ध में नवीन चिन्तन प्रायः लुप्त हो गया। महाकवि देव ने कुछ नई बातें कहने का प्रयास किया है, किन्तु वास्तव में वे नई नहीं हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार भी कुछ नवीनता रखते हैं, विशेषकर उनका साधारणीकरण-सम्बन्धी मत कुछ प्राचीन परिपाटी से अलग है। इधर कई विद्वानों ने रस-सिद्धान्त का अध्ययन मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है, किन्तु यह अत्यन्त विवादग्रस्त है कि रस-सिद्धान्त का मूलाधार मनोविज्ञान है अथवा दर्शन और सौन्दर्यशास्त्र। कुछ विचारकों ने रस-सिद्धान्त का सम्बन्ध प्राचीन यज्ञविधान से भी जोड़ा है। हम इस प्रश्न पर आगे चलकर विचार करेंगे। पहले रस के स्वरूप के बारे में विचार कर लेना आवश्यक है।

रस के अर्थ और स्वरूप के बारे में अनेक मत प्रकट किये गये हैं। सामान्यतः रस का अर्थ उस पदार्थ से होता है, जिसका आस्वाद रसनेन्द्रिय द्वारा हो सके, किन्तु काव्य के सन्दर्भ में रस का गौणी लक्षणा द्वारा यह अभिप्राय है कि उसका आस्वाद रसनेन्द्रिय द्वारा नहीं होता, अपितु मानसिक व्यापार द्वारा होता है। रस काव्यजनित विशिष्ट आह्लाद को कहते हैं, जो वर्णनातीत है और जिसका साक्षी स्वयं सहृदय का मन है। जैसे शर्करा का स्वाद वही जानता है, जिसने उसका पान किया है, वैसे वही रस के वास्तविक स्वरूप से अवगत होगा, जिसने उसका अनुभव किया है। रस को ब्रह्मानन्दसहोदर कहा गया है, किन्तु यह विषयगत होने के कारण समाज में योगियों द्वारा अनुभूत ब्रह्मानन्द से भिन्न है। इसी प्रकार सांख्यवादियों के कैवल्य से भी वह भिन्न है। वह स्वतः आलोकमय है तथा विभाव, अनुभावादि को भी आलोकित करता है। लोक के किसी भी अन्य आनन्द से इसकी तुलना नहीं हो सकती। जैसे यूरोपीय आनन्दवादी कहते हैं कि कला द्वारा एक विशिष्ट प्रकार का आनन्द मिलता है, जो अतुलनीय है, कुछ वैसी ही बात रस के बारे में भी कही जाती है। रस में न कारण है न कार्य और वह अपने में स्वतः पूर्ण है।

रस चित्तवृत्ति की एक विशिष्ट उद्बुद्ध एवं आनन्दमयी अवस्था है। वासना-रूप में निहित अनादिकाल से चले आनेवाले हमारे वैयक्तिक और जातिगत अनुभव अपना अमिट प्रभाव हमारे मन पर छोड़ जाते हैं। विभाव, अनुभाव आदि के संयोग से अन्तःकरण की वासनाएँ अभिव्यक्त हो उठती हैं। हम देखते हैं कि जिस प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान में चेतन मन के अतिरिक्त अवचेतन और अचेतन मन में संचित अनुभवों की बात कही जाती है और जैसे युंग आदि ने सामूहिक अचेतन की चर्चा की है वैसे ही रसशास्त्र में भी वासनाओं का स्वरूप अनादिकालीन और मन की प्रायः सभी विभिन्न अवस्थाओं से सम्बद्ध माना गया है। हम ऊपर लिख चुके हैं कि भावों की संख्या और कोटियों का निश्चयपूर्वक निर्धारित कर देना सम्भव नहीं है; क्योंकि उनमें प्रभूत वैविध्य होता है। अतः सुविधा के लिए मूल भावों और स्थायी भावों की संख्या सीमित कर दी गई है। दशरूपककार ने मन की चार अवस्थाओं, अर्थात् विकास, विस्तार, विक्षोभ और विक्षेप का उल्लेख किया है। इन चारों अवस्थाओं से क्रमशः सम्बद्ध शृंगार, वीर, बीभत्स और रौद्र—इन चार रसों की चर्चा भरत मुनि ने की है और बाद के आचार्यों ने उनको रसचतुष्टय की संज्ञा प्रदान की है। इन चार प्रधान रसों से चार और रसों की उत्पत्ति मानी गई है। हास्य में शृंगार के समान चित्त का विकास, अद्भुत में वीर रस के समान चित्त का विस्तार, भयानक रस में बीभत्स के समान क्षोभ और करुण रस में रौद्र रस के समान चित्त में विक्षेप का प्राधान्य होता है। जैसा कि हम ऊपर संकेत कर आये हैं, इन आठ रसों के अतिरिक्त शान्त को नवम रस मानने का आग्रह बार-बार किया गया है। आनन्दवर्द्धन, दशरूपककार तथा कुछ अन्य आचार्यों ने अपना यह मत प्रकट किया है कि नाट्य-रचनाओं में और नाट्य-अभिनय में निर्वेद के लिए कोई स्थान नहीं है, किन्तु काव्य की अन्य कोटियों में शान्त रस सम्भव है।

रस और ध्वनि का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। कश्मीरी ध्वनिवादी आचार्यों ने व्यञ्जना को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया, किन्तु उन सभी ने यह स्वीकार किया है कि

काव्य की आत्मा रस है, व्यंजना केवल उसका प्रमुख और अनिवार्य साधन-मात्र है। अभिनवगुप्त ने जब भट्टनायक के भावकत्व और भोजकत्व-व्यापारों को अमान्य सिद्ध करके अपने मत का निरूपण किया, तब उन्होंने केवल यह विचार व्यक्त किया कि अभिधा, लक्षणा और विशेषकर व्यंजना द्वारा रस की निष्पत्ति होती है। उन्होंने रस की महत्ता और उसके काव्य के केन्द्रीय तत्त्व होने के बारे में तनिक भी शंका नहीं उपस्थित की। सभी ध्वनि-वादियों ने रसध्वनि को ही उच्चतम कोटि का काव्य-तत्त्व माना है और उसी के निकटवर्त्ती भाव, भावाभास और रसाभास को भी यथोचित महत्त्व दिया है। इससे यह सिद्ध होता है कि उनकी दृष्टि में काव्य का अन्तिम मानदण्ड यही है कि उसमें रस की निष्पत्ति कितनी सफलतापूर्वक हुई है। वे इस बात को मानते थे कि व्यंजना साधन है और रस साध्य। इसी बात को ध्यान में रखकर ध्वनि के अनेक रूपों की व्याख्या की गई है और यह निष्कर्ष निकलता है कि रस मुख्यतः असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य होता है। इस अभिधामूलक व्यंग्य में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति इतनी द्रुत गति से होती है कि उसका ग्रहण करना कठिन हो जाता है। ऐसा नहीं कि क्रम होता ही नहीं, किन्तु वह अवगत नहीं होता। अलंकार, वक्रोक्ति, औचित्य, गुण, रीति सभी रस के अन्तर्गत साधन-रूप में आ जाते हैं। उदाहरणार्थ रस की सिद्धि के लिए औचित्य परम आवश्यक है; क्योंकि उसके न होने पर अधिक-से-अधिक रस की जगह पर रसाभास-पात्र उपलब्ध होगा। अलंकारों, गुणों, रीतियों आदि की समुचित नियोजना से रसाभिव्यक्ति सरल हो जाती है। जिस प्रकार नाट्यरस अभिनय पर निर्भर होता है, उसी प्रकार काव्यरस इन अन्य साधनों की अपेक्षा रखता है। सच तो यह है कि काव्यरस के सम्बन्ध में नाटकीय विभाव का स्थान ये अन्य उपकरण ही ग्रहण कर लेते हैं।

मनोविज्ञान को रस-सिद्धान्त का आधार सिद्ध करने के लिए पिछले वर्षों में कई निबन्ध और प्रबन्ध लिखे गये हैं तथा सम्मान्य विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि रस-सिद्धान्त की मनोवैज्ञानिक व्याख्या ही सर्वाधिक उपयुक्त है। रस-सिद्धान्त में मन की विभिन्न अवस्थाओं तथा मन की विभिन्न प्रवृत्तियों को आधार बनाया गया है, इसमें तो कोई सन्देह हो ही नहीं सकता। मूल भावनाओं और सहकारी भावनाओं तथा उनके उत्तेजक और पोषक तत्त्वों का उल्लेख और वर्गीकरण किया गया है, यह भी स्पष्ट ही है। इस हद तक रस-सिद्धान्त की मनोवैज्ञानिक भूमिका निर्विवाद है। किन्तु सोचने पर कुछ मौलिक समस्याएँ सामने आती हैं। प्रश्न यह उठता है कि क्या भरत मुनि रस-सिद्धान्त के रूप में किसी मनोवैज्ञानिक तथ्य अथवा मत का प्रतिपादन कर रहे थे? नाट्यशास्त्र के अवलोकन से ऐसा नहीं प्रतीत होता। उनका मुख्य प्रयोजन था नाट्य-अभिनय से उत्पन्न उस विशिष्ट प्रकार के आनन्द की व्याख्या, जिसे विवेच्य न होकर केवल आस्वाद्य होने के कारण, रस कहा गया है। रस अन्तःकरण से उद्भूत होता है और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से न अभीतक उसका समुचित विश्लेषण हो सका है और न होने की सम्भावना दिखाई दे रही है। जिस दिन रस के लोकोत्तर स्वरूप का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण सफलतापूर्वक हो जायगा, उस दिन रस-सिद्धान्त की मूल भित्ति टूट जायगी। भरत मुनि के परवर्त्ती आचार्यों ने इस बात को

मानकर ही रस-सिद्धान्त का केवल दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया है। भट्टनायक इत्यादि के कथन में जितना मनोवैज्ञानिक सार मिलता है, उसका मूल्य बहुत बढ़ाया-चढ़ाया नहीं जा सकता। हाँ, रस के साधन के सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिक विचार अवश्य खड़े होते हैं, किन्तु इतनी मनोवैज्ञानिकता तो जीवन के अन्य व्यापारों में भी मिलती है। रस के कारण विभाव मुख्यतः लोकनिष्ठ हैं तथा अनुभावों में शारीरिक चेष्टाओं का उतना ही महत्त्व है, जितना मानसिक। संचारियों का भी वर्गीकरण शारीरिक और मानसिक—इन दो कोटियों में किया गया है। इन सब बातों को देखते हुए यही ठीक मालूम होता है कि रस-सिद्धान्त कला-दर्शन और काव्य-दर्शन का एक प्रमुख अंग है और उसकी व्याख्या इसी दृष्टि से होनी चाहिए। मूल प्रश्न नाट्य और काव्य के साधनों और प्रभाव का है।

रस-सिद्धान्त काव्य के अनुपम आनन्द की व्यवस्थामूलक व्याख्या है। भाव की परिणति रस में होती है और भावोत्कर्ष और रसत्व के लिए भाव के आसपास विभाव, अनुभाव और संचारियों का एक चक्र अथवा मण्डल बनता है। अर्थ यह है कि भाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक संचारी भाव एक समुचित व्यवस्था में एकत्र होकर पारस्परिक सहयोग से अभिन्न रूप से कार्य करते हुए रस-निष्पत्ति सम्पन्न करते हैं। जैसा कि स्पष्ट है, इन विभिन्न साधनों में से एक के भी अभाव में रस की सिद्धि नहीं होती और उनका पार्थक्य रस की सम्भावना में बाधा उत्पन्न करता है। विभिन्न साधनों का औचित्य तथा उनकी सम्यक् योजना रसाभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य रूपेण अपेक्षित हैं। रस की इस व्यवस्थामूलक व्याख्या की समानता कई अनेक पाश्चात्त्य मतों से देखी जा सकती है। अरस्तू ने ट्रेजेडी के छह विभिन्न तत्त्व माने हैं—वस्तु, चरित्र, विचार, शैली, संगीत और दृश्यविधान और उनके एकीकरण से ही काव्य का विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न होता है। जो बात दुःखान्त नाटकों के लिए विस्तारपूर्वक कही गई है, वही ध्यानपूर्वक देखने से समस्त काव्य ही नहीं, वरन् समस्त कला के लिए सत्य सिद्ध होती है। दुःखान्त नाटक में भावातिरेक का शमन किसी भी एक तत्त्व द्वारा नहीं होता, वरन् सहयोग और एकत्र कार्य एवं प्रभाव से होता है। अरस्तू ने भावशमन और मानसिक शान्ति की बात कही है, किन्तु लांजिनस ने काव्य का उद्देश्य उस तीव्र आह्लाद को माना है, जो अपने स्वरूप और प्रभाव में बहुत-कुछ रस के सन्निकट है। लांजिनस के मतानुसार उदात्त से आह्लाद की सृष्टि होती है और औदात्त्य का आविर्भाव पाँच तत्त्वों के उचित चयन और व्यवस्थित उपयोग से होता है। विचारों की गरिमा, भावतीव्रता, विशिष्ट शब्द और पदयोजना, अलंकारों का सुरुचिपूर्ण उपयोग तथा समुचित प्रबन्धत्व—इन पाँच साधनों के समीकृत एवं समन्वित व्यवहार द्वारा ही काव्य का वह उदात्त रूप प्रकट होता है, जो मन में तीव्र आह्लाद उत्पन्न करता है। जैसे आचार्यों ने रस में बाधा उत्पन्न करनेवाले कारणों की परिगणना की है, वैसे ही आह्लाद को बाधित और विनष्ट करनेवाले दोषों का उल्लेख लांजिनस ने भी किया है। रसवादी आचार्यों के समान ही लांजिनस ने भी यह माना है कि अध्ययन और अभ्यास से काव्योचित आह्लाद का आविर्भाव सुगम हो जाता है। मुख्यतः रस-सिद्धान्त नाट्य-अभिनय के सन्दर्भ में विकसित हुआ। आगे चलकर भट्टनायक तथा आनन्दवर्द्धनादि ध्वनिवादी आचार्यों ने उसे समस्त काव्य के

लिए उपयोगी माना। नाटकेतर काव्य में जब हम रस-सिद्धान्त की व्याप्ति मानते हैं, तब सउकी लांजिनस के आह्लादवाद से मौलिक समानता द्रष्टव्य हो जाती है।

अनेक अन्य व्यवस्थावादी विचारक प्राचीन और नवीन युग में हुए हैं। १७वीं शताब्दी के नीतिशास्त्र-विशारद धर्माचार्य बिशप बटलर ने मन के विभिन्न भावों और आकांक्षाओं में समुचित व्यवस्था की आवश्यकता पर बल दिया। उनका मत है कि जीवन के प्रधान नैतिक प्रश्न तभी हल हो सकते हैं, जब हमारे भावों में वैसी ही सुव्यवस्था आ जाय, जैसी किसी सुशासित राज्य के कन्स्टिट्यूशन, अर्थात् संविधान में मिलती है। प्रो० आइ० ए० रिचर्ड्स का काव्यदर्शन भी व्यवस्थावादी है और यद्यपि उन्होंने नवीन दार्शनिक, वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक खोजों का भलीभाँति उपयोग किया है, तथापि उनके विचार मूलतः अरस्तू के विचारों का ही अनुसरण करते हैं। उन्होंने भी कला द्वारा मानसिक व्यवस्था और मानसिक शान्ति उत्पन्न होने की बात कही है।

इस अध्याय के प्रारम्भ में ही हम कह चुके है कि रस की कल्पना भारतीय काव्य-दर्शन की मौलिक उपलब्धि है। अन्य सभी सम्प्रदायवालों ने अपने-अपने पक्ष को महत्त्व देते हुए भी रस की महत्ता को स्वीकार किया है। रस-सिद्धान्त में सूक्ष्म चिन्तन और मानव-मन की क्रियाओं के सम्यक् ज्ञान का अद्भुत मिश्रण मिलता है। प्राचीन आचार्यों के विचार-गाम्भीर्य का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनकी व्याख्या आज भी हो रही है और उनके सम्बन्ध में जितना कहा जा चुका है, उससे कहीं अधिक कहने की गुंजाइश बाकी है। अब यह सर्वस्वीकृत है कि रस-सिद्धान्त अपने व्यापक रूप में समस्त काव्य को सन्निविष्ट कर लेता है, अतः उसकी परिधि को संकुचित मानना ठीक नहीं। व्याप्ति, अनुभूति और चमत्कार सभी की दृष्टि से रस-सिद्धान्त का शीर्षस्थ स्थान है।

## पंचम अध्याय

# शब्द, अर्थ और शक्ति

शब्द और अर्थ के अभिन्न साहचर्य से भाषा का कार्य सम्पन्न होता है। शब्द विचारों और भावों के चिह्न अथवा प्रतीक होते हैं और माध्यम बनकर दूसरों तक उनका प्रेषण करते हैं। चिन्तन के लिए भी शब्दों की आवश्यकता होती है ; क्योंकि सामान्यतः उन्हीं को पकड़कर हमारे विचारों का उदय और विकास होता है। शब्दों के अभाव में मानव-चिन्तन कहाँ तक अग्रसर हो सकता है, यह प्रश्न दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाला है, किन्तु साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से हमारे लिए यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि साहित्यिक प्रकाशन और प्रेषण के लिए शब्दों का माध्यम अनिवार्य रूप से अपेक्षित होता है। महाकवि कालिदास ने वाणी और अर्थ की अभिन्नता को चिरस्मरणीय शब्दों में व्यक्त किया है :

**वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।**
**जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥**

अर्थात्—मैं वाणी के अर्थ की प्रतीति के लिए संसार के माता-पिता, पार्वती तथा शिव की वन्दना करता हूँ, जो एक-दूसरे से उतने ही संश्लिष्ट हैं, जितने वाणी और अर्थ।

शब्द और अर्थ के अभिन्न संयोग से भाषा का सर्जन होता है और उसमें जब चारुत्व का संस्पर्श हो जाता है, तब काव्य का आविर्भाव होता है। चारुता शब्द में, अर्थ में, वाक्य में, और समस्त काव्य में परिलक्षित होती है। शब्द, अर्थ और उनके चमत्कार-पूर्ण एवं रसात्मक सम्मिलन से काव्य की सृष्टि होती है, इस बात को अनेक आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से कहा है। उदाहरणार्थ: "शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली (दण्डी); शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् (भामह)।" अन्य आचार्यों ने भी रमणीय अर्थप्रतिपादक अथवा रसात्मक पदों और वाक्यों को काव्य की संज्ञा प्रदान की है। ध्वनिवादी आचार्यों ने शक्ति और अर्थ की दृष्टि से काव्य की व्याख्या की है। अभिधा, लक्षणा आदि पर विचार करने के उपरान्त उन्होंने ध्वन्यार्थ को ही उत्तम काव्य का विशिष्ट हेतु माना है। इस भाँति हम देखते हैं कि चाहे हम काव्य के कारण और आविर्भाव पर ध्यान दें अथवा उसके प्रभाव पर, शब्द और अर्थ की महिमा समान रूप से सिद्ध होती है।

प्राचीन आचार्यों ने काव्य में शब्द और अर्थ के महत्त्व पर कितना बल दिया है, इसका संकेत हमने अभी ऊपर किया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आधुनिक युग में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा दोनों के ही क्षेत्र में विश्लेषणात्मक पद्धति की उपयोगिता अधिकाधिक स्वीकार की जा रही है और शब्द, उसकी विभिन्न शक्तियों, तथा प्रकरण से अर्थभेदों के आधार पर काव्य का अध्ययन तथा विवेचन हो रहा है। जिस

भाँति हमारे देश में वैयाकरणों, मीमांसकों, नैयायिकों आदि ने शब्द की क्षमता पर गम्भीर चिन्तन किया है, उसी भाँति यूरोपीय पण्डितों ने भी। यूरोप और अमेरिका के आधुनिक विद्वानों ने शब्द और अर्थ के स्वरूप, उनके भेद-प्रभेद और उनके विभिन्न प्रयोगों पर विचार करने के उपरान्त ऐसे निष्कर्ष निकाले हैं, जो साहित्यिक आलोचना की दृष्टि से बहुमूल्य हैं। सच तो यह है कि पिछले ४० वर्षों में अमेरिका और इंगलैण्ड में विकसित होनेवाली 'नवीन आलोचना' शब्द-शक्तियों के सूक्ष्म अध्ययन पर ही आधृत है। सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि शब्द और अर्थ-सम्बन्धी भारतीय और पाश्चात्त्य चिन्तन में असाधारण समानता है।

काव्य में भाषा का असाधारण एवं चमत्कारपूर्ण प्रयोग होता है। यह वैशिष्ट्य किसी अंश में विचारों और भावों के आकर्षण से उद्भूत होता है। किन्तु, उसका रहस्य बहुत-कुछ शब्दों के कौशलपूर्ण प्रयोग में मिलता है। सफल कवि शब्दों का परखनेवाला होता है और उनकी विभिन्न शक्तियों से स्वभावतः परिचित होता है। वह उनके साधारण अर्थबोध के अतिरिक्त उनके उच्चतर कार्यों की सम्भावना का ज्ञान रखता है और आवश्यकतानुसार उनका उपयोग करता है; वाच्यार्थ के अतिरिक्त लक्ष्यार्थ, तात्पर्यार्थ आदि को पहचानता तथा व्यंग्यार्थ को ग्रहण करता है। आधुनिक शब्दावली में हम यह कहेंगे कि काव्यात्मक भाषा की विशेषता यह है कि उसमें लय, रूपक, बिम्ब, प्रतीक आदि की समुचित नियोजना होती है और उसमें सम्बन्ध और प्रकरण के असामान्य अर्थ की प्रतीति होती है। अतः काव्य में शब्द और उसकी विभिन्न शक्तियों का व्यवहार अत्यन्त दक्षतापूर्ण रीति से किया जाता है।

'शब्द' भाषा की अन्विति है। वैसे तो वर्णों के संयोग से भाषा बनती है, किन्तु जब वर्ण शब्दों के रूप में नियोजित हो जाते हैं, तभी उनमें अर्थोत्पादन की क्षमता आती है। ओष्ठ, दन्त, तालु, कण्ठ आदि स्वर-संस्थानों की सम्यक् क्रिया से शब्द उच्चरित होते हैं। शब्दों के ऊपर अधिकार मनुष्य ने विकास-क्रम में बहुत पहले ही प्राप्त कर लिया था और अबतक वह मानव-जाति का भेदक गुण बना हुआ है। दान्ते ने लिखा है कि केवल मनुष्य ही भाषा का प्रयोग करता है, पशुओं की कोई भाषा नहीं होती तथा देवता और देवदूत एक-दूसरे का मन्तव्य सहज ज्ञान से जान लेते हैं। शब्द का प्रारम्भिक रूप मौखिक था, अर्थात् एक साथ उच्चरित होनेवाले सार्थक ध्वन्यंश शब्द कहलाते थे। आगे चलकर शब्द का लिखित रूप प्रकट हुआ, जो चिह्नों द्वारा मौखिक शब्द की अभिव्यक्ति करता था। अब मौखिक और लिखित, शब्दों के दोनों रूप, लोक-प्रचलित हैं। प्रत्येक शब्द से किसी पदार्थ, किसी क्रिया, किसी गुण अथवा किसी सम्बन्ध या जाति का पता चलता है। शब्दों का अर्थ अथवा संकेत बहुत-कुछ निश्चित होता है; क्योंकि ऐसा न होने पर भाषा का अभीष्ट व्यापार असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जायगा। किन्तु, समय के साथ तथा प्रसंग और प्रकरण-भेद से एक ही शब्द के कई अर्थ हो जाते हैं, जो आपस में सम्बद्ध होने पर भी भिन्न प्रतीत होते हैं। इसी भाँति शब्द कभी प्रचलित रहते हैं और कभी अप्रचलित हो जाते हैं। प्रयोग और प्रसार से ही उनमें जीवनी शक्ति का विकास होता है। अन्यथा वे मृतवत्

शब्दकोष के कोने में पड़े रहते हैं। कोई समर्थ कवि या लेखक निर्जीव शब्दों को पुनः प्रयोग में लाकर सजीव बना देता है। शब्दों का कार्य इसी प्रकार चलता रहता है। वैसे तो सभी शब्द सार्थक और उपयोगी होते हैं, किन्तु भाषा में संज्ञा और क्रिया का विशेष महत्त्व है। संज्ञा किसी पदार्थ अथवा गुण के नाम को कहते हैं। पहले लोग यह मानते थे कि संज्ञा तथा उससे बोध होनेवाले पदार्थ में पूर्ण तादात्म्य होता है। अर्थात् 'अश्व' शब्द में अश्व नामक प्राणी की सभी विशेषताओं का सन्निवेश होता है। व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के सम्बन्ध में इस विश्वास का स्पष्ट पता चलता है। प्राचीन काल में जादू-टोना करनेवाले जब किसी व्यक्ति-विशेष को हानि पहुँचाना चाहते थे, तब उसके नाम को लिखकर उसपर विभिन्न प्रकार के प्रयोग करते थे। आगे चलकर इस प्रकार का विश्वास भ्रममूलक सिद्ध हुआ और अब हम मानते हैं कि संज्ञा से पदार्थ का सामान्य संकेत मिलता है, दोनों में पूर्ण एकरूपता होना अनिवार्य नहीं है। क्रिया से गति और व्यापार का बोध होता है और वह भाषा का प्राण है। साहित्यिक भाषा में विशेषणों और क्रियाविशेषणों के सुरुचिपूर्ण उपयोग से सौन्दर्य का का आविर्भाव होता है। सम्बन्धसूचक शब्दों से वाक्य का अर्थ सुनिश्चित बनता है। भारतीय आचार्यों ने शब्द के तीन प्रमुख भेद माने हैं। वाचक, लक्षक और व्यंजक। इसी प्रकार, पाश्चात्त्य विद्वानों ने शब्दों को दो प्रमुख कोटियों में बाँटा है—ऐसे शब्द, जिनका प्रधान प्रयोजन किसी वस्तु अथवा तथ्य का ज्ञान कराना होता है और ऐसे शब्द, जिनसे मुख्यतः भावनात्मक प्रतिक्रिया का पता चलता है।

शब्द में अर्थ अनिवार्य रूप से निहित रहता है। शब्द और अर्थ के अभिन्न और और अनिवार्य सम्बन्ध के बारे में हम ऊपर लिख आये हैं। प्रत्येक शब्द अथवा पद का एक निश्चित अर्थ होता है, जिसे सुबोध श्रोता अथवा पाठक जानता है। अतः, शब्द के पढ़ने अथवा सुनने पर अर्थ तत्क्षण उसके मन में उभर आता है। पाठक की सुरुचि और ज्ञान के अतिरिक्त स्वयं शब्दों में ऐसी शक्ति होती है, जिससे उनके अर्थ का उद्घाटन होता है। शब्द-शक्ति को व्यापार अथवा वृत्ति का नाम दिया गया है। संक्षेप में शक्ति अथवा व्यापार द्वारा पद से पदार्थ का ज्ञान होता है। शब्द कारण है, जैसे मिट्टी घट का कारण है। कुम्हार डंडे से चाक को परिचालित करता है, तभी मिट्टी से घड़ा प्रकट होता है। इसी भाँति शब्द-रूपी कारण से एक विशेष व्यापार द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। शब्दों के कई प्रकार के व्यापार माने गये हैं, किन्तु आचार्यों ने अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—इन तीन शक्तियों को ही विशेष रूप से स्वीकृति प्रदान की है। इनके अतिरिक्त तात्पर्य-वृत्ति अथवा 'शक्ति' भी विचारणीय है।

अर्थ के सम्बन्ध में भारतवर्ष तथा अन्य देशों में विस्तृत रूप से विचार किया गया है। उदाहरणार्थ, प्रो० आइ० ए० रिचर्ड्स ने मुख्य रूप से चार प्रकार के अर्थों का उल्लेख किया है : १. सेन्स, २. फीलिंग, ३. टोन, ४. इण्टेन्शन। सेन्स से प्रयोजन है अभिधेयार्थ का। किसी शब्द अथवा वाक्यांश से जब किसी पदार्थ अथवा तत्त्व का सामान्य बोध होता है, तब यह शक्ति अपना कार्य करती है। जब सरल, सुबोध और यथातथ्य अभिव्यक्ति अपेक्षित होती है, तब इस शक्ति का प्राधान्य होता है। फीलिंग से इमोटिव मीनिंग का

आविर्भाव होता है। जो कुछ कहा अथवा लिखा जाता है, उसमें केवल सूचना अथवा तथ्य-कथन का अभिप्राय नहीं होता। अभिव्यक्ति लेखक की भावनात्मक प्रतिक्रियाओं से अनुरंजित होती है। काव्य में इसी प्रकार के प्रकाशन का प्राधान्य होता है। वक्ता अथवा लेखक का श्रोता अथवा पाठक के प्रति क्या दृष्टिकोण अथवा व्यवहार होता है, इससे टोन निर्धारित होता है। उसका रुख विद्रोही है, सहानुभूतिपूर्ण है, अथवा तटस्थ है, यह उसके शब्दों और वाक्यों में परिलक्षित होता है और अर्थ के स्वरूप-निर्धारण का आधार बनता है। ऐसे ही इण्टेन्शन अथवा प्रयोजन का भी महत्त्व है। लेखक तथ्य-निरूपण, प्रभावोत्पादन, तर्क-वितर्क अथवा किसी इतर प्रयोजन से प्रेरित है, इस बात का अर्थ से सीधा सम्बन्ध है।

आइ० ए० रिचर्ड्स महोदय का अर्थ-सम्बन्धी चिन्तन अत्यन्त सारगर्भित है, अतः उसपर कुछ और विचार कर लेना आवश्यक है। अपने प्रारम्भिक ग्रन्थ 'दी मीनिंग ऑफ मीनिंग' में आग्डन और रिचर्ड्स ने शब्दों के मुख्यतः रेफरेन्शल मीनिंग, अर्थात् अन्वितार्थ पर ही विचार किया है। सामान्य प्रयोग में आनेवाले बहुत-से शब्द निश्चित अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। जब हम कलम, दावात आदि सुपरिचित पदार्थों का नाम लेते हैं, तब अर्थ के सम्बन्ध में कोई भ्रम नहीं रहता। इसी प्रकार कतिपय पारिभाषिक शब्द रूढ़ होकर स्थिर अर्थ प्रदान करते हैं, किन्तु भाषा के अधिकांश शब्दों में सुनिश्चित स्थिरता नहीं मिलती और इसलिए उनके स्वभाव और परिवर्त्तनशील स्वरूप का ज्ञान लेखक और पाठक, वक्ता और श्रोता, सभी के लिए सहायक सिद्ध होता है। बहुत-से शब्द ऐसे होते हैं, जिनमें अर्थ के अनेक स्तर समाहित रहते हैं। जब शब्द रूढिग्रस्त, अत्यधिक अमूर्त्त एवं अस्पष्ट संकेतवाले होकर प्रयुक्त होते हैं, तब वे सम्यक् चिन्तन के मार्ग में बाधा उत्पन्न करते हैं। अक्सर विचारों में दिखाई पड़नेवाली उलझन अनुपयुक्त शब्दों से उत्पन्न होती है। शब्दों के उचित ज्ञान और प्रयोग से चिन्तन में सुस्पष्टता तथा लेखन में वैशिष्ट्य का आविर्भाव होता है। आगे चलकर अपने सुविख्यात ग्रन्थ 'दी प्रिन्सिपुल्स ऑफ् लिटरेरी क्रिटिसिज्म' में उन्होंने इमोटिव मीनिंग अर्थात् भावात्मक अर्थ पर विशेष बल दिया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि काव्य के लिए अन्वितार्थ की अपेक्षा भावात्मक अर्थ कहीं अधिक आवश्यक और उपयोगी होता है। कवि केवल सूचना नहीं प्रेषित करता और न केवल तथ्यों का ज्ञान बढ़ाने के लिए लिखता है। वह अपनी अनुभूति, प्रेरणा तथा भाव-विह्वलता दूसरों तक भाषा के माध्यम से प्रेषित करता है। उसकी भावनाएँ जब शब्दों को अनुप्रेरित और अनुरंजित कर देती हैं, तभी वे प्रेषण का कार्य करने में समर्थ होते हैं। अपने ग्रन्थ 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' में रिचर्ड्स महोदय ने जिन चार प्रकार के अर्थों की चर्चा की है, उनका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। 'सेन्स' से अभिप्राय रेफरेन्शल मीनिंग, अर्थात् अन्वितार्थ से है और 'फीलिंग' इमोटिव मीनिंग अर्थात् भावात्मक अर्थ का ही दूसरा नाम है। रिचर्ड्स ने अर्थ की स्थिति लय में भी मानी है। उनके मतानुसार लय केवल ध्वनियों की नियोजना-मात्र नहीं है, अपितु भाषा की तह में रहनेवाला सारभूत तत्त्व है। अर्थ के प्रकाशन तथा अर्थबोध दोनों में लय का हाथ रहता है।

रिचर्ड्स के शिष्य और प्रमुख अनुयायी एम्पसन ने अपने गुरु से कुछ बातों में मतभेद प्रकट किया है। उनका कहना है कि हम सेन्स और फीलिंग को पृथक् नहीं कर सकते; क्योंकि वे एक-दूसरे के विरोधी नहीं, वरन् पूरक हैं। हम यह नहीं कह सकते कि भावनाएँ सदैव कुंठित होती हैं। सच तो यह है कि परिस्थिति के सम्यक् ज्ञान हो जाने पर भावनाएँ सबल और सुदृढ़ हो जाती हैं तथा यह भी देखा जाता है कि भावनाओं के उत्थान के साथ निरीक्षण और ग्रहण की शक्ति प्रखर हो उठती है। स्वयं रिचर्ड्स महोदय ने अपने बाद के ग्रन्थों में अपने पूर्व-प्रतिपादित इमोटिव मीनिंग-सम्बन्धी मत को ही दुहराया है तथा काव्य के मूल्यांकन में कानटेक्स्ट, अर्थात् प्रसंग के महत्त्व पर भी विस्तारपूर्वक लिखा है। सम्यक् अर्थबोध के लिए प्रसंग का ज्ञान अत्यावश्यक है। वाक्य में प्रत्येक शब्द दूसरे शब्दों के साथ निबद्ध होता है, और शब्द एक-दूसरे को अनुप्राणित करते रहते हैं। इसके साथ ही प्रत्येक शब्द का अर्थ वाक्य के पूरे अर्थ के प्रसंग में ही प्रकट होता है। अतः हम शब्दों को बिलकुल अलग नहीं ले सकते। शब्दों का सम्बन्ध परम्परागत प्रयोग से भी निर्धारित होता है, अतः हमें एक तीसरे प्रकार के प्रसंग की कल्पना भी करनी पड़ती है। साहित्य में प्रयुक्त शब्दों से सुबुद्ध पाठकों के मन में स्मृतियाँ जागरित होती हैं। भाषा में ये तीनों प्रकार के प्रसंग गुम्फित होते हैं और इन्हीं के सुनियोजित होने पर भाषा समृद्ध बनती है। रिचर्ड्स महोदय की इन स्थापनाओं से जटिल भाषा-शैली को प्रश्रय और समर्थन मिला है। उन्होंने 'पोइट्री ऑफ एक्स्क्लूजन' तथा 'पोइट्री ऑफ इनक्लूजन' अर्थात् ऐकान्तिक काव्य और समन्वय-काव्य में भेद किया है। ऐकान्तिक काव्य में बहुत-सी बातें अनावश्यक तथा अनुपयुक्त मानकर छोड़ दी जाती हैं। जैसे, किसी प्रेमी के विरह-वर्णन में घर की मेज, कुर्सियों तथा होटल के बिल आदि का वर्णन नहीं आयगा; क्योंकि उनके लिए कोई उचित स्थान नहीं प्रतीत होता। ऐकान्तिक काव्य के लिए बहुत-सी बातें अनर्गल और त्याज्य होती हैं। समन्वय-काव्य में अधिक-से-अधिक संकेतों, सूचनाओं, तथ्यों आदि का संग्रह होता है। अर्थात्, उसमें विविध प्रसंगों का संयोग मिलता है। सरल मुक्तकों को हम ऐकान्तिक काव्य के उदाहरणस्वरूप ले सकते हैं तथा टी० एस्० इलियट का काव्य समन्वय-काव्य का उत्कृष्ट नमूना है। काव्य में सरलता के समर्थक अनेक विद्वानों ने रिचर्ड्स के प्रसंग-सम्बन्धी विचारों से मतभेद प्रकट किया है; क्योंकि उनके स्वीकार करने पर सीधी-सादी कविता, जो कभी-कभी बड़ी ही रोचक प्रतीत होती है, नगण्य सिद्ध हो जाती है। किन्तु, यह तो मानना ही पड़ेगा कि रिचर्ड्स के विचार अत्यन्त चमत्कारपूर्ण हैं।

प्रसंग अथवा प्रकरण का महत्त्व भारतीय आचार्यों ने भी माना है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में शब्द से अर्थ का बोध करानेवाले जिन १४ या १५ उपकरणों का उल्लेख किया है, प्रकरण उनमें प्रमुख स्थान रखता है। ऐसे ही, व्यंजना के निरूपण में प्रकरण को विशेष महत्त्व दिया गया है। वक्ता कौन है, किससे कह रहा है, किस परिस्थिति में कौन बात कह रहा है, जब सहृदय को इन बातों का ज्ञान हो जाता है, तभी व्यंग्यार्थ की सम्यक् प्रतीति सम्भव होती है। इसी बात को ब्लूमफील्ड नामक विद्वान् ने इस प्रकार लिखा है :

"If we had an accurate knowledge of every speaker's situation and of every hearer's response—we could simply register these two facts as the meaning of any given speech-utterance and neatly separate our study from all other domains of knowledge."

अर्थात्, यदि हमें प्रत्येक वक्ता की स्थिति तथा प्रत्येक श्रोता की प्रतिपत्ति का पूर्ण ज्ञान हो, तो केवल इन्हीं दो वस्तुओं को हम किसी कथन के अर्थरूप में लिपिबद्ध कर सकते हैं तथा अपने अध्ययन के विषय को समस्त ज्ञान के अन्य क्षेत्रों से अच्छी तरह अलग कर सकते हैं।

वस्तुतः, प्रकरण का सम्बन्ध लेखक और पाठक की विशिष्ट मनोदशा से रहता है। व्यंग्यार्थ-विवेचन के सन्दर्भ में भारतीय मत यही इंगित करता है। आग्डन, रिचर्ड्स आदि के कॉनटेक्स्ट-सम्बन्धी विचारों का मूल स्रोत मनोविज्ञान में ही मिलता है। यद्यपि रिचर्ड्स ने 'द फिलॉसफी ऑफ रिटारिक' में जो नव्य सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं, उन तक पहुँचने में शब्दों के स्वभाव, उनके साहचर्य के नियम, उनके एसोसिएशन, अर्थात् संगति तथा वाक्य की व्यवस्था आदि पर विशेष ध्यान दिया गया है।

मेटाफर, अर्थात् रूपक प्राच्य और पाश्चात्त्य विद्वानों के अध्ययन और चिन्तन का विषय सदैव बना रहा है। नाट्यशास्त्र से कुवलयानन्द तक आलंकारिकों का ध्यान रूपक ने विशेष रूप से आकृष्ट किया है। उधर यूरोप में अरस्तू, क्विण्टिलियन आदि प्राचीन आचार्यों ने मेटाफर को अलंकारों में शीर्ष स्थान प्रदान किया है। नवजागरण-काल से आज तक वाग्मिताशास्त्र और शैली-विषयक असंख्य पुस्तकों में मेटाफर के स्वरूप और महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। प्रायः सभी प्राच्य और पाश्चात्त्य आचार्य रूपक को केवल एक अलंकार-मात्र मानते आये हैं, यद्यपि अलंकारों की श्रेणी में वे उसे सदैव मूर्धन्य स्थान देने के लिए तैयार रहे हैं। पिछले चालीस-पचास वर्षों में मेटाफर के बारे में नये सिरे से विचार किया गया है और यह तथ्य उद्घाटित हुआ है कि मेटाफर अथवा रूपक में अर्थ के कम-से-कम दो स्तर समन्वित होकर एकरूप हो जाते हैं : उपमा अर्थात् सिमली भी सादृश्यमूलक अलंकार है, किन्तु उसमें अर्थ के दोनों पक्ष एकीकृत नहीं होते। मेटाफर के बारे में रिचर्ड्स महोदय ने कई नई बातें कही हैं। उसकी तुलना उन्होंने लिन्चिपिन अर्थात् अक्षकील से की है तथा उसे ट्रेन्जैक्शन ऑफ कॉनटेक्स्ट्स अर्थात् प्रकरणों का आदान-प्रदान माना है। मेटाफर का उन्होंने विश्लेषण करके उसे दो तत्त्वों में विभक्त किया है : टेनर और वेहकिल। टेनर सरल रूपकों में अर्थ के केवल एक या दो स्तर होते हैं, किन्तु अपेक्षाकृत जटिल रूपकों में कभी-कभी अर्थ के छह-सात स्तरों का संघात मिलता है। आधुनिक कविता की दुरूहता बहुत-कुछ रूपकों की जटिलता के कारण है, किन्तु प्राचीन साहित्य में भी सरल और जटिल दोनों प्रकार के रूपकों के उत्कृष्ट नमूने मिलते हैं।

एम्पसन और रिचर्ड्स के ऐम्बिग्विटी-सम्बन्धी विचारों का संक्षिप्त उल्लेख भी आवश्यक है। रिचर्ड्स महोदय ने ऐम्बिग्विटी अर्थात् अस्पष्टता को भाषा का अनिवार्य और आधारभूत तत्त्व बताया है। उनके सहयोगी एम्पसन का सात प्रकार की अस्पष्टताओं

का अध्ययन अत्यन्त सराहनीय है। ऐम्बिग्विटी का वास्तविक अर्थ है किसी कथन को दोहरा अथवा अनिश्चित अर्थ प्रदान करना। सामान्यतः यह भाषा का दोष है। यदि कोई ऐसी बातें कहे, जिनसे उसके अभिप्राय का ठीक-ठीक पता न चले, तो हम ऐसे कथन को निश्चय ही दोषपूर्ण मानेंगे। विज्ञान, तर्क आदि की भाषा में तो इस प्रकार के द्व यर्थक प्रयोग अक्षम्य होते हैं। किन्तु, ऐम्बिग्विटी शब्द ने साहित्यिक प्रकरण में अब एक नवीन अर्थ ग्रहण कर लिया है। उससे उस शक्ति का बोध होता है, जिसके द्वारा किसी कथन से अनेक अर्थों की उपलब्धि होती है। अनेकार्थक कथनों का साहित्य में प्रचुर प्रयोग होता है और शिष्ट समाज की भाषा में दैनिक व्यवहार में भी उससे कुछ-न-कुछ चमत्कार तो अवश्य ही आ जाता है। एम्पसन का आग्रह है कि ऐम्बिग्विटी से भाषा में सूक्ष्म प्रभाव, न्यूएन्सेस, उत्पन्न होते हैं। एम्पसन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में निम्नलिखित सात प्रकार की अस्पष्टताओं का विवेचन करके उनके प्रभूत उदाहरण साहित्य से प्रस्तुत किये हैं :

१. शब्द अथवा वाक्य-विन्यास एक ही साथ अनेक अर्थों की उपलब्धि कराता है।

२. जब दो या उससे भी अधिक अर्थ लेखक के अभिप्रेत मुख्यार्थ के सहयोगी बनकर आते हैं।

३. जब एक ही शब्द अथवा पद के दो अर्थ एक विशिष्ट प्रसंग में उपयुक्त प्रतीत होते हैं।

४. जब किसी एक कथन के दो अर्थों का परस्पर सामंजस्य नहीं बैठता, किन्तु वे दोनों मिलकर लेखक की मनःस्थिति का ज्ञान कराते हैं।

५. जब दो पदार्थ अपूर्ण रह जाते हैं और लेखक का दोनों के प्रति समान आकर्षण प्रतीत होता है तब इस प्रकार अनिश्चितता उत्पन्न होती है।

६. जब किसी कथन में निरर्थक रूप से शब्द दुहराये जाते हैं। वाक्यांशों आदि से कुछ पता नहीं चलता, अतएव पाठक स्वयं अर्थ निर्धारित करता है। इस प्रकार के निर्धारित अर्थों में वैषम्य होना स्वाभाविक है।

७. जब दो अर्थ आपस में विरोधी होते हैं और उनसे लेखक के मन में उत्पन्न विरोध का पता चलता है।

हम देख चुके हैं कि भारतीय आचार्यों के मत से अर्थ के तीन प्रमुख भेद होते हैं : वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ। एक चौथे प्रकार के अर्थ, तात्पर्यार्थ को कतिपय आचार्यों ने स्वीकृति प्रदान की है, यद्यपि उसके सम्बन्ध में मतभेद भी मिलता है। वाच्यार्थ की उपलब्धि अभिधा-व्यापार के योग से होती है। मम्मटाचार्य की कारिका निम्नलिखित है :

**साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः,** अर्थात् साक्षात् संकेत किये गये अर्थ को जो शब्द अभिधा-व्यापार द्वारा बोधित कराता है, वही वाचक कहलाता है। वाचक शब्दों से प्राप्त अर्थ को ही वाच्यार्थ कहते हैं। मम्मट की अभिधा-सम्बन्धी कारिका निम्नलिखित है :

**स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते,** अर्थात् शब्द के कहे जाने पर बिना विलम्ब ही जिस अर्थ की प्रतीति होती है, उसी अर्थ को मुख्य कहते हैं और जिस व्यापार के द्वारा इसका ज्ञान होता है, उसे अभिधा कहते हैं।

अभिधा से जो अर्थ मिलता है, उसे सामान्यतः मुख्यार्थ कहते हैं ; क्योंकि दैनिक जीवन में भाषा के साधारण और सुनिश्चित प्रयोग से ही मानव-व्यापार चलता है। साहित्य में भी अभिधा और मुख्यार्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुछ आचार्यों ने तो अभिधा को लक्षणा और व्यंजना की तुलना में वरीयता प्रदान की है। यदि हम उनसे सहमत न हों, तब भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि अनन्तकाल से अर्थ-स्फुटता और कथन की सफाई को काव्य का गुण मानते आये हैं। पाश्चात्त्य विद्वानों ने क्लैरिटी, पर्सपिक्युटी आदि को गद्य का ही नहीं, अपितु पद्य का भी उत्कृष्ट गुण माना है। बिना मुख्यार्थ-बोध के लक्षणा और व्यञ्जना का कार्य नहीं हो सकता, जैसे बिना नींव के घर नहीं बन सकता। अतः, यद्यपि अभिधा में प्रत्यक्षरूपेण वह चमत्कार नहीं है, जो लक्षणा और व्यञ्जना में, तथापि उसकी उपादेयता तथा उसके विस्तार को मानना ही पड़ेगा।

अभिधा-व्यापार द्वारा वाचक शब्दों से अर्थ का प्रत्यक्ष संकेत मिलता है; जैसे 'गौ' शब्द कहने से तत्काल एक विशिष्ट प्रकार के पशु का बोध होता है। पद और तद्विषयक पदार्थ में निश्चित सम्बन्ध होता है। अतः एक विशेष शब्द से एक विशेष पदार्थ का ही ज्ञान होना अनिवार्य है। बचपन से ही हम शब्द और पदार्थ के इस निश्चित सम्बन्ध को जानने लगते हैं और जैसे-जैसे अनुभव बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे हमारा सम्बन्ध-ज्ञान अधिकाधिक समृद्ध बनता जाता है। संकेत-ग्रह के बारे में दार्शनिकों, वैयाकरणों, आलंकरिकों आदि में पर्याप्त मतभेद मिलता है। जब हम 'घर' अथवा 'गौ' शब्द कहते हैं, तब हमारा संकेत जाति से है अथवा व्यक्ति से, इस प्रश्न को लेकर दीर्घकाल तक वाद-विवाद चलता रहा। यदि कोई कहे, गाय सड़क पर जा रही है, तो उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि गाय-जाति के सभी प्राणी सड़क पर चल रहे हैं। उसका प्रयोजन केवल एक विशेष गाय से है। किन्तु, यद्यपि संकेत किसी गाय-विशेष की ओर है, तथापि 'गाय' शब्द के उच्चारण-मात्र से जाति का ध्यान मन में हो जाता है। फलतः, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संकेत जाति और व्यक्ति दोनों का है। पाश्चात्त्य तर्कशास्त्र में कहते हैं कि वह जेनरिक है और स्पेसिफिक भी। कुछ नाम तो वक्ता की इच्छा पर ही निर्भर करते हैं, जैसे व्यक्तियों, शहरों आदि के नाम। संक्षेप में चार अर्थों में संकेत-ग्रह होता है—जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा। शक्तिग्रह के आठ साधन माने गये हैं—व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यारोप, विवृति तथा सिद्धपदसान्निध्य। संकेतग्रह-सम्बन्धी विस्तृत वाद-विवाद में विभिन्न मत प्रकट किये गये हैं। कुछ लोगों ने संकेत की स्थिति जाति में, कुछ लोगों ने व्यक्ति में और अन्य लोगों ने उपाधि आदि में मानी है। बौद्ध दार्शनिकों का कहना है कि संकेतग्रह अपोह में होता है। पाश्चात्त्य तर्कशास्त्र में आरम्भ से ही शब्द से अर्थ का संकेत किस प्रकार होता है, इस समस्या पर विचार होता आया है। जैसा हम कह चुके हैं, आग्डन और रिचर्ड्स ने 'दी मीनिंग ऑफ् मीनिंग' में शब्द की विवेचना उसे चिह्न अथवा प्रतीक मानकर मुख्यतः उसके अभिधेय अर्थ की दृष्टि से ही की है।

सामान्यतः अभिधा के तीन भेद माने गये हैं : १. रूढ, २. योग और ३. योगरूढ। रूढ शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं होती, वे केवल परम्परा से किसी अर्थ-विशेष का द्योतन करते

आये हैं। जैसे 'घोड़ा' शब्द परम्परा से एक प्राणिविशेष का नाम है। योग शब्दों में प्रकृति और प्रत्यय का योग रहता है; जैसे पाचक। योगरूढ में प्रथम दोनों प्रकार के शब्दों के सम्मिश्रण से एक नवीन अर्थ की प्रतीति होती है; जैसे जलज से कमल का संकेत।

अभिधा-शक्ति से मुख्यार्थ का प्रत्यक्ष संकेत द्वारा बोध होता है, किन्तु दैनिक जीवन में कभी-कभी ऐसा होता है कि वाच्यार्थ छिप जाता है और उससे सम्बद्ध अमुख्यार्थ ही सामने आता है। भाषा के साहित्यिक प्रयोग में ऐसे अवसर निरन्तर आते रहते हैं। मुख्यार्थ को बाधित करके अमुख्यार्थ को महत्त्व देने की क्रिया या तो लोकप्रचलित व्यवहार पर आधृत होती है अथवा प्रभावोत्पादन के प्रयोजन से प्रेरित होती है। शब्द का वह व्यापार, जिसमें रूढि अथवा प्रयोजनवश शब्द का मुख्यार्थ बाधित होता है, किन्तु उसी से सम्बद्ध अमुख्यार्थ प्रकाशित होता है, लक्षणा कहलाता है। इस भाँति लक्षणा के लिए तीन बातें आवश्यक हैं: १. मुख्यार्थबाध, २. मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ का आवश्यक सम्बन्ध, ३. रूढि अथवा प्रयोजन का कारण-रूप में विद्यमान होना। लक्षणा के इसी स्वरूप का सुन्दर एवं स्पष्ट प्रतिपादन मम्मटाचार्य ने निम्नलिखित कारिका में किया है:

**मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।**
**अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया॥**

मुख्यार्थ का बाध होने पर परम्परा या प्रयोजनवश जिस व्यापार से मुख्यार्थ-सम्बद्ध अर्थ प्राप्त हो, उसे लक्षणा-शक्ति कहते हैं। यह लक्षणा मूलतः अर्थ का व्यापार है—शब्द में तो वह आरोपित है।

रूढि और प्रयोजन के आधार पर लक्षणा के दो प्रमुख भेद हैं: निरूढा और प्रयोजनवती। इन दोनों के क्रमशः उदाहरण हैं:

**१. कर्मणि कुशलः, २. गङ्गायां घोषः।**

'कुशल' शब्द का अर्थ होता है कुश को उखाड़कर घर लानेवाला। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए चतुरता अपेक्षित है; क्योंकि शास्त्रीय विधि के अनरूप कुश को अपने हाथ को क्षति पहुँचाये बिना वही उखाड़ सकते हैं, जो सतर्क रहते हैं। जब हम कहते हैं कि कोई व्यक्ति कार्यकुशल है, तब हमारा अभिप्राय यह होता है कि वह कार्य करने में दक्ष है। व्यवहार में यही अर्थ प्रचलित हो गया है। किन्तु, मुख्यार्थ से सम्बद्ध होने पर भी वह उससे भिन्न है। अतः, यह निरूढा लक्षणा का एक उपयुक्त उदाहरण है। दूसरे वाक्य में अभिधा से तो केवल यह अर्थ प्राप्त होता है कि गंगा में अहीरों की बस्ती है; क्योंकि गंगा का वाच्यार्थ है—गंगा की प्रवाहित होनेवाली धारा। कहनेवाले का प्रयोजन है कि गंगातट पर जहाँ अहीरों की बस्ती है, वहाँ वही शीतलता और पावनता है, जो गंगा की धारा में है। इस प्रकार 'गङ्गायां घोषः' प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण प्रस्तुत करता है। कतिपय आचार्यों का मत है कि लक्षणा सदा प्रयोजनवती होती है। जिसे हम निरूढा कहते हैं, उसमें कोई प्रयोजन अवश्य छिपा रहता है। यह तो ठीक ही है कि प्रत्येक कथन अथवा कार्य में हम कोई-न-कोई प्रयोजन ढूँढ़ सकते हैं, किन्तु लक्षणा

के अनेक उदाहरण ऐसे मिलते हैं, जिनमें रूढि का अंश प्रमुख और प्रयोजन गौण रहता है। ऐसे स्थलों पर निरूढा लक्षणा को मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। तब भी विशेष महत्त्व प्रयोजनवती लक्षणा का ही है और उसीके दो भेद गूढव्यंग्या और अगूढव्यंग्या चारुत्व और सूक्ष्म प्रभाव के कारण उसे व्यंजना के निकट पहुँचा देते हैं। इसी भाँति इस प्रश्न पर भी मतभेद है कि लक्षणा पद में होती है अथवा वाक्य में। विश्वनाथ ने लक्षणा को पद के अतिरिक्त वाक्य की शक्ति के रूप में भी माना है। किन्तु, अधिकांश आचार्य उसे पद का ही व्यापार मानते हैं।

साहित्यदर्पणकार ने लक्षणा के कुल मिलाकर ८० भेद माने हैं, निरूढा के सोलह और प्रयोजनवती के चौंसठ। इस तालिका के निरीक्षण से अनावश्यक विस्तार की प्रवृत्ति का पता चलता है। अतः, काव्य-प्रकाश के आधार पर लक्षणा के तेरह भेद और उपभेद मानना ठीक होगा। संक्षेप में लक्षणा के भेद इस प्रकार हैं : रूढा, गौणी, प्रयोजनवती के दो भेद, सारोपा और साध्यवसाना। शुद्धा प्रयोजनवती के चार भेद, सारोपा, साध्यवसाना, उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा। प्रयोजनवती लक्षणा के ६ भेदों को गूढव्यंग्या और अगूढव्यंग्या—इन दोनों रूपों में लेने से कुल संख्या १२ हो जाती है और रूढा को लेकर लक्षणा के तेरह भेद होते हैं। मम्मट ने रूढा के किसी भेद अथवा उपभेद का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु, साहित्यदर्पणकार ने उसके सोलह भेद माने हैं। उन्होंने पदगत के अतिरिक्त वाक्यगत लक्षणा की भी कल्पना की है। इन्हीं कारणों से उनकी तालिका बहुत विस्तृत हो गई है।

यूरोपीय वाङ्मय में मेटाफर का क्या महत्त्व है और उसके बारे में जिस नवीन पद्धति से विचार हो रहा है, इसकी चर्चा हम ऊपर कर आये हैं। यहाँ यह कह देना पर्याप्त होगा कि मेटाफर पाश्चात्त्य काव्यशास्त्र में लक्षणा का प्रमुख रूप है। हम इसकी तुलना सारोपा लक्षणा से कर सकते हैं। सारोपा लक्षणा और रूपक अलंकार का घनिष्ठ सम्बन्ध तो प्राचीनकाल से स्वीकृत है। अब यह माना जाने लगा है कि रूपक केवल काव्य के अलंकरण का साधन-मात्र नहीं है, अपितु अर्थ की लाक्षणिक अभिव्यक्ति में उसका प्रमुख हाथ रहता है। सारोपा का लक्षण इस प्रकार है : **आरोप्यमान आरोपविषयश्च यत्रानपह्नुतभेदौ सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते सा लक्षणा सारोपा,** अर्थात् जो आरोपित किया जाता है, वह (आरोप्यमाण) विषयी है और जिसपर आरोप किया जाता है, वह आरोप का विषय है। जहाँ इन दोनों का प्रकट रूप से भेद हो और वे अभिन्न रूप से निर्दिष्ट किये जायँ, वहाँ लक्षणा सारोपा कहलाती है।

अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त जो एक तीसरी शब्द-शक्ति है, उसे व्यंजना कहते हैं। अभिधा से प्रत्यक्ष बोध होता है, लक्षणा किसी प्रमुख्य अर्थ का चमत्कारपूर्ण रीति से संकेत करती है, किन्तु व्यंजना से शब्द का सूक्ष्मतर अर्थ व्यंजित अथवा ध्वनित होता है। व्यंजना की व्युत्पत्ति वि+अंजना है, अतः यह एक विशेष प्रकार की शक्ति है, जिससे दृष्टि स्वच्छ तथा सूक्ष्म तत्त्वों के ग्रहण में समर्थ हो जाती है। स्फोटवादियों के मत से शब्द का जो अर्थ नित्य स्फोट के रूप में मन में विद्यमान रहता है, शब्दों के

उच्चारण और अनुरणन द्वारा वह व्यक्त होता है। इस प्रकार की अभिव्यक्ति व्यंजना-व्यापार की सहायता से सम्भव होती है। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने व्यंजना-शक्ति के स्वरूप-निरूपण के पूर्व उन तीन मतों का खण्डन किया है, जो व्यंजना के अस्तित्व को नहीं मानते थे। अभाववादी व्यंजना-शक्ति को अस्वीकार करते थे। लक्षणावादी मानते थे कि उसका समाहार लक्षणा के अन्तर्गत हो जाता है तथा एक तीसरे प्रकार के विचारक व्यंजना का अस्तित्व मानते हुए भी उसे अनिर्वचनीय घोषित करते थे। **ध्वन्यालोक** में इन तीनों मतों को निराधार सिद्ध करने के उपरान्त व्यंजना की चतुर्दिक् व्याप्ति और उसके रोचक स्वरूप का प्रतिपादन हुआ है। आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त आदि मेधावी आचार्यों ने ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की और उसके विरुद्ध जो आपत्ति उपस्थित की गई, उसका सम्यक् उत्तर मम्मट ने काव्यप्रकाश में दिया। साहित्यदर्पण में रस को ही प्रमुखता प्रदान की गई, किन्तु पंण्डितराज जगन्नाथ ने पुनः ध्वनि-सिद्धान्त की महत्ता पर बल दिया। इस प्रकार, व्यंजना अथवा ध्वनि भारतीय साहित्यशास्त्र में उच्चतम पद पर आरूढ़ हुई।

ध्वनि की निम्नलिखित परिभाषा ध्वनिकार ने दी है :

**यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।**
**व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥**

—अर्थात् जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके उस अर्थ को प्रकाशित करते हैं, उस काव्य-विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।

प्रतीयमान के सम्बन्ध में ध्वनिकार की प्रसिद्ध उक्ति है :

**प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।**
**यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥**

—अर्थात् प्रतीयमान कुछ और ही चीज है जो रमणियों के प्रसिद्ध मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि अवयवों से भिन्न (उनके) लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियों में (वाच्य अर्थ से अलग ही) भासित होता है। मम्मटाचार्य की व्यंजना-सम्बन्धी कारिका निम्नलिखित है :

**वस्तुबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।**
**प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।**
**योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥**

—अर्थात् वक्ता (कहनेवाला), बोद्धव्य (जिससे कहा जाय), काकु (शोक, भय, विस्मय आदि चित्तगत भावों को प्रकट करनेवाला ध्वनि-विकार)—इन तीनों का तथा वाक्य (पूर्ण अर्थबोधक पदसमूह), वाच्य (शक्य अर्थ) तथा किसी और का नैकट्य, इन सबका और प्रकरण, स्थान (शून्य, वाटिका आदि), काल (दिन, रात, वसन्तादि ऋतु) की विशेषता से, काव्य-व्यवहार से जिनकी बुद्धि प्रखर हो गई है, ऐसे विज्ञों को जो कोई (वाच्य से भिन्न) अन्य अर्थ प्रतीत होता है, उस अर्थप्रतीति का कारणभूत जो व्यापार है, उसी को व्यंजना कहते हैं। उपर्युक्त

कथनों से दो बातों का पता चलता है—व्यंजना की सूक्ष्मता और उसका असीम विस्तार। व्यंजना, ध्वनि अथवा प्रतीयमान भाषा का स्थूल तत्त्व नहीं, अपितु अत्यन्त अमूर्त्त एवं सूक्ष्म व्यापार है। शब्दों के प्रत्यक्ष संकेत से परे यह किसी और बात का बोध कराती है। परिस्थिति, विषय, काव्य आदि में निहित किसी अद्वितीय एवं चमत्कारपूर्ण प्रभाव को अभिव्यक्त करना ही व्यंजना-व्यापार का ध्येय है। ऐसे ही हम देखते हैं कि व्यंजना का प्रसार उपसर्ग और विभक्ति से सम्पूर्ण काव्य तक में होता है। शब्द में, अर्थ में और सम्पूर्ण काव्य में व्यंजना का संस्थान मिलता है। इस दृष्टि से लक्षणा की अपेक्षा व्यंजना का क्षेत्र कहीं अधिक विशाल है; क्योंकि अधिकांश आचार्यों ने लक्षणा को केवल शब्दगत माना है।

मोटे तौर पर व्यंजना के दो भेद हैं—अभिधामूला और लक्षणामूला। यदि कोई कहे कि सूर्य अस्त हो गया, तो प्रत्यक्ष अभिधेय अर्थ के अतिरिक्त यह ध्वनि निकलती है कि अब दैनिक कार्य समाप्त करके विश्राम करने का समय आ गया है। यहाँ अभिधामूला व्यंजना हुई। यदि कोई कहे कि गंगा पर अहीरों की बस्ती है, तो लक्षणा से अर्थ हुआ कि गंगातट पर अहीरों की बस्ती है? किन्तु, साथ-ही-साथ व्यंजना द्वारा शीतलता, पावनता आदि की प्रतीति होती है। अतः, यह लक्षणामूला व्यंजना का उदाहरण है। व्यंजना के शाब्दी और आर्थी—ये दो अन्य प्रमुख भेद भी माने जाते हैं।

ध्वनि के भेदों और प्रभेदों का प्रश्न अत्यन्त जटिल है। मम्मट ने १०४५५ भेदों का उल्लेख किया है। सच तो यह है कि व्यंजना की सम्भावनाएँ अनन्त हैं और हम उसके विभिन्न रूपों की परिगणना नहीं कर सकते। जहाँ कहीं कथन में वैदग्ध्य मिलता है, अनुमान यही होता है कि व्यंजना-व्यापार अपना कार्य कर रहा है। तभी तो ध्वनि-काव्य को ही उत्तम काव्य माना गया है। तब भी ध्वनि के सामान्य भेदों की चर्चा अपेक्षित है। ध्वनि के दो मोटे भेद हुए—लक्षणामूला और अभिधामूला। लक्षणामूला के दो भेद होते हैं—१. अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और २. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य से अभिप्राय है, जहाँ वाच्यार्थ दूसरे अर्थ में संक्रमित हो जाय अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ बाधित होकर दूसरे अर्थ में परिणत हो जाय। अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य में वाच्यार्थ अत्यन्ततिरस्कृत रहता है—उसको छोड़ ही दिया जाता है। यह ध्वनि पदगत और वाक्यगत दोनों ही प्रकार की होती है। इसी प्रकार अभिधामूला के दो भेद हैं—असंलक्ष्य-क्रम और संलक्ष्यक्रम। असंलक्ष्यक्रम में पूर्वापर का क्रम सम्यक् रूप से लक्षित नहीं होता, यह क्रम होता अवश्य है और उसका आभास भी निश्चय ही होता है, परन्तु पूर्वापर, अर्थात् वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रतीति का अन्तर अत्यन्तात्यन्त स्वल्प होने के कारण शतपत्रभेद-न्याय से स्पष्टतया लक्षित नहीं होता। संलक्ष्यक्रम में यह पौर्वापर्य-क्रम सम्यक् रूप से लक्षित होता है। कहीं यह शब्द के आश्रित होता है, कहीं अर्थ के आश्रित और कहीं शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित। इस प्रकार, इसके तीन भेद हैं—शब्दशक्ति-उद्भव, अर्थशक्ति-उद्भव और शब्दार्थ-उभय-शक्ति-उद्भव।

पाश्चात्त्य वाङ्मय में व्यंजना के सादृश्य अर्थ की कल्पना प्राचीन काल से चली आई है और शैली के सम्बन्ध में लिखनेवाले सभी प्रमुख प्राचीन आचार्यों ने किसी-न-किसी

प्रकार वाच्यार्थ से भिन्न किसी अत्यन्त सूक्ष्म अर्थ की चर्चा की है। इस प्रकार के विचार १७वीं और १८वीं शताब्दी में विट की कल्पना में प्रस्फुटित हुए। विट की व्याख्या वाणी के अलौकिक चारुत्व के रूप में की गई है। वह विभिन्न अंगों के वैशिष्ट्य से अधिक सम्पूर्ण रचना अथवा कथन के अनिर्वचनीय सौन्दर्य के रूप में ही प्रकट होता है। आधुनिक काल में आइ० ए० रिचर्ड्स प्रभृति विद्वानों ने इमोटिव मीनिंग कॉनटेक्च्युअल मीनिंग आदि से व्यंजना-व्यापार को ही संकेतित किया है। लीविस, टिलयर्ड आदि ने ऑब्लीक मीनिंग की बात कही हैं, जो व्यंग्यार्थ का पर्यायवाची है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि व्यंजना अथवा ध्वनि का सिद्धान्त भारत और पाश्चात्त्य देशों में सर्वमान्य है।

अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के अतिरिक्त एक चतुर्थ वृत्ति अथवा शक्ति की कल्पना की गई है, उसे तात्पर्यावृत्ति कहते हैं। इस चतुर्थ शक्ति के बारे में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद मिलता है। तात्पर्य का सम्बन्ध पद की अपेक्षा वाक्य से अधिक है, अतः कुछ लोग उसे अभिधा के अन्तर्गत रखते हैं, तो कुछ अन्य लोग उसे लक्षणा का ही एक रूप मानते हैं। विश्वनाथ आदि ने उसे वाक्यगत ही माना है, अतः तात्पर्य वाक्यगत लक्षणा से पृथक् नहीं है, ऐसी धारणा कुछ विचारकों की है। अभिनवगुप्त, मम्मट आदि ध्वनि-वादी आचार्यों ने तात्पर्यावृत्ति को व्यंजना से पृथक् माना है, किन्तु परवर्त्ती टीकाकारों ने तात्पर्य को व्यंजना से अभिन्न सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस बात में तो सभी सहमत हैं कि तात्पर्य की स्थिति वाक्यार्थ में ही होती है।

अभिहितान्वयवादी मीमांसकों ने ही मुख्यरूप से तात्पर्य-शक्ति की स्थापना की है। उनके मतानुसार किसी वाक्य का अर्थ तीन कारणों से निश्चित होता है—आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि। गौ, घोड़ा इत्यादि पद अर्थ प्रकट करने के लिए दूसरे पदों से सम्बन्ध की अपेक्षा करते हैं। पदों के परस्पर साहचर्य के बिना पदार्थों का संकेत तो हो सकता है, किन्तु वाक्यार्थ सम्भव नहीं। इसी प्रकार पदों में उपर्युक्त अर्थ देने की योग्यता भी होनी चाहिए। अयोग्यता का प्रसिद्ध उदाहरण है—आग से सींचता है। 'कोई पानी से सींच सकता है, आग से नहीं।' तीसरा कारण है सन्निधि, अर्थात् 'सहयोगी पदों के बीच' में अनावश्यक व्यवधान न होना चाहिए। अभिप्राय यह है कि बीच में अनर्गल शब्दों के आ जाने से अर्थ में बाधा उत्पन्न होती है। आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि—इन तीनों कारणों से अर्थ स्फुट होता है। अभिधा से पहले प्रत्यक्ष-संकेतित का ग्रहण होता है। इसी समय तात्पर्य-शक्ति द्वारा अभिधानीत पदार्थों का सम्बन्ध गृहीत होता है। यह माना गया है कि स्मृति और प्रतिभा तात्पर्य-बोध के आधारभूत तत्त्व हैं। अभिहितान्वय-वादी मीमांसकों का खण्डन अन्विताभिधानवादी मीमांसकों ने किया है। वे अभिधा के अतिरिक्त किसी तात्पर्य नामक शक्ति को नहीं मानते। दशरूपककार ने तात्पर्य का उल्लेख बार-बार किया है, किन्तु कुछ भिन्न अर्थ में। दशरूपक में तात्पर्य शब्द अत्यन्त विस्तृत अर्थ में लिया गया है और उससे विवक्षित अर्थ, अर्थात् इम्प्लायड मीनिंग से अभिप्राय है। हम ऊपर बता आये हैं कि अद्यतन यूरोपीय विचार-सरणी में कॉन्टेक्च्युअल

मीनिंग को विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। इस प्रकार का अर्थ शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा समस्त वाक्य की समन्विति पर निर्भर होता है। अतः, वह तात्पर्यार्थ के अत्यन्त निकट है।

उपर्युक्त चार शक्तियों के अतिरिक्त भावकत्व, भोजकत्व, रसना आदि व्यापारों की चर्चा भी यत्र-तत्र मिलती है। रस के प्रकरण में हम कह आये हैं कि भट्टनायक ने भावकत्व और भोजकत्व को विशेष महत्त्व दिया है। किन्तु, अभिनवगुप्त ने उनको अस्वीकार करके व्यंजना-वृत्ति की स्थापना की।

आजकल काव्य के अध्ययन में विश्लेषण की पद्धति अधिकाधिक अपनाई जा रही है और सम्यक् विश्लेषण तभी सम्भव है, जब हम शब्द की विभिन्न शक्तियों तथा अर्थ के विविध भेद-प्रभेदों से परिचित हों। इस दृष्टि से शब्द और अर्थ की व्याख्या को जो महत्त्व आज दिया जा रहा है, वह अत्यन्त सार्थक और वांछनीय है।

षष्ठ अध्याय

# औदात्त्य और आह्लाद

पाश्चात्त्य समीक्षाशास्त्र में दि सब्लाइम, अर्थात् उदात्त के स्वरूप-निरूपण का प्रयास अत्यन्त प्राचीन काल से चला आया है। ईसापूर्व द्वितीय एवं प्रथम शताब्दी में एलेक्जेण्ड्रिया तथा रोम के कई वाग्मिताशास्त्र-विशारदों ने औदात्त्य की व्याख्या के निमित्त निबन्ध और ग्रन्थ लिखे। वे प्रायः सभी लेख अब अनुपलब्ध हैं और केवल उनके नाममात्र का उल्लेख मिलता है। लांजिनस के प्रसिद्ध निबन्ध से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके पूर्व औदात्त्य के स्वरूप-निरूपण के लिए प्रयास हो चुका था और लांजिनस ने स्वयं प्राचीन और समकालीन विचारकों के भ्रम-निवारणार्थ अपने जगद्विख्यात ग्रन्थ का प्रणयन किया। लांजिनस के नाम और काल के विषय में दीर्घकालीन मतभेद चला आया है। गिब्बन के प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ के आधार पर लोगों का बहुत दिनों तक यह विश्वास था कि औदात्त्य पर निबन्ध लिखने-वाला लांजिनस वही इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति था, जो नवप्लेटोवादी दार्शनिक प्लाटिनस का मित्र एवं पालमिरा की रानी जेनोबिया का कृपाभागी तथा मन्त्री था। धीरे-धीरे यह धारणा बदलने लगी और निबन्ध में निहित अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यह प्रायः सर्वमान्य हो गया है कि औदात्त्य की व्याख्या करनेवाला लांजिनस प्रथम शती ईसवी का कोई एथिनियन विद्वान् था, जो बहुत दिनों तक रोम में निवास करता रहा। यह बात विदित है कि प्रथम शती ईसवी में लैटिन-गद्य-लेखन, वक्तृता तथा शैली-सम्बन्धी धारणाओं में अव्यवस्था और अनिश्चितता आ गई थी। उसी के निवारणार्थ क्विण्टिलियन ने अपने विचार दृढ़तापूर्वक व्यक्त किये और निबन्ध के पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि लांजिनस भी उसी उद्देश्य से प्रेरित थे। लांजिनस नाम भी अनिश्चित है, किन्तु अब वह औदात्त्य-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण निबन्ध के लेखक के लिए सर्वत्र स्वीकृत हो गया है। अतः सभी उसका प्रयोग करते हैं। लांजिनस का निबन्ध मध्ययुग में लुप्त हुआ और विस्मृत बना रहा। सन् १४५५ ई० में पेरिस के पुस्तकालय से रॉबर्टेलो नामक विद्वान् ने उसे प्राप्त किया और तत्पश्चात् उसकी कई हस्तलिखित प्रतियाँ मिलीं। मुद्रित होने पर ग्रन्थ का प्रचार बढ़ने लगा। सन् १६७४ ई० में फ्रांसीसी कवि और आलोचक बोआलो ने टिप्पणी-सहित फ्रेंच भाषा में उसका सरल अनुवाद प्रस्तुत किया। यह अनुवाद अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुआ और फलतः १८वीं शताब्दी में लांजिनस के विचारों का न केवल विस्तृत प्रभाव पड़ा, वरन् औदात्त्य की प्रामाणिक दार्शनिक व्याख्या भी हुई। एडमण्ड बर्क ने उदात्त और सुन्दर के भेद को स्पष्ट-रूपेण प्रतिपादित किया तथा अनेक अन्य अँगरेज विचारकों ने औदात्त्य के विषय में मत प्रकट किये। सुविख्यात दार्शनिक काण्ट ने एडमण्ड बर्क के विचारों से मिलते-जुलते, किन्तु साथ-ही-साथ अत्यन्त मौलिक विचार औदात्त्य के स्वरूप-निर्धारण के लिए अपने ग्रन्थ 'दि क्रिटिक ऑफ प्योर जजमेण्ट' में निबद्ध किये। अन्य दार्शनिकों ने भी उदात्त के स्वरूप एवं

उदात्त तथा सौन्दर्य के भेद पर विचार किया। शेलिंग, हेगेल, शॉपेनहावर आदि के ग्रन्थों में इस समस्या पर किसी-न-किसी रूप में विचार किया गया है। १९वीं शताब्दी के अँगरेज विचारकों में मेकाले ने औदात्त्य के महत्त्व को अस्वीकार करते हुए कई विचारोत्तेजक बातें कही हैं। रस्किन ने वास्तुकला तथा प्राकृतिक दृश्यों के सन्दर्भ में उदात्त और सुन्दर के भेद को मान्यता प्रदान की है। लांजिनस ने औदात्त्य से आह्लाद, अर्थात् अतिशय आनन्द उत्पन्न होने की बात आग्रहपूर्वक कही है। अतः, लांजिनस द्वारा प्रतिष्ठित आह्लाद का स्वभाव एवं स्वरूप क्या है, यह जान लेना भी आवश्यक है। रहस्यवादियों, रसवादियों तथा आधुनिक वैज्ञानिक समीक्षकों ने भी आह्लाद की बात कही है। लांजिनस द्वारा लिखित आह्लाद कहाँ तक इन अन्य विचारों से मिलता-जुलता है, यह भी विचारणीय है।

लांजिनस का निबन्ध एक विद्वान् मित्र को पत्र के रूप में लिखा गया है। प्रारम्भ में कैसिलियस नामक लेखक के औदात्त्य-विषयक ग्रन्थ की चर्चा है, जिसमें उद्धरणों की प्रचुरता तो थी, किन्तु विषय के मूल तत्त्वों पर सम्यक् प्रकाश नहीं डाला गया था। कैसिलियस और लांजिनस दोनों ही वाग्मिताशास्त्र के पण्डित थे, अतएव उदात्त गुणों की व्याख्या भाषा और शैली के प्रसंग में ही की गई है। लांजिनस ने अपनी परिभाषा में गद्य का ही उल्लेख किया है; क्योंकि उनके सामने मुख्य सामयिक समस्या गद्यशैली के विकृत हो जाने से उत्पन्न हुई थी, किन्तु निबन्ध में मिलनेवाले विवेचन और उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि लांजिनस का प्रयोजन समस्त काव्य से था। इतना ही नहीं, परवर्त्ती विचारकों ने औदात्त्य के सम्बन्ध में जो मत व्यक्त किये हैं, वे इतने व्यापक हैं कि उनके अन्तर्गत प्रकृति और समस्त कलाओं का समावेश हो जाता है। इसी उदार और व्यापक दृष्टिकोण से हमें लांजिनस द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के समझने की चेष्टा करनी चाहिए। यहाँ यह लिख देना आवश्यक है कि निबन्ध की जो प्रति हमें उपलब्ध है, वह कई महत्त्वपूर्ण स्थलों पर खण्डित है, किन्तु तब भी लांजिनस के प्रतिपाद्य विषय एवं तत्सम्बन्धी तर्कों के समझने में विशेष बाधा नहीं उत्पन्न होती है। निबन्ध के प्रथम अध्याय में ही लेखक ने अपने निष्कर्षों का उल्लेख संक्षिप्त रूप में कर दिया है।

"औदात्त्य सदैव भाषा के वैशिष्ट्य अथवा उत्तमता के रूप में प्रकट होता है और केवल उसी के कारण उच्चतम कोटि के कवियों और लेखकों को शीर्षस्थ स्थान प्राप्त होता है और वे अपनी कीर्त्ति को अमर बनाने में सफल होते हैं : कारण यह है कि असाधारण प्रतिभा से प्रणीत लेख श्रोता के प्रबोधन (पर्सुएशन) मात्र के लिए नहीं होते, अपितु उसके मन में आह्लाद (Ecstasy) के उत्पन्न करने में सक्षम होते हैं। चमत्कारपूर्ण तत्त्व जो चकित करने की शक्ति रखते हैं, उन तत्त्वों की अपेक्षा कहीं सबल होते हैं, जो केवल प्रबोधन करते अथवा आनन्द पहुँचाते हैं। प्रबोधन-क्रिया मुख्यतः श्रोता पर निर्भर होती है, किन्तु प्रतिभा में ऐसी उत्कृष्ट और निर्बाध शक्ति होती है, जो सभी श्रोताओं को प्रभावित करते हुए भी अपना उच्चस्तरीय स्थान सदा बनाये रखती है।" आगे चलकर सातवें अध्याय में अधोलिखित कथन मिलता है :

"अतः जब किसी विचारशील और साहित्यिक अनुभव-सम्पन्न व्यक्ति द्वारा कोई बात बार-बार सुनी जाती है, किन्तु उसके मन में न उच्च विचारों को उत्पन्न करती है और न नवीन चिन्तन के लिए सामग्री प्रस्तुत करती है तथा उसका ग्रहण सुनने के क्षण में ही प्रकट होकर विनष्ट हो जाता है, तब निश्चय ही औदात्त्य का अभाव सिद्ध होता है। वही वास्तव में महान् है, जो नवीन विचारों को उत्तेजित करता है, जिसका बाधित होना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव होता है, जिसकी स्मृति सबल तथा अविनाशशील होती है। आप यह मान सकते हैं कि वे औदात्त्य के सुन्दर और यथार्थ लक्षण हैं, जो सदैव और सभी जनों को प्रसन्न करते हैं; क्योंकि जब विभिन्न व्यवहार, जीवनक्रम, उद्देश्यों और आकांक्षाओं के व्यक्ति किसी लेख के बारे में एक ही प्रकार का मत प्रकट करते हैं, तब निश्चय ही इन विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों का निर्णय उस लेख के बारे में, जिसकी वे प्रशंसा करते हैं, स्वीकार करने योग्य होता है।"

लांजिनस ने औदात्त्य की व्याख्या भाषागत एवं शैलीगत विशेषता के रूप में की है और इसलिए उसकी विस्तृत व्याख्या के पूर्व लेखक ने शैली के कतिपय ऐसे दोषों की चर्चा की है, जो औदात्त्य के प्रतिकूल होते हैं और जो नवीनता के प्रति अनुचित मोह के कारण प्रकट होते हैं। हम बता आये हैं कि लांजिनस अपने समय की विकृत और दोषपूर्ण शैली को ध्यान में रखकर तथा उसके सुधार के लिए अपनी प्रसिद्ध निबन्ध-रचना कर रहे थे। अतः, प्रचलित दोषों का उल्लेख स्वाभाविक है, किन्तु साथ ही यह स्मरण रखने की बात है कि ऐसे दोष किसी भी देश और काल में प्रकट हो सकते हैं।

निबन्ध के प्रारम्भ में ही लेखक ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि औदात्त्य तथा तज्जनित आह्लाद के लिए नैसर्गिक तत्त्व एवं प्रतिभा अधिक मूल्यवान् और सहायक होते हैं अथवा कला का ज्ञान और अभ्यास। इस महत्त्वपूर्ण समस्या पर अतीतकाल से विवाद चला आ रहा था, जिसकी झलक होरेस के लेखों में मिलती है। लांजिनस ने इस मौलिक प्रश्न पर नये ढंग से विचार किया है और उन्होंने निश्चय ही नैसर्गिक तत्त्वों को वरीयता प्रदान की है, यद्यपि कला के ज्ञान और अभ्यास को भी उन्होंने यथेष्ट महत्त्व दिया है। उनके अनेक कथनों से यही सिद्ध होता है कि प्रकृति से प्राप्त उपकरण तो अनिवार्यरूपेण अपेक्षित होते ही हैं, किन्तु कला के दीर्घकालीन अभ्यास से कलाकार को यश मिलता है तथा उसकी कृतियों में विशिष्ट गुणों का आविर्भाव होता है। लांजिनस ने औदात्त्य के पाँच कारण माने हैं :

१. महान् और उत्तम विचार;
२. भावनाओं की सबलता और तीव्रता;
३. विचारगत और भाषागत अलंकारों का विवेकपूर्ण प्रयोग;
४. पदों और वाक्यांशों का विवेकपूर्ण चयन और प्रयोग; और
५. समुचित निबन्ध-योजना।

यह स्पष्ट है कि प्रथम दो कारण नैसर्गिक हैं तथा शेष तीन कलात्मक ज्ञान और उसके सम्यक् प्रयोग से सम्बद्ध हैं। इन पाँचों उपकरणों की विस्तृत व्याख्या को ध्यानपूर्वक

पढ़ने पर यह सहज ही प्रतीत होता है कि प्रमुख आग्रह प्रथम दो पर है और शेष तीन तत्त्व उन्हीं दोनों के सहकारी बनकर आते हैं। उदाहरणार्थ, लांजिनस के मत में अलंकार एवं पद विचारों और भावों को पुष्ट तथा सुन्दरतापूर्वक प्रकाशित करने के साधन-मात्र हैं। शैली में अलंकरण अथवा पद-योजना की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। वे तो विचारों और भावनाओं के सहयोगी बनकर अपना कार्य करते हैं। इस प्रकार, हम देखते हैं कि औदात्त्य की कल्पना में विचार-गाम्भीर्य एवं भाव-तीव्रता का ही प्रमुख भाग होता है। कलात्मक सौष्ठव गौण रूप से ही समाविष्ट होता है। आगे चलकर हम देखेंगे कि लांजिनस ने इसी बात को यह कहकर सिद्ध किया है कि कलात्मक निर्माण में थोड़ी-बहुत त्रुटि होने पर भी औदात्त्य की क्षति नहीं होती, यदि विचार महान् हों और तीव्र अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हुई हो। आधुनिक विचारकों ने भी इसी बात को किसी-न-किसी रूप में दुहराया है। उदाहरणार्थ, हेगेल की स्थापना है कि सौन्दर्य में वस्तु और कला का सामंजस्य रहता है, किन्तु उदात्त अपना प्रभाव रूप को अपेक्षाकृत गौण बनाकर उत्पन्न करता है। जब आइडिया फॉर्म की अपेक्षा अधिक प्रशस्त और उत्कृष्ट होता है तभी उदात्त गुणों की सृष्टि होती है।

जिन तत्त्वों से औदात्त्य का निर्माण होता है, उनमें स्पष्टतया लांजिनस ने विचारों की गरिमा और उत्तमता को सर्वोपरि स्थान दिया है। इस प्रकार की विचार-उत्कृष्टता चाहे दैवप्रदत्त हो अथवा अभ्यास द्वारा अर्जित हो, वक्ता और लेखक का परमधर्म है कि वह उसे ग्रहण करके आत्मसात् करे। विचारों की महत्ता का उत्स चारित्रिक उच्चता में मिलता है। कोई भी वाग्मिता द्वारा प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकता, यदि उसका चरित्र तुच्छ और गर्हित है। Sublimity is the note which rings from a great mind, अर्थात् महान् विचारों से ही औदात्त्य मुखरित होता है। कलाकार के चरित्र, जीवन और विचारों का कलाकृतियों पर पड़नेवाला सीधा प्रभाव सर्वप्रथम लांजिनस ने ही स्पष्ट शब्दों में निरूपित किया। तत्पश्चात् परवर्त्ती विचारकों ने इस मत को किसी-न-किसी प्रकार दुहराया है। नवप्लेटोवादी आचार्य प्लाटिनस ने लिखा है कि The poet participates in Reason, अर्थात् कवि का सीधा सम्बन्ध आदर्श अपरोक्ष सत्ता से होता है। इस प्रकार कवि का चरित्र स्वतः महान् सिद्ध हो जाता है और कविकर्म की जो भर्त्सना प्लेटो ने की थी, वह निस्सार प्रतीत होने लगती है। अनेक शताब्दियों के बाद मिल्टन ने लांजिनस के मत का ही समर्थन यह कहकर किया कि महान् चरित्रवाला कवि ही महान् कृतियों की सर्जना कर सकता है। महान् विचार दैवी अनुग्रह और चारित्रिक उत्कृष्टता से तो मिलते ही हैं, कभी-कभी हम उन्हें उन महान् कवियों और लेखकों की रचनाओं से भी प्राप्त कर सकते हैं, जिन्होंने उदात्त विषयों पर उदात्त शैली में लिखा है। लांजिनस ने इस सम्बन्ध में होमर, प्लेटो, डेमास्थनीज, थूसीडाइड्स आदि के नाम दिये हैं। देखना यह पड़ेगा कि इन महान् लेखकों ने किस विषय पर किस प्रकार लिखा है। हमें यह भी कल्पना करनी पड़ेगी कि यदि वे महान् पुरुष आज जीवित होते, तो हमारे प्रयोग में लाये हुए पदों और वाक्यों के सम्बन्ध में उनकी क्या प्रतिक्रिया होती।

औदात्त्य महान् विचारों के सम्यक् चयन और पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर करता है। विचारों के सम्बन्ध का निर्वाह ठीक-ठीक होना चाहिए। उनका विस्तार, एम्प्लिफिकेशन, सहायक सिद्ध होता है, किन्तु वह निर्जीव और शुष्क नहीं होना चाहिए। विस्तार से औदात्त्य की भावना तभी उत्पन्न होती है जब उसमें तीव्र भावना का पुट रहता है। इसी भाँति औदात्त्य और कल्पना का सीधा सम्बन्ध होता है। कल्पना से अभिप्राय, केवल बिम्ब-निर्माण और बिम्ब-ग्रहण से नहीं है, किन्तु उसमें भावों के उत्तेजित करने की शक्ति अनिवार्य रूप से होनी चाहिए। कल्पना-विषयक जो प्रचुर साहित्य यूरोपीय वाङ्मय में मिलता है, उसका वास्तविक प्रारम्भ लांजिनस के इन कथनों में ही मानना चाहिए, यद्यपि प्लेटो और अरस्तू के कतिपय वाक्यों में भी उसका पूर्वाभास मिलता है।

भावों की तीव्रता और सबलता औदात्त्य का द्वितीय कारण है। खेद की बात है कि निबन्ध के वे अंश अब अप्राप्य हैं, जिनमें लेखक ने भावावेग के महत्त्व की व्याख्या प्रस्तुत की थी। किन्तु, अनेक बिखरे हुए कथनों से इस द्वितीय तत्त्व की अनिवार्य महत्ता सिद्ध होती है। प्रारम्भिक अध्यायों में ग्रेटनेस ऑफ् सोल, अर्थात् आत्मा की उच्चता को औदात्त्य का आवश्यक आधार माना गया है और कहने की आवश्यकता नहीं कि उसके अन्तर्गत उत्कृष्ट विचारों का ही नहीं, वरन् सजीव भावनाओं का भी समावेश होता है। अलंकारों, शब्दों तथा प्रबन्ध-योजना सभी के सन्दर्भ में भावनाओं के स्पर्श और उत्तेजित करने की शक्ति को ही अन्तिम मानदण्ड के रूप में स्वीकार किया गया है। अलंकारों की अत्यन्त विस्तृत व्याख्या लांजिनस के निबन्ध में मिलती है। १६वें अध्याय से २९वें अध्याय तक उन्हीं की चर्चा है। अनेक स्थलों पर वे परम्परागत बातें दुहराई गई हैं, जो अतीतकाल से वाग्मिताशास्त्र-विशारदों को मान्य थीं, परन्तु मौलिकता की छाप यथेष्ट मात्रा में विद्यमान है। अलंकारों के अनियन्त्रित प्रयोग को अवांछनीय बताकर लांजिनस ने उनको विवेकपूर्ण रीति से व्यवहृत करने का आदेश दिया है। अलंकारों से शैली सुन्दर बनती है, किन्तु दूसरी ओर अलंकारों का सौन्दर्य भी उपयुक्त शैली के अन्तर्गत ही प्रस्फुटित होता है। इस प्रकार का पारस्परिक आदान-प्रदान साहित्यिक सौन्दर्य का विशिष्ट कारण बन जाता है। रूपकों, अर्थात् मेटाफर्स के विषय में भी योग्यतापूर्वक विचार किया गया है। अपने विविध रूपों में रूपक की सार्थकता इसी में है कि वह भावनाओं को जाग्रत् और संवलित करे। इसी ढंग से औदात्त्य के चतुर्थ कारण पर भी विचार हुआ है। उपयुक्त शब्दों के चयन और प्रयोग से विचारों का श्रीवृद्धि होती है और उनमें अनुपम कान्ति का समावेश होता है। क्विण्टिलियन का मत है कि विचारों के संस्पर्श से शब्द प्राणवान् और कान्तियुक्त बनते हैं। लांजिनस ने शब्दों से विचारों के आलोकित होने की बात कही है। प्रचलित और नवीन शब्दों एवं वाक्यांशों के सम्यक् एवं विवेकपूर्ण विषयों की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है। पाँचवें कारण, अर्थात् निबन्ध-योजना के विवेचन में सबसे महत्त्वपूर्ण बात लय के सम्बन्ध में कही गई है। लय कला का आधारभूत तत्त्व है, यह बात तो अरस्तू कह आये थे और तत्पश्चात् गद्य और पद्य के लय-भेद पर अनेक वाग्मिताशास्त्र-

विशारदों ने विचार किया था। लांजिनस ने शब्द-लय एवं नृत्य-संगीत आदि में निबद्ध लय के पारस्परिक भेद की मार्मिक व्याख्या की है। औदात्त्य के इन पाँचों तत्त्वों के विवेचन के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि औदात्त्य का सीधा सम्बन्ध नैसर्गिक तत्त्वों से है। आत्मिक उच्चता, विचार-गरिमा, भाव-सबलता, इन्हीं से उद्भूत होकर औदात्त्य सीधे बिना किसी व्यवधान के पाठक, श्रोता अथवा दर्शक के मन को सहज ही प्रभावित करता है। कला केवल निमित्त अथवा सहयोगी कारण के रूप में अपना कार्य करती है। किन्तु, लांजिनस ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि उसका योगदान बहुमूल्य होता है। नैसर्गिक तत्त्वों के सँवारने और निखारने का काम कला करती है, यद्यपि उदात्त गुणों का मूल उसमें नहीं रहता।

लांजिनस ने अपने निबन्ध के ३५वें और ३६वें अध्याय में इस प्रश्न पर विचार किया है कि औदात्त्य के लिए विचारों और विषय की महत्ता अधिक वांछनीय है अथवा कलात्मक एवं रचना-सम्बन्धी सफलता। जब विषय गरिमा-सम्पन्न होता है, जब विचार और भावनाओं में उत्कृष्टता रहती है, जब आत्मा में उच्चता होती है, और जब हमारा मन आश्चर्य के वशीभूत हो जाता है, तभी औदात्त्य का वास्तविक स्वरूप सामने आता है। इन गुणों से सम्पन्न कृतियों में यदि रचना की दृष्टि से थोड़ी-सी त्रुटि रह जाय, तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं; क्योंकि महत्प्रयास में आंशिक असफलता की सम्भावना निहित रहती है। दूसरी ओर, यदि विषय और लेखक के चरित्र में महत्ता नहीं है, तो केवल कलात्मक सौष्ठव से उदात्त गुणों की सृष्टि नहीं होगी। अत्यन्त प्रभावपूर्ण शब्दों में लांजिनस ने महती भावनाओं और कल्पनाओं तथा गरिमायुक्त विषयों का चित्रण निम्न-लिखित उद्धरण में किया है। अधोलिखित अंश विशेष रूप से स्मरणीय है; क्योंकि परवर्त्ती दार्शनिक विचारों में इसकी छाया स्पष्टरूपेण दिखाई देती है :

"Therefore it is, that for the speculation and thought which are within the scope of human endeavour not all the universe together is sufficient. Our conceptions often pass beyond the bounds which limit it, and if one were to look upon life all round and see how in all things the extraordinary, the great the beautiful stand supreme, he will at once know for what ends we have been born. So it is that as by some physical law we admire not surely the little streams transparent, though they be and useful too, but Nile or Tiber, or Rhine and far more than all ocean, nor are we awed by this little flame of our kindling, because it keeps its light clear, more than by those heavenly bodies, often obscured though they be, nor think it more marvellous than the craters of Etna where eruptions bear up stones and entire masses and sometimes pour forth rivers of that Titanic and unalloyed fire. Regarding all such

things we may say this, that which is serviceable or perhaps necessary to man, man can procure, what passes his thought wins his wonder."

लांजिनस ने व्यक्तिगत और जातीय जीवन में औदात्त्य के आविर्भाव की सम्भावना पर सुन्दर प्रकाश डाला है। होमर, प्लेटो, डेमास्थनीज प्रभृति के उच्च जीवन से उनकी कृतियों का सम्बन्ध स्थापित करने के उपरान्त लेखक ने होमर के प्रसिद्ध महाकाव्यों की पारस्परिक तुलना की है। इलियड में नाट्य-तत्त्व की प्रधानता है और वह अपेक्षाकृत अधिक वैशिष्ट्ययुक्त है; क्योंकि वह उस वय की कृति है, जब कवि की मानसिक और भावनात्मक शक्तियाँ प्रौढ और सबल थीं। 'ऑडिसी' उस समय की रचना है, जब होमर की अवस्था ढल रही थी, अतः उसमें वर्णनों की ही प्रमुखता है और औदात्त्य के वे लक्षण उतने स्पष्ट रूप में नहीं द्रष्टव्य हैं, जितने इलियड में। अनेक सन्दर्भों और स्थलों में यह संकेतित है कि लेखक के आत्मबल, प्रतिभा तथा मानसिक शक्तियों पर ही औदात्त्य का अस्तित्व आधृत रहता है। औदात्त्य एवं सामूहिक और जातीय जीवन के अनिवार्य सम्बन्ध पर निबन्ध के अन्तिम अध्याय में विस्तार के साथ विचार किया गया है। यह अध्ययन अत्यन्त सारगर्भित एवं स्मरणीय वाक्यों से भरा-पड़ा है। लेखक के किसी दार्शनिक मित्र ने समकालीन नैतिक एवं साहित्यिक अधःपतन की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए इसके कारणों के प्रति जिज्ञासा व्यक्त की है। स्वयम् उनका मत यह था कि प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता के युगों में ही उच्च नैतिक आचार, महान् विचार, और कार्य सम्भव होते हैं और परतन्त्रता सदैव औदात्त्य के लिए घातक सिद्ध होती है। जैसे किसी बौने को पिंजड़े में रखने से वह दिन-पर-दिन अधिकाधिक क्षीण और संकुचित होता जायगा, वैसे ही परतन्त्रता की सीमा के भीतर महत्ता की निरन्तर क्षति होती है, वृद्धि नहीं। इस कथन में अप्रत्यक्ष रूप से रोमन-इतिहास में प्रजातन्त्रकाल और साम्राज्य-युग की उपलब्धियों की तुलना की गई है। लांजिनस ने उपर्युक्त मत का खण्डन नहीं किया है, किन्तु अधःपतन के कतिपय अन्य कारणों पर अधिक बल दिया है। वे कारण मुख्यतः नैतिक और सामाजिक हैं। सर्वप्रथम तत्कालीन युद्धों का उल्लेख है, जिनके कारण मन सदैव उद्वेलित रहता था और नागरिकों को महान् कार्यों के करने का अवकाश नहीं मिलता था। किन्तु, इससे कहीं अधिक आग्रह पतन के नैतिक कारणों पर है। जब किसी जाति में धन-लोलुपता और भोग-लिप्सा बढ़ जाती है, तब वह वस्तुतः औदात्त्य के चिन्तन, सर्जन और ग्रहण में असमर्थ हो जाती है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि लांजिनस का यह सुनिश्चित मत है कि औदात्त्य के आविर्भाव और परिपोषण के लिए न केवल व्यक्तिगत, अपितु जातिगत नैतिक सतर्कता और दृढ़ता परमावश्यक है। इस विषय में निम्नलिखित विस्तृत उद्धरण देने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते :

"The love of money, which cannot be satisfied and is a disease with us all, and the love of pleasure both lead us into slavery, or rather, as one might put it, thrust our lives and ourselves down into the depth ; the lover of money, a disease which makes us little, the love of pleasure,

which is utterly ignoble. I try to reckon it up, but I cannot discover how it is possible that we who so greatly honour boundless wealth, who, to speak more truly, make it a God, can fail to receive into our souls the kindred evils which enter with it. There follows an unmeasured and unchecked wealth bound to it and keeping step for step, as they say, costliness of living, which when wealth opens the way into cities and houses enters and settles therein. When these evils have passed much time in our lives they build nests, the wise tell us, and soon proceed to breed and engender boasting, and vapouring and luxury, no spurious brood, but all too truly their own. For this must perforce be so, men will no longer look up, not otherwise take any account of good reputation, little by little the ruin of their whole life is effected, all greatness of soul dwindles and withers, and ceases to be emulated, while men admire their own mortal parts, and neglect to improve the immortal."

लांजिनस के प्रसिद्ध निबन्ध के उस फ्रेंच-अनुवाद की चर्चा हम कर आये हैं, जिसे सर्वप्रथम सन् १६७४ ई० में बोआलो ने प्रस्तुत किया। इस सफल अनुवाद और ग्रन्थ की महत्त्वपूर्ण भूमिका ने यूरोपीय साहित्यिक और कलात्मक चिन्तन को गम्भीरतापूर्वक प्रभावित किया। लांजिनस की विचारधारा १७वीं और १८वीं शताब्दी की प्रमुख तार्किक एवं नवक्लासिकी प्रवृत्तियों के विपरीत थी। अतः, उसने उस स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन के लिए भूमिका तैयार की, जिसमें कल्पना और भावना की अनियन्त्रित विशालता और उनके अप्रतिहत वेग को कोरी कलात्मकता की अपेक्षा कहीं अधिक ग्राह्य और उत्कृष्ट प्रमाणित किया गया। बोआलो के ग्रन्थ का एक दूसरा प्रभाव यह था कि १८वीं शताब्दी में औदात्त्य के स्वभाव तथा सौन्दर्य से उसके भेद पर अनेक विचारकों ने प्रकाश डाला। एडिसन, यंग, रिनाल्ड्स आदि के तद्विषयक लेख रोचक हैं और महाकवि पोप ने भी अपने दो-एक दोहों में उदात्त-विशेषताओं को इंगित किया है। किन्तु, इन सबसे कहीं अधिक मूल्यवान् हैं एडमण्ड बर्क के विचार, जिनसे अनेक परवर्त्ती यूरोपीय विचारकों को प्रेरणा मिली।

बर्क के चिन्तन के मूल से प्रायः वही बातें हैं, जिनको लांजिनस ने अपने निबन्ध के ३५वें अध्याय में अत्यन्त सशक्त शब्दों में प्रतिपादित किया है। उस अध्याय में दो मुख्य बातें कही गई हैं—१. औदात्त्य के लिए कलात्मक दक्षता उतना महत्त्व नहीं रखती, जितनी प्रतिभा-प्रसूत महती कल्पना, २. औदात्त्य का सीधा सम्बन्ध विशालता से है, चाहे वह विशालता विचारों और भावनाओं में मिले अथवा बाह्य पदार्थों के रूप और आकार में। इन्हीं दो बातों को लेकर बर्क ने सुन्दर और उदात्त के भेद को निरूपित किया है। सौन्दर्य में रूप-सौष्ठव होता है, जिससे मन में उसके प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है तथा फल-स्वरूप आनन्दानुभूति होती है। बर्क ने यह मत व्यक्त किया है कि सौन्दर्य से प्रेम की

सृष्टि उतनी ही अवश्यम्भावी है, जितनी अग्नि से उष्णता एवं हिम से शीतलता की उत्पत्ति। बर्क ने अपने कला-सम्बन्धी विचारों में प्रभाववादी पद्धति अपनाई है और सौन्दर्य के वशीभूत होनेवाले प्रेमी की दशा का उन्होंने बहुत ही रोचक चित्र अंकित किया है :

"सिर थोड़ा-सा एक तरफ झुक जाता है, पलकें साधारण की अपेक्षा कुछ अधिक बन्द हो जाती हैं और आँखें सुन्दर पदार्थ की ओर धीरे-धीरे दृष्टिपात करने लगती हैं, मुँह थोड़ा खुल जाता है और धीरे-धीरे निःश्वास लेने की प्रक्रिया चलने लगती है, सारा शरीर निःस्पन्द हो जाता है और हाथ ढीले होकर बगल में सुस्थिर हो जाते हैं।"

इसके आगे मन के भीतर होनेवाले परिवर्त्तनों की बात भी कही गई है। संक्षेप में सौन्दर्य की सृष्टि पदार्थों में सम्यक् अनुपात, सुसंगठन, निर्माण-कौशल आदि में होती है। उदात्त गुण इन सबसे बिल्कुल भिन्न हैं और बर्क की एक बहुत बड़ी देन यह है कि उन्होंने सौन्दर्य और औदात्त्य को दो नितान्त भिन्न कोटियों के रूप में माना है। औदात्त्य में न तो सौन्दर्य के समान सुडौलपन ही होता है और न उससे प्रेमाकर्षण ही उत्पन्न होता है। उससे तो भय, अर्थात् awe उत्पन्न होता है, जो अत्यन्त विशाल है, जिसका नैसर्गिक रूप मानव-प्रयास और कलात्मक काट-छाँट से बहुत परिवर्त्तित नहीं किया गया है। जिसमें शक्ति है तथा जो हमें चकित कर सकता है, वही उदात्त है। औदात्त्य का स्रोत न केवल पदार्थों के द्रष्टव्य आकार और रूप में मिलता है, अपितु ध्वनि से भी उसकी प्रतीति होती है। बर्क ने लिखा है : "The noise of vast cataracts, waging storms, thunder, of artillery, awakes a great and awful sensation in the mind." "A low, tremulous intermitting sound is not productive of the sublime."

बर्क ने शब्द और शैली से औदात्त्य का क्या सम्बन्ध है, इस प्रश्न पर भी विचार किया है और अतिशय परिष्कार को औदात्त्य के प्रतिकूल माना है। बर्क के विवेचन से यह सहज ही प्रतीत हो जायगा कि सौन्दर्य की अपेक्षा कुरूपता औदात्त्य के अधिक निकट है; क्योंकि दोनों में निश्चित रचनात्मक व्यवस्था तथा निर्माणात्मक संयम की कमी रहती है।

औदात्त्य-सम्बन्धी काण्ट के विचार बर्क के विचारों से अनेक बातों में समानता रखते हैं। काण्ट भी सौन्दर्य और औदात्त्य की दो पृथक् कोटियाँ मानते हैं, जिनका समन्वय केवल इस सीमा तक सम्भव है कि वे चतुर्दिक् व्याप्त नैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत आकर उसके अधीन रहते हैं। अन्यथा सौन्दर्य का सम्बन्ध प्रेम और आनन्द से है, किन्तु औदात्त्य की कल्पना के अनुसार उसमें पीड़ा से आनन्द आविर्भूत होता है। विशालता तथा नैसर्गिक शक्तियों के प्रबल आलोडन एवं आघात के सम्मुख मानव-मन में भय उत्पन्न होता है और वह क्षण-भर के लिए दमित हो जाता है, किन्तु मानव-मन अपनी स्वाभाविक स्फूर्त्ति के कारण तत्काल ही नवोत्थान का अनुभव करता है। इसी अन्तिम अवस्था में उसे आनन्दानुभूति होती है। इसी बात को ध्यान में रखकर एक विद्वान् ने काण्ट द्वारा प्रतिपादित सौन्दर्य और औदात्त्य के भेद को संक्षेप में Pleasurableness of pleasure and pleasurable-

ness of pain में विभेद करते हुए प्रकट किया है। लांजिनस और बर्क द्वारा रूप और अरूप में जो विभेद किया गया है, उसको भी काण्ट ने अपनाया है। सौन्दर्य का सीधा सम्बन्ध फॉर्म, अर्थात् रूप से है, किन्तु औदात्त्य के अन्तर्गत मुख्य रूप से अनफॉर्म, अर्थात् अरूप का ही समावेश होता है। काण्ट का सारा दर्शन व्यक्तिपरक है। अतः, उन्होंने औदात्त्य को केवल एक फीलिंग, अर्थात् भावना के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु, बाह्य पदार्थ, पर्वत, सागर, सरिता आदि केवल साधन-रूप में आते हैं और गौण महत्त्व रखते हैं। काण्ट ने औदात्त्य के दो प्रमुख भेद माने हैं—मैथेमेटिकल और डाइनामिकल। प्रथम प्रकार दिक् और काल में सीमित है और इस बात को प्रकट करता है कि मानव-ज्ञानेन्द्रियाँ सम्पूर्ण अनुभव (टोटल एक्सपीरिएन्स) अभिव्यक्त करने में असमर्थ हैं। दूसरे प्रकार में असमर्थता की भावना और भी गहरी हो जाती है। महान्, गम्भीर, सशक्त और वेगवान् प्राकृतिक पदार्थों और शक्तियों के आगे व्यक्तिगत असमर्थता नितान्त प्रत्यक्ष होकर मन में आती है। इसी प्रकार की नगण्यता और असमर्थता का भान ईश्वर की अपार शक्ति तथा ईश्वरीय सृष्टि के विस्तार और विषय-चिन्तन से भी होता है।

हेगेल ने व्यक्ति की इस असमर्थता का अत्यन्त स्पष्ट निरूपण किया है। जब हम ईश्वर के विराट् रूप का ध्यान करते हैं, तब मन सहम उठता है और यह प्रतीति सहज ही हो जाती है कि उस देवत्व की गरिमा का सम्यक् प्रकाशन कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव है। इसीलए, सौन्दर्य को फाइनाइट इन द इनफाइनाइट अर्थात् असीम में ससीम की अभिव्यक्ति तथा औदात्त्य को ससीम में असीम की अभिव्यक्ति कहा गया है। हेगेल ने औदात्त्य का प्रमुख लक्षण Inadequacy of expression, अर्थात् अभिव्यक्ति की अयथेष्टता बताया है। अभिप्राय यह है कि औदात्त्य में वस्तु इतनी गरिमायुक्त होती है कि उसे रूप के ढाँचे में बाँधना कठिन हो जाता है और उसकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति सम्भावना के क्षेत्र से बाहर की बात हो जाती है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए काण्ट और हेगेल ने औदात्त्य की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों को अत्यन्त उपयोगी माना है। औदात्त्य और शास्त्रीय काव्य में तात्त्विक पार्थक्य है। वह अपेक्षाकृत स्वच्छन्दतावादी काव्य के निकट है, किन्तु उसका निकटतम सम्बन्ध प्रतीकवादी काव्य-व्यवस्था से है।

शॉपेनहावर ने औदात्त्य का उद्भव इच्छाशक्ति और बाह्य उपकरणों के विरोध और तत्पश्चात् समन्वय के रूप में स्वीकार किया है। सौन्दर्य में इस प्रकार का प्रारम्भिक विरोध नहीं रहता। नीत्से का प्रसिद्ध मत है कि कला के एपोलोनियन और डाइनिसियन—ये दो रूप होते हैं। प्रथम में शान्त, संयत एवं सुनियोजित सौन्दर्य की अनुभूति होती है, किन्तु दूसरे में शक्ति, गति तथा विस्तार की प्रतीति होती है। कहना न होगा कि नीत्से इस प्रकार मूलतः सौन्दर्य और औदात्त्य के भेद को व्यक्त करते हैं। सौन्दर्य और औदात्त्य के जिस भेद की ओर लांजिनस ने सर्वप्रथम संकेत किया था, उसे आधुनिक विचारकों ने अधिक स्पष्ट कर दिया है। उनमें से कुछ तो इस भेद को तात्त्विक मानते हैं, अतः उनकी धारणा है कि दोनों कोटियों का सम्मिश्रण नहीं हो सकता। यदा-कदा समन्वय के प्रयास

मिलते हैं, किन्तु उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है ; क्योंकि उनका कोई स्थायी फल नहीं निकलता। आग्डन और रिचर्ड्स के साइनिसथीसिस सिद्धान्त का मूल आधार वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक है। संक्षेप में, उक्त सिद्धान्त का प्रतिपाद्य मत है कि मन के भीतर उत्पन्न होनेवाले विभिन्न अनुभव और प्रभाव स्वतः परस्पर मिलकर व्यवस्था उत्पन्न करते हैं, यद्यपि वे प्रत्यक्षरूपेण विरोधी भी प्रतीत हो सकते हैं। इस समन्वयवादी एवं व्यवस्था-वादी सिद्धान्त की परिधि के अन्तर्गत न केवल सौन्दर्य और औदात्त्य दोनों के लिए स्थान है, वरन् दोनों का व्यवधान मिट जाता है तथा समन्वय हो जाता है।

निबन्ध के प्रारम्भिक भाग में लांजिनस ने औदात्त्य की परिभाषा उस शैलीगत वैशिष्ट्य के रूप में की है, जिसके फलस्वरूप तीव्र भावोत्कर्ष होता है। हम कह आये हैं कि यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में लेखक ने वाग्मिताशास्त्र एवं तत्सम्बन्धी उदात्त शैली की बात कही है, तथापि निःसन्देह उसके कथन की व्याप्ति के अन्तर्गत समस्त साहित्य आ जाता है। लांजिनस के पूर्व अरस्तू,, होरेस प्रभृति आचार्यों ने काव्य की व्याख्या सौन्दर्य और उससे उत्पन्न होनेवाले आनन्द की सृष्टि से की थी। अरस्तू ने यह कहा है कि अनुकरण से आनन्द-प्राप्ति होती है और काव्यकला अनुकरण का ही एक रूप है। अरस्तू के काव्यशास्त्र में निर्माण-सौष्ठव के निमित्त दिये हुए नियमों और उपनियमों की उपादेयता केवल इस बात में है कि उनकी सहायता से रचनाओं का रूप निखरता है और वे सुन्दर बनती हैं। सारा शास्त्रीय काव्यदर्शन रूप-विधान और सौन्दर्य-सृष्टि को परम उद्देश्य मानकर विकसित हुआ है। कहना न होगा कि सौन्दर्य का अपेक्षित प्रभाव आनन्द के रूप में प्रकट होता है। काव्य के उद्देश्य के बारे में होरेस की प्रसिद्ध उक्ति है : 'Dulce et utile' अर्थात् माधुर्य एवं उपयोग। इस मत से काव्य से आनन्द और शिक्षा दोनों की प्राप्ति होती है। अरस्तू और होरेस ने जिस आनन्द की चर्चा की है, वह कोई तीव्र अनुभूति अथवा उद्रेक नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन लोगों का आनन्द से केवल यही अभिप्राय था कि पाठक अथवा श्रोता का मनोरंजन होता है, उसके मन की नीरसता और उदासीनता मिटती है। लांजिनस के पूर्व वाग्मिताशास्त्रियों का एक दूसरा प्रचलित मत था, जो लेखन और भाषण द्वारा लोगों के प्रबोधन को ही अपना अभीष्ट मानते थे और उसी के हेतु शैली का निर्माण और प्रयोग करते थे। ईसा-पूर्व पाँचवीं शताब्दी के सोफिस्ट अध्यापकों से लेकर क्विण्टिलियन तक, जो कदाचित् लांजिनस की शताब्दी के ही विचारक और लेखक थे, इस विचार-पद्धति की वह अटूट शृंखला मिलती है, जिसकी अरस्तू, थियोफ्रस्टस, सिसरो आदि प्रमुख कड़ियाँ थे। सिसरो ने शैली-निर्माण के तीन उद्देश्य माने हैं—प्रशिक्षण, आनन्दवर्द्धन और प्रभावोत्पादन। इनमें से तीसरा उद्देश्य ही प्रधान था, चाहे राजनीतिक वक्तृता हो अथवा प्रशस्तिमूलक वक्तृता। कचहरियों में बहस करनेवाले वाग्मिताशास्त्र-विशारदों को प्रबोधन की आवश्यकता का और भी अधिक अनुभव होता था।

विवेच्य निबन्ध में लांजिनस ने एक नई समस्या पर ध्यान केन्द्रित किया है और एक नवीन रहस्य का उद्घाटन किया है। इनके पहले औदात्त्य-विषयक कई ग्रन्थ और निबन्ध लिखे जा चुके थे, ऐसा प्राचीन ग्रन्थ-सूचियों से पता चलता है। किन्तु, जहाँतक

पता है, सभी पुरानी व्याख्याएँ परम्परागत शैली में प्रस्तुत की गई थीं। लांजिनस की व्याख्या अपनी मौलिकता और गम्भीरता से चकित कर देनेवाली है। निबन्ध में बाइबिल का यह वाक्य उद्धृत है : 'God said let there be light and there was light.' लांजिनस के सम्बन्ध में भी यही बात सत्य है; क्योंकि काव्य-जगत् को उन्होंने एक नवीन आलोक प्रदान किया।

जैसाकि लांजिनस के निबन्ध और औदात्त्य-सम्बन्धी सभी परवर्त्ती लेखों से विदित है कि उदात्त गुणों का प्राथमिक स्रोत प्रकृति में मिलता है। नैसर्गिक गुरुता, गम्भीरता, शक्ति, गति आदि से औदात्त्य की प्रतीति सहज ही उत्पन्न होती है। भौतिक पदार्थों के अतिरिक्त भावों, विचारों आदि की प्रकीर्णता और चारित्रिक गरिमा से भी किसी अंश में औदात्त्य का बोध होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि औदात्त्य-विषयक समस्त चिन्तन की आधारभूमि है प्रकृति। इसी औदात्त्य का समावेश काव्यकला में किस प्रकार हो सकता है, यही मूल प्रश्न लांजिनस के सामने था और इसी सन्दर्भ में उक्त मनीषी ने पाँच विधायक तत्त्वों की विशद विवेचना प्रस्तुत की है। आधुनिक विचारों और कलाकृतियों से यह स्पष्ट हो गया है कि औदात्त्य का आविर्भाव प्रकृति और काव्य के अतिरिक्त अन्य कलाओं में भी सम्भव है। गॉथिक गिरजाघरों की वास्तुकला औदात्त्य की परिचायिका है तथा बीथोवेन आदि प्रसिद्ध जर्मन-संगीतज्ञों की रचनाओं से भी औदात्त्य का आभास मिलता है। ऐसे ही आधुनिक चित्रकला में भी औदात्त्य का सुन्दर निरूपण हुआ है। उदाहरणार्थ, नीग्रो चित्रकला, क्युबिस्ट चित्रकला और सिजाने एवं पिकासो के कतिपय चित्रों को ले सकते हैं। किन्तु, यहाँ हमारा मुख्य प्रयोजन काव्य में परिलक्षित होनेवाले औदात्त्य-गुणों से तथा तज्जनित आह्लाद से है। लांजिनस ने औदात्त्य और सौन्दर्य के उस पार्थक्य को तो नहीं स्वीकार किया है, जिसका निर्देश बर्क तथा अन्य दार्शनिकों ने किया है, किन्तु सारे निबन्ध में यह आधारभूत धारणा विद्यमान है कि सौन्दर्य के अतिरिक्त औदात्त्य एक अन्य कोटि है, जिससे मन एक विशेष प्रकार से चमत्कृत और आह्लादित होता है।

Ecstasy, Transport आदि अँगरेजी-शब्द औदात्त्य के प्रभाव-निदर्शन के लिए प्रयुक्त हुए हैं, जिनके समानार्थी आह्लाद, भावोत्कर्ष आदि हिन्दी-शब्दों को हम ग्रहण कर सकते हैं। स्वयं लेखक ने आह्लाद के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या नहीं दी है। सारे निबन्ध को पढ़ने से केवल यही पता चलता है कि आह्लाद तीव्र भावोत्कर्ष की अवस्था को कहते हैं। औदात्त्य के साक्षात्कार से मन बार-बार चकित और उत्तेजित होता है तथा उसका सामान्य अवस्था से उत्थान हो जाता है। सौन्दर्य के प्रति जो आकर्षण प्रेम के रूप में परिवर्त्तित हो जाता है, औदात्त्य-जनित आह्लाद उससे कहीं भिन्न है; क्योंकि उससे मन उद्वेलित होकर अन्त में सन्तोष प्राप्त करता है। तत्काल तो आंशिक रूप में भय का संचार होता है, औदात्त्य की विशालता को ग्रहण करने में कठिनाई का अनुभव होता है, किन्तु इस प्रकार की क्षणिक उत्तेजना के उपरान्त एक विशिष्ट प्रकार की सुखकर मानसिक अवस्था उत्पन्न होती है। सौन्दर्यानुभूति मूलतः शान्तिदायिनी होती है, किन्तु औदात्त्य से

मन चमत्कृत होता है और भावनाएँ आलोडित और उद्वेलित होती हैं, किन्तु यह ध्यान रखने की बात है कि सब मिलाकर औदात्त्य-प्रसूत अनुभूतियाँ अन्ततोगत्वा सुखप्रद ही होती हैं। औदात्त्य के प्रभाव की विवेचना प्रायः उसी प्रकार की गई है, जैसे ट्रेजेडी के प्रभाव की।

हमें औदात्त्य-जनित आह्लाद के वास्तविक स्वरूप को भी समझ लेना चाहिए। हम कह आये हैं कि जिस आनन्द को अरस्तू, होरेस आदि ने कला का अन्तिम ध्येय माना है, उससे इस आह्लाद का तादात्म्य नहीं है। ऐसे आनन्द का सम्बन्ध सौन्दर्य से है, औदात्त्य से नहीं। इसी भाँति औदात्त्य से उत्पन्न आह्लाद उस उत्कट आनन्द से भी भिन्न है, जिसकी चर्चा एवं व्याख्या वादलेयर, पो, पेटर, ह्विस्लर, आस्कर वाइल्ड आदि सौन्दर्यवादियों ने अपने लेखों में की है। इस प्रकार का आनन्द एक विशिष्ट प्रकार की तीव्र अनुभूति एवं भावनात्मक आवेग से उत्पन्न होता है और उसका विषय होता है सौन्दर्य। पेटर ने लिखा है कि 'ब्यूटी इज दि सिम्बल ऑव सिम्बल्स', अर्थात् सौन्दर्य प्रतीकों का प्रतीक है। सौन्दर्य के प्रति प्रबल आकर्षण मन में प्रकट होता है और भावावेग से वह विभोर हो जाता है। इसी अवस्था में सहृदय को सब कुछ नवीन एवं मोहक प्रतीत होने लगता है। आस्कर वाइल्ड ने 'इमोशन फॉर इमोशन' अर्थात् भावना भावना के लिए की बात कही है, जो सौन्दर्यवादी समुदाय का मूलमन्त्र माना जा सकता है। पेटर ने सौन्दर्य से उद्भूत आह्लाद (Ecstasy) का अत्यन्त विशद वर्णन अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ के अन्त में किया था। उस ग्रन्थ के कतिपय नवीन संस्करणों में वह अंश नहीं रखा गया है! क्योंकि सौन्दर्यवादी मत का इतना स्पष्ट एवं प्रभावपूर्ण वर्णन कुछ लोगों के लिए असह्य था। कहने की आवश्यकता नहीं कि सौन्दर्यवादियों द्वारा प्रतिपादित आनन्द अथवा आह्लाद अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए भी लांजिनस द्वारा निरूपित आह्लाद से नितान्त पृथक् है। उसमें आनन्दातिरेक के आधार पर ही उसका स्वरूप-निर्धारण होता है, किन्तु औदात्त्य से सम्बद्ध आह्लाद की तह में भय, आश्चर्य, पीड़ा आदि अन्य भावनाएँ भी विद्यमान रहती हैं। यहाँ रसानुभूति की चर्चा भी अपेक्षित है। रस की कल्पना भी तीव्र आनन्दानुभूति के आधार पर की गई है और जिस प्रकार १९वीं शताब्दी के यूरोपीय सौन्दर्यवादी आनन्द के एक विशिष्ट रूप को ही कला का अभीष्ट मानते हैं, वैसे ही रसवादी भी अनिर्वचनीय और अनुपम आनन्द की आकांक्षा रखते हैं। रस की परिधि के भीतर भयावह विषयों एवं पदार्थों के लिए कोई स्थान नहीं रहता और करुण रस भी बहुत-कुछ वर्ज्य ही है। वह केवल विप्रलम्भ शृंगार के रूप में ग्राह्य होता है। इसी भाँति रसानुभूति का हमारे विवेच्य आह्लाद से तात्त्विक भेद है। रसवादियों और यूरोपीय सौन्दर्यवादियों के मतों में बहुत-कुछ समानता दिखाई देती है, किन्तु दोनों में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि सौन्दर्यवादियों के कला-सिद्धान्त और यथार्थ जीवन के बीच में जितना गहरा और अमिट व्यवधान है, उतना रस-सिद्धान्त में नहीं। रस-सिद्धान्त में तो जीवन के व्यापारों और मानसिक प्रक्रियाओं का ही साधारणीकरण होता है, जिससे रसचर्वण की सम्भावना उत्पन्न होती है। लांजिनस के विचारों पर प्लेटो और उनके अनुयायियों का प्रभाव पड़ा है, इसमें

सन्देह नहीं। प्लेटो के दर्शन में सौन्दर्य का आदर्श रूप होता है, जिसके साक्षात्कार से मन में प्रेम उदित होता है : सौन्दर्य के दर्शन से मन की शुष्कता मिटने लगती है। जैसाकि प्लेटो ने स्वयं कहा है, उसमें सरसता आ जाती है और मानों उसके नवीन पंख उगने लगते हैं। नवप्लेटोवादियों ने भी परोक्ष आदर्श सत्ता के प्रति उत्पन्न होनेवाले प्रबल आकर्षण की बात विभिन्न शब्दों में बार-बार दुहराई है। प्रकृति और कला में मिलनेवाले औदात्त्य का प्रभाव जिस प्रकार लांजिनस द्वारा अनेक अन्य विचारकों ने निरूपित किया है, उससे अनायास ही हमें प्लेटो का अध्यात्म एवं सौन्दर्य-दर्शन स्मरण हो जाता है। रहस्यवाद भी Ecstasy की बात करते हैं, किन्तु उनके रहस्यवादी आह्लाद में तटस्थता का भाव अत्यधिक होता है। भावुक भक्त दैवी प्रभावों का माध्यम मात्र बनकर रह जाता है, किन्तु लांजिनस द्वारा निरूपित आह्लाद में मानसिक शक्तियाँ आपेक्षाकृत अधिक सतर्क रहती हैं एवं वैयक्तिक भावनाएँ अधिक जागरूक।

सर्वाधिक समानता औदात्त्य के प्रभाव और ट्रेजेडी के प्रभाव में है। दोनों में भय का संचार किसी-न-किसी अंश में होता है, किन्तु दोनों में यह अन्तर है कि करुणा से औदात्त्य की क्षति होती है। स्वयं लांजिनस ने इस बात का उल्लेख किया है। वैसे भी तर्कसंगत यही है कि उदात्त के साथ करुणा का मेल नहीं बैठता। इस महत्त्वपूर्ण अन्तर के बावजूद यह मानना पड़ेगा कि उदात्त पदार्थों और विचारों से मन उसी प्रकार उत्तेजित होकर अन्ततोगत्वा शान्त हो जाता है, जैसे ट्रेजेडी के प्रेक्षण से। दोनों में विषय की गरिमा होती है और दोनों मन को प्रायः एक ही प्रकार से स्पर्श करते हैं। यह आंशिक समानता अत्यन्त विचारणीय है, किन्तु ऊपर के विवेचन से यही सिद्ध होता है कि औदात्त्य-जनित आह्लाद एक विशिष्ट और स्वतन्त्र कोटि की अनुभूति है, जिसका पूर्ण साम्य किसी अन्य प्रकार की अनुभूति से नहीं है। अतः, लांजिनस की महत्ता निर्विवाद है; क्योंकि इन्होंने काव्य और कला के क्षेत्र को विस्तृत बना दिया। उनके पूर्व यह सामान्य रूप से माना जाता था कि कला का प्रयोजन केवल सौन्दर्य से है और सौन्दर्य की परिधि के भीतर ही वह विकसित होती है। लांजिनस ने यह योग्यतापूर्वक प्रतिपादित किया कि कला और काव्य का अधिकार एक अन्य जगत् पर भी है। जैसे कोलम्बस ने अपने साहस से पृथ्वी के अज्ञात पाश्चात्त्य गोलार्द्ध को सभ्य मानव-समाज के लिए उपलब्ध कर दिया, वैसे ही लांजिनस ने कला और काव्य के अधूरे साम्राज्य को पूर्णत्व प्रदान करने में असाधारण सफलता प्राप्त की।

## सप्तम अध्याय

# भ्रान्ति और अन्विति

कला से ऐसी भ्रान्ति उत्पन्न होती है जो आनन्ददायिनी होती है, ऐसा विश्वास पुरातन काल से चला आया है। भ्रान्ति का एक रूप पुराकथाओं में मिलता है, जिनमें कल्पना द्वारा एक अभिनव सृष्टि की जाती है, जो यथार्थ जगत् से बहुत-कुछ भिन्न होती है। इस प्रकार की मनोरथ-सृष्टि में यथार्थ तथ्यों की अपेक्षा कल्पना, आकांक्षा एवं व्यक्तिगत और जातीय जीवन के परम्परागत उद्देश्यों और आदर्शों का ही अधिक महत्त्व होता है। इस प्रकार की रचनाओं में कल्पना का वह स्वरूप सक्रिय होकर सामने आता है, जिसे हम फैण्टेसी कहते हैं। काव्य की कुछ ऐसी परिभाषाएँ भी हैं, जिनमें फैण्टेसी पर ही अधिक बल दिया गया है। अद्यतन समीक्षा-शास्त्र के कुछ ऐसे आचार्य हैं, जो समस्त कला की उत्पत्ति आदिम किंवदन्तियों, कल्पित कथाओं, पुराकथाओं, जादू-टोना एवं अन्धविश्वासों से मानते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के नवीन सिद्धान्तों में फैण्टेसी के विस्तार को ही अधिक मान्यता मिली है और सर्जनात्मक कल्पना केवल गौण होकर रह जाती है। यहाँ हमारा मुख्य प्रयोजन उस दूसरे प्रकार की भ्रान्ति अथवा इल्युजन से है, जिसमें यथार्थ की अवहेलना नहीं होती, अपितु उसे साध्य और प्रतिमान के रूप में स्वीकार किया जाता है। जब कलाकृति से यथार्थ की प्रत्यक्ष प्रतीति होने लगती है और हम थोड़ी देर के लिए यथार्थ और अनुकरण के भेद को भुला देते हैं, तब इस द्वितीय प्रकार की भ्रान्ति की विशिष्ट अवस्था उत्पन्न होती है। होमर ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य में एचिलीज की ढाल पर अंकित उस चित्र का वर्णन किया है, जिसमें समतल धरातल पर जोते हुए खेत का यथार्थ निरूपण हुआ था। चित्र के देखने से हल द्वारा बनी हुई रेखाओं और अस्तव्यस्त पृथ्वी की प्रतीति होती थी, ढाल के समतल धरातल की नहीं। प्लेटो ने एक ऐसे चित्र का उल्लेख किया है, जिसमें अंगूर के गुच्छों का इतना यथातथ्य अंकन हुआ था कि पक्षी उन्हें वास्तविक अंगूर समझकर उनकी ओर आकृष्ट होते थे। वास्तुकला में भी भ्रान्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ऊँची इमारतों के खम्भे नीचे से ऊपर तक एकाकार मालूम होते हैं, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। उनका निर्माण इस अनुपात से किया जाता है कि देखने पर वे आद्योपान्त एक-से प्रतीत होते हैं। नाट्य-अभिनय के क्षेत्र में भ्रान्ति-सम्बन्धी अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। शेक्सपियर के रिचर्ड तृतीय नामक दुःखान्त नाटक के अन्तिम दृश्य में नायक रणक्षेत्र में वीरतापूर्वक युद्ध करता हुआ दिखाई देता है। उसकी विरोधी शक्तियाँ प्रबल हैं और उसका अश्व आहत होकर गिर पड़ता है। इस कठिन समय में नायक चीत्कार कर उठता है: 'ए हॉर्स, ए हॉर्स, ए किंगडम फॉर ए हॉर्स।' एक बार ऐसा हुआ कि प्रेक्षकों में से एक सरलचित्त ग्रामीण किसान ने तत्काल खड़े होकर नायक को अपना घोड़ा भेंट करने की तत्परता घोषित

की । नाट्य-भ्रान्ति का यह एक अच्छा उदाहरण है; क्योंकि उक्त प्रेक्षक यह भूल गया था कि वह रंगशाला में अभिनय-मात्र देख रहा था । वह रंगमंच पर प्रकट होनेवाले अभिनेता को वास्तविक नायक समझ रहा था और रंगमंच की घटनाएँ उसे वास्तविक प्रतीत हो रही थीं । आधुनिक काल में नाट्यकथा-साहित्य में यथार्थ निरूपण का प्राधान्य है और इस भाँति काव्य और कला से उत्पन्न होनेवाली भ्रांति की ओर विचारकों का ध्यान अधिकाधिक आकृष्ट हो रहा है । पिछले सौ वर्षों में यूरोप के अनेक देशों में यथार्थवादी आन्दोलन ने विस्तृत मान्यता प्राप्त की है। भ्रान्ति का सिद्धान्त इस आन्दोलन की आधार-भूमि प्रस्तुत करता है ।

यहाँ हम विशेष रूप से नाट्य-भ्रान्ति पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे । इस सम्बन्ध में नाटक का क्या उद्देश्य है, यह विचारणीय है । इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि नाट्य-रचना एवं नाट्य-अभिनय दोनों का एकमात्र उद्देश्य है मनोरंजन प्रदान करना । नाटक का मूल स्वरूप सामाजिक है । मुक्तकों की रचना स्वान्तःसुखाय हो सकती है, किन्तु ऐतिहासिक विकास और स्वभावगत विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए हमें यह निश्चित रूप से मानना पड़ेगा कि नाटक का लोकपक्ष अनिवार्य महत्त्व रखता है । नाट्य-भ्रान्ति का सीधा सम्बन्ध इसी लोकरंजन के उद्देश्य से है । काव्य-रचना और नाट्य-प्रदर्शन से एक विशेष प्रकार की मनोदशा का आविर्भाव होता है । अनुकार्य और अनुकृति, यथार्थ और कल्पित का ऐसा चमत्कारपूर्ण योग होता है कि कुछ समय के लिए सहृदय कल्पित को ही यथार्थ मान लेता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की भ्रान्तिमय प्रतीति तभी सम्भव हो सकती है, जब मानसिक सतर्कता और तर्कबुद्धि अपना कार्य स्थगित कर दे अथवा कम-से-कम उनकी क्रियाशीलता मन्द हो जाय । यह विशिष्ट मनःस्थिति किस प्रकार और किन साधनों द्वारा उत्पन्न होती है, इस सम्बन्ध में हम आगे लिखेंगे । यहाँ केवल यह कह देना पर्याप्त होगा कि प्रत्यक्ष में अप्रत्यक्ष, अनुकरण में यथार्थ के ज्ञान की यह प्रक्रिया आनन्ददायिनी होती है । इस कथन का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि असंख्य जन विभिन्न देश और काल में नाट्य-अभिनय से आकृष्ट होते आये हैं । यदि उनसे पूछा जाय, तो उत्तर यही मिलेगा कि वे रंगशाला में अयथार्थ में यथार्थ की प्रतीति द्वारा आनन्द-विभोर होने के लिए जाते हैं । उनकी भ्रान्ति जितनी ही पूर्ण और स्थायी होती है, उसी अनुपात में उनको आनन्द मिलता है और उसी आधार पर वे कवि और अभिनेता को सफल अथवा असफल घोषित करते हैं । नाटक का उद्देश्य न तो ज्ञानवर्द्धन है और न उपदेश। उसमें मानव-जीवन एवं मानव-विचारों की अभिव्यक्ति मिलती है, किन्तु उसका वास्तविक उद्देश्य यथार्थ और अयथार्थ के सम्मिश्रण द्वारा चमत्कारपूर्ण एवं मनोरंजक भ्रान्ति उत्पन्न करना है । यह मत चिन्तन और लोक-व्यवहार दोनों से सिद्ध है ।

भ्रान्ति ही अनुकरण का ध्येय है । उसी में अनुकरण की परिणति होती है । हम 'अनुकरण' शब्द के किसी भी अर्थ को लें, यह सम्बन्ध किसी-न-किसी अंश में अवश्य सिद्ध होता है । यदि हम अनुकरण को प्रतिकृति मान लें, अर्थात् यह मान लें कि अनुकर्त्ता अनुकार्य का अपरिवर्त्तित रूप प्रस्तुत करता है, तो अनुकर्त्ता से अनुकार्य का भ्रम हो जाना स्वाभाविक है।

यदि दो पदार्थों में पूर्ण सादृश्य है तो एक से दूसरे का भ्रम हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। इसी अर्थ में प्लेटो का अंगूरों के गुच्छेवाला उदाहरण समीचीन है। अरस्तू के अनुकरण-सिद्धान्त के बारे में हम एक पिछले अध्याय में लिख आये हैं। उसमें केवल सामान्य, सार्वभूत, आन्तरिक एवं सार्वभौम तत्त्वों को ही अनुकरण का आधार बनाया जाता है। यद्यपि अंग-प्रत्यंगों का बिम्ब-ग्रहण नहीं होता, तथापि अनुकार्य और अनुकर्त्ता में पर्याप्त प्रत्यक्ष समानता अनिवार्यरूपेण अपेक्षित होती है। अनुकरण द्वारा किसी पदार्थ का जीवन्त रूप खड़ा कर दिया जाता है और ऐसा रूप ही भावना और कल्पना का स्पर्श करके यथार्थ की अनुभूति करा सकता है। जो तत्त्व केवल आकस्मिक, आनुषंगिक और क्षणिक हैं, उनसे तो असली रूप आच्छादित होकर अगोचर हो जाता है। इसलिए उनका पृथक् कर देना ही उपयुक्त माना जाता है। अनुकरण का तीसरा अर्थ रंगमंच और अभिनय से सम्बद्ध है। अभिनय द्वारा पात्रों और क्रिया का साक्षात्कार कराया जाता है। अभिनय की सफलता इसी में है कि अनुकरण द्वारा वह वास्तविकता का जीवित रूप सामने प्रस्तुत कर दे। ऐसी दशा में भ्रान्ति का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही नहीं, वरन् वांछनीय भी है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि अनुकरण से भ्रान्ति की सृष्टि होती है और जैसा हम ऊपर कह आये हैं, भ्रान्ति से आनन्द की उपलब्धि होती है। भ्रांति को अनुकरण और आनन्द के बीच की एक कड़ी मान लेना ठीक होगा।

नाट्य-भ्रान्ति का मूल उद्गम प्राचीनों के लेखों में मिलता है, किन्तु आधुनिक युग में उसकी व्याख्या अनेक विचारकों ने की है और इस प्रकार उसके महत्त्व पर नवीन प्रकाश पड़ा है। नवजागरण-काल के सुविख्यात इटालियन आलोचक कास्टल विट्रो का कथन है : "the show on the stage must reproduce the forms of the thing represented not more, nor less." अर्थात्, रंगमंच का प्रदर्शन पदार्थों के रूप को यथातथ्य निरूपित करता है, न कम, न अधिक। इस प्रकार की धारणा कास्टल विट्रो के बाद निरन्तर प्रचलित रही और लेसिंग, वॉल्टेयर आदि ने नाट्य-अभिनय द्वारा यथार्थ-निरूपण एवं तज्जनित भ्रान्ति की चर्चा की है। यहाँ यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि शेक्सपियर के नाटकों में निबद्ध कथनों से विभिन्न प्रकार के मतों का संकेत मिलता है। एक ओर तो महाकवि ने नाटक को जीवन का दर्पण माना है, जिसमें यथार्थ रूप प्रतिबिम्बित होता है, और दूसरी ओर उन्होंने नाटकों को कल्पित स्वप्न-मात्र बतलाया है। वास्तव में नाट्य-रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसे यथार्थ और कल्पना का अभिन्न संयोग मिलता है। नाट्य-भ्रान्ति इसी सम्मिश्रण का साक्षी है।

भ्रान्ति के सम्बन्ध में कॉलरिज का मत विशेष विचारणीय है, यद्यपि उसकी स्थापना किसी अन्य सन्दर्भ में हुई है। संक्षेप में, उक्त मनीषी ने प्रतिपादित किया है कि सहृदय स्वयं अपने तर्क एवं अविश्वास के स्थगन में योगदान करता है और इस भाँति वह काव्य के प्रभाव-ग्रहण में समर्थ होता है। हम नाट्य-अभिनय का उदाहरण ले सकते हैं। जब कोई नाट्यप्रेमी रंगमंच पर अभिनय देखने के लिए तत्पर होता है, तब वह स्वेच्छापूर्वक रंगशाला की ओर प्रयाण करता है और वहाँ जाकर उत्सुकतापूर्वक प्रदर्शन के शुरू होने की प्रतीक्षा

करता है। मनोरंजन ही उसका अभीष्ट है। अभिनय शुरू होने पर नट-नटी आदि रंगमंच पर प्रकट होते हैं एवं क्रिया तथा संवाद में संलग्न होते हैं। कोई दुष्यन्त बनता है, तो कोई शकुन्तला का अभिनय करता है। यदि प्रेक्षक की तर्कबुद्धि सचेष्ट और जागरूक बनी रही, तो प्रतिक्षण उसे यह ज्ञान होगा कि रंगमंच पर अवतीर्ण होनेवाले व्यक्ति वास्तविक दुष्यन्त, शकुन्तला आदि नहीं हैं। जबतक तर्क का यह व्यवधान बना हुआ है, तबतक दर्शक को अभिनय से केवल आंशिक आनन्द मिलेगा, परन्तु वह तो पूर्ण नहीं तो कम-से-कम यथेष्ट मात्रा में आनन्द का अभिलाषी है। अतः, स्वयं उसकी आन्तरिक चेष्टा यह होती है कि थोड़ी देर के लिए उसका तर्क अथवा अविश्वास सो जाय। इस प्रयास में उसे रंगशाला के विशिष्ट वातावरण, अभिनय की उत्कृष्टता एवं काव्यगत गुणों से सहायता मिलती है। आन्तरिक और बाह्य कारणों के सम्मिलित प्रभाव से अविश्वास का स्थगन होता है और तब नाट्य-भ्रान्ति स्थापित होती है। हम जानते हैं कि इस अवस्था में रंगमंच के दुष्यन्त, शकुन्तला आदि कृत्रिम नहीं, अपितु वास्तविक प्रतीत होने लगते हैं। कुछ क्षणों के लिए उनसे सहृदय का सीधा तादात्म्य उत्पन्न हो जाता है, जो सम्यक् रसास्वादन और आनन्द के लिए अत्यावश्यक है। आचार्य शंकुक ने रससूत्र की व्याख्या में आरोप और अनुमान की जो बात कही है, वह कॉलरिज और उनके परवर्त्ती आचार्यों की भ्रान्ति-सम्बन्धी प्रस्थापनाओं से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है।

फ्रांसीसी नाट्यशास्त्र-विशारद सार्सी ने भ्रान्ति एवं प्रभाव-ऐक्य पर विशेष बल दिया है। नाट्य-अभिनय का चरम उद्देश्य है यथार्थ जीवन का प्रत्यक्ष रूप सामने खड़ा कर देना। जो तत्त्व इस वास्तविकता की प्रतीति अथवा नाट्य-भ्रान्ति के प्रतिकूल हैं, वे सर्वथा त्याज्य माने जाते हैं। सार्सी ने रंगशाला में एकत्र होनेवाले प्रेक्षकों के समुदाय को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है। उन्हीं की चेष्टा, व्यवहार, आकांक्षा और आदर्शों से अभिनेता प्रेरित होते हैं और नाट्यशाला का वातावरण निर्मित होता है। अतः, नाट्य-भ्रान्ति का सीधा सम्बन्ध प्रेक्षकों से माना गया है। अँगरेज विचारक मॉर्गन ने नाट्य-भ्रान्ति के विषय में गम्भीर विचार प्रकाशित किये हैं, जो कई बातों में कॉलरिज की चिन्तन-प्रणाली की याद दिलाते हैं। मॉर्गन महोदय का कथन है कि प्रेक्षक मनोरंजन की खोज में प्रेक्षागृह में प्रवेश करता है। उस समय यथार्थ और अयथार्थ में भेद करनेवाली उसकी मानसिक शक्ति सक्रिय रहती है। रंगशाला के विशिष्ट वातावरण का उसके मन पर प्रभाव पड़ता है। संगीत-लहरी किसी नवीन दिशा में उसकी भावनाओं को प्रवाहित करने लगती है। रंगमंच की साज-सज्जा और आलोक का भी असर पड़ता है। तत्पश्चात् अभिनय करनेवाले अंग-परिचालन, नृत्य तथा संवाद द्वारा अपना-अपना कौशल दिखाने लगते हैं। इन सभी का सम्मिलित प्रभाव यह होता है कि तर्क तिरोहित होने लगता है और मन में नाट्य-भ्रान्ति का आविर्भाव होता है। नाट्यशाला के आत्मविभोर करनेवाले वातावरण में सब कुछ सम्भव प्रतीत होने लगता है और प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष का बोध होता है। इसी दशा में अनुकरण और अनुकार्य के बीच का अन्तर मिट जाता है। यही नाट्य-भ्रान्ति का चरम उत्कर्ष है।

इस प्रकार की भ्रान्ति अज्ञान से उत्पन्न नहीं होती, जैसे रज्जु से सर्प का भ्रम होता है अथवा सीपी से रजत का। वह मानसिक विकारों से उत्पन्न होनेवाला भ्रम नहीं है, अतः मनोवैज्ञानिकों द्वारा वर्णित विकृत मानसिक अवस्थाओं से वह नितान्त भिन्न है। नाट्य-भ्रान्ति आह्लादमूलक और आनन्दप्रद होती है तथा यथार्थ और कल्पना के अद्भुत सहयोग से उसका आविर्भाव होता है। कल्पित और यथार्थ का यह संयोग दृश्यकाव्य के स्वभाव में निहित है। अभिनवगुप्त का निम्नलिखित कथन देखिए :

**प्रत्यक्षकल्पानुव्यवसायविषयो, लोकप्रसिद्धः, सत्यासत्याविविलक्षणत्वात् यच्छब्दवाच्यो, लोकस्य सर्वस्य साधारणतया स्वत्वेन भाव्यमानश्चर्व्यमाणोऽर्थो नाट्यम्।**

अर्थात्, नाट्य का वह काव्य है, जो प्रत्यक्ष, कल्पना एवं अध्यवसाय का विषय बन सत्य एवं असत्य से समन्वित विलक्षण रूप धारण करके सर्वसाधारण को आनन्दोपलब्धि कराता है।

नाट्य-भ्रान्ति सामाजिक की एक विशेष मनोदशा है, अतएव उसका विवेचन मुख्यतः इसी दृष्टि से होना चाहिए। तब भी उन मानसिक लक्षणों की उत्पत्ति कैसे और किन साधनों द्वारा होती है, यह प्रश्न भी विचारणीय है। इसके उत्तर का संकेत हम ऊपर कर आये हैं। किन्तु, यहाँ इस सम्बन्ध में कुछ और कह देना आवश्यक है। उदाहरण के लिए छन्द और संगीत को ले लीजिए। दोनों में लय-तत्त्व की प्रमुखता रहती है, जो रंगशाला में अपना प्रभाव बिना किसी अवरोध के प्रकट करता है। ध्वनियों के माधुर्यपूर्ण एवं नियन्त्रित आरोह-अवरोह से मन की चेतन-क्रिया शिथिल पड़ने लगती है और उसकी जागरूकता कम हो जाती है। चेतन और अवचेतन मन में क्रमबद्ध लय की ध्वनि और प्रतिध्वनि गूँजने लगती है और इस प्रकार एक असाधारण मनःस्थिति उत्पन्न हो जाती है। भरत द्वारा वर्णित चार प्रकार के अभिनय से भी मन क्रमशः अधिकाधिक चमत्कृत होता जाता है और फलतः भावोत्थान होता है। किसी-न-किसी अंश और रूप में नाट्यशाला के अन्य साधनों का प्रभाव भी इसी प्रकार का होता है और जैसाकि हम बता चुके हैं, इन सभी साधनों का मिश्र प्रभाव अत्यन्त तीव्र और मन को वशीभूत करनेवाला होता है। इसके अतिरिक्त नाट्य-रचनाओं में परम्परा से कुछ ऐसी विशेषताएँ निबद्ध होती हैं, जो उनके प्रभाव को तीव्रता एवं एकता प्रदान करके भ्रान्ति उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध होती हैं। यूरोपीय नाट्यशास्त्र में अन्वितियों अथवा संकलनत्रय का प्रश्न अत्यन्त विवाद-ग्रस्त है। कुछ लोगों ने उन्हें अतिशय मान्यता प्रदान की है, तो कुछ विचारकों और नाट्य-प्रणेताओं ने उन्हें अनावश्यक और त्याज्य घोषित किया है। इस मतभेद के बारे में हम आगे लिखेंगे। यहाँ केवल यह कह देना पर्याप्त है कि अन्वितियों की अवतारणा नाट्य-प्रभाव को संकलित और तीव्र बनाने के हेतु हुई थी और उनकी सहायता से नाटकों में जीवन की अभिव्यक्ति को सार्थक एवं सफल बनाने का प्रयास किया जाता था। नाटक जीवन का अनुकरण अथवा निरूपण है, यह मत यूरोप में प्राचीन काल से आज तक प्रायः सर्वस्वीकृत है। यह निरूपण किस प्रकार सफल हो, अर्थात् उसमें यथार्थ जीवन का रूप किस प्रकार रोचक एवं विश्वासोत्पादक बनाया जाय, इसी तात्पर्य से नाट्य-अन्वितियों की कल्पना सर्वप्रथम हुई। किन्तु आगे चलकर वे रूढ़िबद्ध हो गईं और उनका व्यवहार कठोर नियमों

की भाँति होने लगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्वितियाँ अनुकरण के सहायतार्थ प्रकट हुईं और हम उन्हें अन्ततोगत्वा नाट्य-भ्रान्ति के सहकारी साधनों के रूप में ग्रहण कर सकते हैं।

यह निश्चित प्रतीत होता है कि अरस्तू के पहले अन्वितियों की धारणा नाट्य-रचना और नाट्य-अभिनय के क्षेत्र में प्रचलित थी। इसी प्रचलित मत एवं नाट्य-कृतियों के सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र में संकलनत्रय का संकेत समाविष्ट किया। कालान्विति के सम्बन्ध में केवल इतना कहा गया है कि दुःखान्त नाटकों की कथावस्तु की कालावधि केवल एक दिन की होनी चाहिए। सूर्य के एक फेरे के भीतर ही कथानक की परिसमाप्ति आवश्यक थी। इस संक्षिप्त कथन को लेकर बहुत दिनों तक वाद-विवाद चलता रहा। सूर्य के एक आवर्त्तन से कुछ लोगों ने बारह घण्टा अभिप्रेत माना और कुछ लोगों ने २४ घण्टा। कतिपय अधिक उदार लोगों ने उसकी सीमा ७२ घण्टे तक मान ली। स्थान-ऐक्य का काव्यशास्त्र में कोई सीधा उल्लेख नहीं है, अपितु काल-ऐक्य और कार्य-ऐक्य से उपसाध्य के रूप में उसे प्राप्त किया गया है। जब काल और कार्य दोनों सीमित होंगे, तब यह भी आवश्यक हो जायगा कि कथावस्तु की घटनाएँ एक ही स्थान पर केन्द्रित हों। अरस्तू ने कार्य-ऐक्य के बारे में अधिक विस्तार से लिखा है। दुःखान्त नाटकों के वस्तु-विन्यास के प्रसंग में कार्य-ऐक्य की स्थापना हुई। कथानक की एकता के परिपोषक सभी तत्त्वों की चर्चा की गई है। उसमें सम्यक् विस्तार तो अपेक्षित है ही, साथ-ही-साथ प्रारम्भ, मध्य और अन्त की सुसम्बद्ध नियोजना आवश्यक है। कथा-वस्तु में किसी भी अनावश्यक अंश का समावेश वर्जित है तथा जो तत्त्व कथावस्तु में निबद्ध होते हैं, वे अनिवार्यरूपेण प्रयुक्त और व्यवस्थित होते हैं। अतः यदि उनमें से एक भी हटा दिया जाय अथवा उसका स्थानान्तरण कर दिया जाय, तो वस्तु-शिल्प विकृत हो जायगा और प्रभाव-ऐक्य की क्षति होगी। इस प्रकार अनिवार्य तत्त्वों के सुसंगठन द्वारा निर्मित कथावस्तु से ही कार्य-ऐक्य की उपलब्धि होती है। ऐसे ही ऐक्य को शास्त्रवादी समीक्षकों ने कला का प्राण माना है। होरेस ने काव्य की सजीव एकरूपता की गम्भीर व्याख्या करते हुए उसे उत्कृष्टता का प्रमाण घोषित किया है। होरेस का यह मत १७वीं और १८वीं शताब्दी के अनगिनत लेखकों ने दुहराया। शास्त्रवादी ही नहीं, अन्य कोटि के विचारकों ने भी काव्य और कला में एकता की आवश्यकता पर बल दिया है। उदाहरणार्थ, नवप्लेटोवादी आचार्य प्लाटिनस ने कई स्थलों पर उसके महत्त्व पर प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है :

"It is in virtue of unity that beings are beings. This is equally true of things whose existence is primal and of all that are in degree to be numbered among beings. What could exist at all expect as one thing. Deprived of unity, a thing ceases to be what it is called, no army, unless as a unity : a chorus, a flock must be one thing. Even house and ship demand unity, one house, one ship : unity gone neither remains."

Take plant and animal; the material form stands a unity; fallen from that into a litter or fragments, the things have lost their being, what was is no longer there, it is replaced by quite other things—as many others, precisely as possess unity.

नवजागरणकाल के इटालियन विचारकों ने प्राचीनों के मत की अपने ढंग से व्याख्या की। जहाँ तक अन्वितियों का प्रश्न है, कास्टल विट्रो ने उन्हें कठोर एवं अनुल्लंघनीय नियमों के रूप में यूरोप के सामने रखा। इस सम्बन्ध में उनके कथन इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि अंशरूपेण उनका यहाँ उद्धृत करना अत्यावश्यक है :

"The time of the representation and that of the action represented must be exactly concident....and the scene of the action must be constant, being not merely restricted to be one city or house, but indeed to that one place alone which could be visible to one person."

.... .... ....

Tragedy ought to have for subject an action which happened in a very limited extent of time, that is in that place and in that time, in which and for which the actors representing the action remain occupied in acting; and in no other place and in no other time.

.... .... ....

The time of action ought not to exceed the limit of twelve hours.

.... .... ....

There is no possibility of making the spectators believe that many days and nights have passed, when they themselves obviously know that only a few hours have actually elapsed : they refuse to be so deceived.

.... .... ....

It is more marvellous when a great mutation of a hero's fortune is made, in a very limited time and a very limited place, than when it is made in a longer time and in varied and larger places.

.... .... ....

It was Aristotle's opinion that the plot of tragedy and comedy ought to comprise one action only or two whose interdependence makes them one, and ought rather to concern one person than a race of people. But he ought to have justified this not by the fact that a plot is incapable of comprising more actions, but by the fact that the extreme temporal limit of twelve hours and the restriction of the place for performance do not permit a multitude of actions nor the action of a

whole race nor indeed do they permit the whole of any length and this is the principal reason and the necessary one for the unity of action, that is, for the limitation of the plot to but one action of one person or two actions which by their interdependence can be counted one."

१७वीं शताब्दी में नाट्य-अन्वितियों के प्रश्न को लेकर बहुत बड़ा वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ, जिसका वास्तविक रूप फ्रांस में सबसे अधिक प्रत्यक्ष हुआ। वहाँ के नाटककार और नाट्य-समीक्षक दो दलों में विभक्त हो गये। प्रथम दल का नेतृत्व मैरेट (Jean Mairet) ने किया, जिनके दुःखान्त नाटकों और अन्य लेखों में नाट्य-अन्वितियों के अधिकार को पूर्ण मान्यता मिली है। दूसरे दल के नेता थे कॉरनील (Corneille), जिनके जगद्विख्यात दुःखान्त-सुखान्त नाटक 'ले सिड' की मैरेट और उनके अनुयायियों ने कड़ी आलोचना की; क्योंकि उसमें अन्वितियों का निर्वाह नहीं हुआ था। झगड़ा इतना बढ़ा कि वह कार्डिनल रिसिल्यु के सामने निर्णयार्थ प्रस्तुत किया गया। किन्तु, ऐसे प्रश्नों का कोई एक हल नहीं होता और स्वयं कारनील ने सन् १६६० ई० में यह मत प्रकट किया कि दुःखान्त नाटकों में नाट्य-अन्वितियों का प्रयोग आवश्यक है। 'ले सिड' के आलोचकों को उत्तर देते हुए कारनील की ओर से यह कहा गया था कि नैसर्गिक प्रतिभा नियमों से बद्ध नहीं होती और महान् साहित्यकार केवल उसी के आग्रह को मानते हैं। यह प्रसिद्ध कथन धीरे-धीरे फ्रांस और इंगलैंड में सर्वस्वीकृत हुआ और इस प्रकार क्लासिकी कठोरता का आंशिक रूप में निराकरण हुआ। १८वीं शताब्दी में वाल्टेयर ने नाट्य-अन्वितियों का समर्थन किया। लेसिंग का निम्नलिखित मत अत्यन्त विवेकपूर्ण है और वर्त्तमान युग की विशेष परिस्थितियों में भी वह संग्रहणीय बना हुआ है।

The Greeks, "submitted willingly to this restriction ; but with an adroitness, with a sense of understanding such that in seven cases out of nine they gained more than they lost. For they allowed this restriction to be the motive for so simplifying the action, carefully eliminating from it everything superfluous, that reduced to its absolute essentials, it became simply an ideal of the action which was developed most felicitously in that form which demanded the least amplification from circumstances of time and place.

नाट्य-अन्वितियों का विरोध धीरे-धीरे शक्ति ग्रहण करता गया। १६वीं और १७वीं शताब्दी में अँगरेज और स्पेनिश नाट्य-प्रणेताओं ने उनकी उपेक्षा करते हुए उच्चकोटि के स्वच्छन्दतावादी नाटकों का सृजन किया। ड्राइडेन ने जोरदार शब्दों में अन्वितियों के आधार पर लिखे हुए फ्रांसीसी नाटकों की तुलना में ऐसे अँगरेजी-नाटकों की हिमायत की, जो संकलनत्रय के नियमों की अवहेलना करते थे और जिनमें दुःखान्त और सुखान्त तत्त्वों का मेल था। दुःखान्त-सुखान्त नाटकों को लेकर कई देशों में मतभेद प्रकट हुआ। अन्वितियों के कट्टर समर्थक उन्हें दोषपूर्ण मानते थे ; क्योंकि उनमें न केवल कालान्विति और स्थानान्विति

का ही उल्लंघन होता है, अपितु विभिन्न प्रकार के उपकरणों के कारण-कार्य-ऐक्य की भी हानि होती है। ऐसे मिश्रित कोटि के नाटकों के समर्थन में बहुतों ने यह कहा कि वे जीवन के प्रतिरूप होते हैं और जैसे दैनिक जीवन में हम सुख और दुःख को निकटवर्त्ती पाते हैं, वैसे ही इन नाटकों में भी। अन्वितियों के प्रति विरोध की भावना १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में स्वच्छन्दतावाद के अभ्युदय के कारण अत्यन्त प्रबल हो गई। विक्टर ह्यूगो ने अपने क्रान्तिकारी नाटक 'क्रॉमवेल' की भूमिका में नाट्य-अन्वितियों पर प्रबल आघात किया और फलतः उसकी उपादेयता में लोगों की आस्था क्षीण होने लगी। आज परिस्थिति यह है कि यद्यपि ऐसे आधुनिक नाटक भी हैं, जिनमें अन्वितियों का पालन हुआ है, तथापि इन नियमों का आधिपत्य प्रायः समाप्त हो चुका है।

नाट्य-अन्वितियों के बारे में अनेक आपत्तियाँ उपस्थित की गई हैं। सर्वप्रथम यह कहा जाता है कि अन्वितियों का जन्म प्राचीन यूनानी रंगशाला में हुआ था और उनका सीधा सम्बन्ध तत्कालीन रंगशाला की व्यवस्था से था। उदाहरणार्थ, कोरस के कारण स्थान-परिवर्त्तन उतना सरल नहीं था, जितना शेक्सपियर के नाटकों में हो गया अथवा आज भी किसी अंश में सम्भव है। यह भी सत्य है कि प्राचीन काल के सभी यूनानी और रोमन नाट्य-प्रणेताओं ने अन्वितियों का पूर्ण निर्वाह नहीं किया है। वे उन्हें अधिक-से-अधिक सहायक नियमों के रूप में ही ग्रहण करते थे और उनके कठोर नियन्त्रण से अपने को बद्ध नहीं समझते थे। इन नियमों के कठोर नियन्त्रण और अनिवार्य आधिपत्य का सूत्रपात तो इटालियन भाष्यकारों के लेखों में हुआ और तदुपरान्त फ्रांसीसी विचारकों और लेखकों ने इस परम्परा को रूढ़िबद्ध करने का प्रयास किया। निःसन्देह अन्वितियों से नाट्य-रचना में ऐसी सादगी और सफाई आती है, जिसे क्लासिकी मत के अनुयायी बहुमूल्य समझते हैं और उससे प्रभाव-ऐक्य की स्थापना में भी सहायता मिलती है। किन्तु, अन्वितियाँ जब कठोर बनकर प्रतिभा के क्षेत्र को सीमित करने लगती हैं, तब रचना कृत्रिम और निर्जीव हो जाती है। विक्टर ह्यूगो ने इसी प्रकार की अवांछनीय कृत्रिमता की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। स्वच्छन्दतावादी नाटकों में जो बहुरूपता, विस्तार और समृद्धि मिलती है, उसकी तुलना में अन्वितियों से जकड़े हुए नाटक अवश्य ही शुष्क प्रतीत होंगे। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि अन्वितियों की जो उपादेयता प्राचीन यूनान में थी, वह आज नहीं है और हम उन्हें केवल निर्देशक एवं सहायक सामान्य सिद्धान्तों के रूप में ही ले सकते हैं। अब हम विभिन्न अन्वितियों पर कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

नाटक में समय की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में जो संक्षिप्त कथन अरस्तू के काव्य-शास्त्र में मिलता है, उसका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। अरस्तू का यह मत कि नाट्य-कथावस्तु का काल में सीमित विस्तार होना चाहिए और उसके पर्यवसान के लिए सूर्य के चक्कर से अधिक समय नहीं लगना चाहिए, नवजागरण-काल में पर्याप्त वाद-विवाद का विषय बना। रॉबर्टेली तथा मिण्टूर्नो में नाट्य-समय की अधिकतम अवधि १२ घण्टे की मानी, किन्तु सेग्नी चौबीस घण्टे तक की समयावधि स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत मागी केवल तीन घण्टे के पक्ष में हैं और कास्टल विट्रो का निश्चित मत है कि रंगमंचीय अभिनय एवं

कथावस्तु के विस्तार में बराबर समय व्यतीत होना चाहिए। नाट्य-भ्रान्ति का आग्रह तो यही है कि अभिनय और कथानक का समान काल-विस्तार हो। ऐसा होने से ही भ्रान्ति पूर्णत्व प्राप्त कर सकती है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से दोनों की सम्पूर्ण एकरूपता कठिन होती है और उससे अतिशय संकीर्णता का आभास मिलता है। जीवन के तथ्य दिक् और काल में अनियन्त्रित रूप से बिखरे हुए होते हैं और उनको समेटकर तीन या चार घण्टे की सीमा के भीतर रखना सरल नहीं होता। इसके अतिरिक्त यदि हम कालावधि का यह नियम कठोरतापूर्वक लागू करें, तो हमें उपलब्ध सामग्री में इतनी काट-छाँट करनी पड़ेगी कि हमारा निरूपण संकुचित, एकदेशीय एवं अपेक्षाकृत अरोचक बनकर रह जायगा। इसी बात को ध्यान में रखकर नाट्य-वैभव के अन्वेषक एवं समृद्धि के समर्थक शेक्सपियर, काल्डरान, विक्टर ह्यूगो प्रभृति स्वच्छन्दतावादी नाटककारों ने कालान्विति के नियम की अवहेलना की।

नाटक में तीन प्रकार के समय की चर्चा मिलती है। सर्वप्रथम घटनाओं का वह क्रम मिलता है, जिसमें वे घटित होती हैं अथवा उनके घटित होने की सम्भावना मिलती है। इस क्रम का विस्तार समय में होता है और इस प्रकार ऐतिहासिक समय की धारणा स्थापित होती है। दूसरा समय वह होता है, जिसे हम नाट्य-समय कह सकते हैं। इसका ऐतिहासिक समय से कुछ भिन्न होना स्वाभाविक है। काव्य में अभिव्यक्ति के लिए घटनाओं और तथ्यों का चयन होता है और अनावश्यक तत्त्व पृथक् कर दिये जाते हैं। तत्पश्चात्, उन तथ्यों और अनुभवों को एक नई व्यवस्था में निबद्ध किया जाता है। दिक् और काल, स्पेस और टाइम, दोनों की ही दृष्टि से यह नवीन व्यवस्था यथार्थ जीवन में उपलब्ध, अपेक्षाकृत असम्बद्ध और क्रमहीन नियोजना से भिन्न होती है। अनेक साहित्य-रूपों में व्यवस्था की कठोरता के आधार पर हम विभेद करते हैं। उदाहरणार्थ, उपन्यास की व्यवस्था नाटक की अपेक्षा कहीं ढीली होती है। नाटक सामान्यतः सुनियन्त्रित और सुगठित काव्य-रूप है और उसमें साधारण जीवन की तथ्यगत और कालगत अराजकता बहुत-कुछ मिट जाती है। इसीलिए घटनाओं के बीच ऐतिहासिक क्रम में जो अन्तर वर्षों का होगा, वह नाट्य-समय में घटकर कहीं कम हो जायगा। फलतः, नाट्य-समय की सीमा ऐतिहासिक समय से न्यून होती है। महाकाव्य में भी काल-नियन्त्रण की परम्परा थी और मिण्टूर्नो ने लिखा है कि उसके कथानक में अधिक-से-अधिक एक वर्ष लगना चाहिए। महाकाव्य नाटक की तुलना में कहीं अधिक स्वतन्त्र एवं रूप-विधान में ढीला होता है। अतः हम समझ सकते हैं कि नाटक का बारह घण्टा महाकाव्य में बारह महीना कैसे हो जाता है। तीसरा समय रंगमंचीय प्रदर्शन का काल होता है। ऐतिहासिक समय एवं नाट्य-समय चाहे जितना हो, सभी नाटकों के अभिनय के लिए प्रायः एक ही समय अपेक्षित होता है। अभिनेताओं की शक्ति एवं प्रेक्षकों की रुचि को ध्यान में रखते हुए नाटकों का प्रदर्शन लगभग तीन या चार घण्टे में समाप्त हो जाता है। नवजागरण-काल के रूढ़िवादी एवं संकीर्णमना इटालियन आलोचकों ने नाट्य-समय एवं रंगमंचीय समय के एकीकरण के लिए भरसक प्रयास किया और इस सम्बन्ध में कास्टल विट्रो का मत विशेष रूप से विचारणीय है। हम इस बात की ओर संकेत कर चुके हैं कि इस प्रकार का एकीकरण न तो वांछनीय है और न सर्वमान्य।

उदाहरण के लिए, हम शेक्सपियर के नाटकों को ले सकते हैं, जिनमें समय का प्रयोग सामान्यतः अनियन्त्रित है। उनके ऐसे नाटक भी हैं, जिनके एक अंक और दूसरे अंक के बीच १५-२० वर्षों का अन्तर पड़ जाता है। भारतीय नाट्यशास्त्र में भी ऐतिहासिक समय से पृथक् नाट्य-समय की कल्पना मिलती है। रूपक के एक अंक और दूसरे अंक के बीच में अधिक-से-अधिक कितना समय व्यतीत होना चाहिए, यह निर्धारित था और ऐतिहासिक समय को काट-छाँटकर इसी नियम के अनुरूप ढाल दिया जाता था।

यहाँ डबुल-टाइम, अर्थात् विविध कालक्रम की संक्षिप्त चर्चा भी अपेक्षित है। शेक्सपियर के नाटकों में निबद्ध समय-सम्बन्धी संकेतों के सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है कि अनेक बार दुहरे कालक्रम की चर्चा है। एक क्रम ऐसा होता है, जिसमें घटनाएँ शीघ्रतापूर्वक घटित होती हुई प्रतीत होती हैं, अर्थात् विभिन्न घटनाओं के बीच अधिक समय का अन्तर नहीं होता। एक दूसरा कालक्रम ऐसा मिलता है, जिसमें घटनाएँ अपेक्षाकृत अधिक विलम्ब से घटित होती हैं, अर्थात् विभिन्न घटनाओं के बीच की कालावधि पहले क्रम की अपेक्षा कहीं अधिक होती है। डबुल-टाइम का प्रयोग शेक्सपियर ने कई कलात्मक प्रयोजनों से किया है। वह क्रिया की गति और प्रगति नियन्त्रित करने का एक साधन है। नाट्य-क्रिया की प्रगति कभी द्रुत और कभी मन्द गति से होती है। प्रथम कालक्रम का उपयोग द्रुत गति का आभास देने के लिए होता है और द्वितीय कालक्रम से मन्द गति की ही प्रतीति होती है। नाट्य-वस्तुविन्यास का अपना गतिशास्त्र है, जो अत्यन्त रोचक है और उसका समय की उपयोग-विधि से सीधा सम्बन्ध है। यदि हम कालान्विति का वह कठोर रूप स्वीकार कर लें, जिसका प्रतिपादन कास्टल विट्रो आदि ने किया है, तो नाट्य-रचना और नाट्य-अभिनय में समय का जो कौशलपूर्ण उपयोग स्वच्छन्दतावादियों ने किया है, वह सर्वथा असम्भव हो जायगा। कालान्विति-नियम के विरुद्ध यह एक बहुत बड़ी आपत्ति है। थियेटर-टाइम, प्लॉट-टाइम तथा हिस्टोरिकल टाइम को एक कर देने से सरलता आ सकती है, किन्तु साथ ही अस्वाभाविकता भी आ जायगी और नाट्यकृति की रोचकता नष्ट हो जायगी।

स्वच्छन्दतावादी नाटकों में स्थानान्विति की और भी उपेक्षा मिलती है। शेक्सपियर के एक ही नाटक में दूरस्थ देशों में क्रिया-कलाप विकसित होता है तथा घटनाएँ घटित होती हैं। कुछ दृश्य इंगलैण्ड में और कुछ फ्रांस में अथवा कुछ दृश्य सिसली में और कुछ बोहेमिया में स्थित होते हैं। अन्य स्वच्छन्दतावादी नाट्य-प्रणेताओं ने भी स्थान के उपयोग में ऐसी ही स्वतन्त्रता बरती है। स्थानान्विति का कोई प्राचीन शास्त्रीय आधार नहीं है। अरस्तू ने उसकी पूरी चर्चा नहीं की है। उसका आविर्भाव तो १६वीं शताब्दी में इटालियन विचारकों द्वारा कालान्विति और क्रियान्विति के सहकारी रूप में किया गया। तदुपरान्त इंगलैण्ड और फ्रांस की शास्त्रीय प्रणाली पर लिखे हुए नाटकों में उसका प्रयोग वैसा ही दृढ़तापूर्वक किया गया, जैसा अन्य दो अन्वितियों का। उदाहरणार्थ, बेन जॉन्सन की 'दी अल्केमिस्ट', 'दी साइलेण्ट ओमन' आदि महान् कृतियों में सारी क्रिया एक ही स्थल पर केन्द्रित रहती है। 'दी अलकेमिस्ट' में समस्त घटनाएँ एक ही मकान में और उसके सामने-

वाली सड़क पर होती हैं और इसी भाँति 'दी साइलेण्ट ओमन' में तीन-चार मकानों और सामने की सड़क को ही क्रिया का क्षेत्र बनाया गया है। फ्रांसीसी नाटकों की यह एक विशेषता थी कि उनमें अन्य दो अन्वितियों की भाँति स्थानान्विति का भी निर्वाह होता था : फलतः उनमें सादगी, सफाई तथा सामान्य रूप से निर्माण-सौष्ठव की सिद्धि होती थी। किन्तु, यह भी निश्चित है कि उसके फलस्वरूप फ्रांसीसी नाटकों में अतिशय स्थिरता आ जाती थी, जिसे हम जड़ता कह सकते हैं। इसीलिए, ड्राइडेन ने फ्रांसीसी नाटकों की आलोचना करते हुए लिखा है कि उनकी शोभा निर्जीव मूर्त्तियों की सुन्दरता के सदृश थी, अर्थात् उनमें वे जीवन्त गुण नहीं मिलते थे, जिनकी अभिव्यक्ति नाटक में अपेक्षित होती है। गतिशीलता नाटक का विशिष्ट धर्म है और स्थानान्विति की स्वीकृति से उसमें कमी आ जाती है।

कार्यान्विति का प्रमुख महत्त्व है। इसीलिए, अरस्तू ने उसकी स्थापना विस्तार-पूर्वक की है। काव्यशास्त्र में कार्यान्विति का विवेचन मुख्य रूप से दुःखान्त नाटक और महाकाव्य के वस्तु-निर्माण के प्रसंग में हुआ है, किन्तु यहाँ यह देना आवश्यक है कि एक प्रकार से वह कला का आधारभूत तत्त्व है। इसीलिए गत २५०० वर्षों में उसकी व्याख्या विभिन्न आचार्यों द्वारा अपने-अपने ढंग से की गई है। संक्षेप में कार्यान्विति का यह अर्थ है कि समस्त कथावस्तु में अनिवार्य एकरूपता होनी चाहिए, अर्थात् उसके समग्र अंगों का संकलन ऐसा हो, वे एक-दूसरे के साथ इस प्रकार सम्यक् व्यवस्था में नियोजित हों कि अंग और अंगी का भेद न रह जाय और केवल समष्टि की प्रतीति हो। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए होरेस ने जीवित प्राणियों का उदाहरण दिया है; क्योंकि उनके विभिन्न अंगों में ऐसा घनिष्ठ और जीवन्त सम्बन्ध होता है कि वे सब मिलकर एक ही इकाई बन जाते हैं। कार्यान्विति की सिद्धि के लिए अनेक साधनों का उल्लेख है। सर्वप्रथम कथानक के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में कार्य-कारण-सम्बन्ध निहित रहता है और प्रत्येक की परिणति अन्य अंगों में होती है। अभिप्राय यह है कि न केवल प्रारम्भ से मध्य का अनिवार्य विकास होता है, अपितु अन्त भी बीजरूप में आरम्भ में छिपा रहता है। इसके अतिरिक्त अरस्तू ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि अनावश्यक तत्त्वों और उपकरणों को चेष्टापूर्वक पृथक् कर देना चाहिए और बची हुई सामग्री को एक निश्चित व्यवस्था में सजाना चाहिए। ऐसा करने से केवल अनिवार्य तत्त्व ही रह जायेंगे और उनका क्रम भी निश्चित होगा। इस प्रकार, घटाने-बढ़ाने तथा हेरफेर की तनिक भी गुंजाइश नहीं रह जाती और नाटक अथवा महाकाव्य का सुसंगठित रूप निखरकर सामने आता है। कार्या-न्विति का यह नियम शास्त्रीय काव्यकला का प्राण है। रूप-विन्यास की जो कल्पना शास्त्रवादियों को प्रेरित करती थी, वही कार्यान्विति-सिद्धान्त में बद्ध है। यद्यपि स्वच्छन्दतावादियों ने सिद्धान्त-रूप में उसे ग्रहण किया है, तथापि आंशिक अथवा परिवर्त्तित रूप में वह स्वच्छन्दतावादी काव्य में भी व्यवहृत होता है। कार्यान्विति का अर्थ है नियमित व्यवस्था और रूपविधान। नियमन में ढीलापन हो सकता है, किन्तु उसकी पूर्ण उपेक्षा करने से काव्य में जो अराजकता फैल जायगी, वह कदाचित् स्वच्छन्दतावादियों को

अभीष्ट नहीं। तब भी कार्यान्विति के सम्बन्ध में कुछ शंकाएँ और आपत्तियाँ प्रकट की गई हैं, जिनपर संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है।

कार्यान्विति के आधार पर प्रणीत शास्त्रवादी शैली के नाटकों में कथावस्तु की सादगी मिलती है। उसका निर्माण मुख्य रूप से एक ही कथा को लेकर होता है। १७वीं शताब्दी के फ्रांसीसी नाटक इसी एकता और सरलता के लिए प्रशंसित थे। टी० एस० इलियट महोदय ने बेन जॉन्सन के शास्त्रीय प्रणाली पर निर्मित नाटकों के वस्तु-विन्यास की सरलता को इंगित करने के लिए कहा है कि उन्हें प्लाट न कहकर ऐक्शन कहना ही अधिक उचित होगा। उनका अभिप्राय यह है कि उक्त नाटकों में वस्तु-निर्माण की जटिलता का अभाव है और यह विशेषता बहुत-कुछ अन्वितियों के निर्वाह से उद्भूत है। स्वच्छन्दतावादी नाट्य-प्रणेताओं और विचारकों ने एकता और सरलता के इस आदर्श को स्वीकार नहीं किया, अर्थात् उन्होंने कार्यान्विति के आग्रह को पूर्णरूप से नहीं माना। इसका सर्वोत्तम प्रमाण शेक्सपियर के नाटकों में मिलता है। एक नाटक की कथावस्तु में अनेक कथाएँ और उपकथाएँ संकलित और गुम्फित रहती हैं। कभी-कभी उपकथाएँ किसी प्रमुख कथा के अधीन रहती हैं, किन्तु ऐसे नाटक भी हैं, जिनमें विभिन्न कथासूत्रों का प्रायः समान महत्त्व है। इन बहुसंख्यक कथाओं का पारस्परिक सम्बन्ध कभी घनिष्ठ होता है तो कभी दूरस्थ। अधिकांश नाटकों में, वे एक-दूसरे में अन्तर्निविष्ट होती हैं, किन्तु ऐसे उदाहरण भी हैं, जिनमें केवल एक वातावरण में विकसित होने के कारण वे परस्पर एक-दूसरे को स्पर्शमात्र करती हैं। निश्चय ही, इस प्रकार के अपेक्षाकृत जटिल वस्तुविन्यास से समृद्धि और वैविध्य की सूचना मिलती है और वह शास्त्रीय वस्तु-कल्पना की तुलना में जीवन के कहीं अधिक निकट प्रतीत होती है।

दूसरी समस्या है नाटक में दुःखद और सुखप्रद अंशों के सम्मिश्रण की। यह स्पष्ट है कि कार्यान्विति के नियमानुसार इस प्रकार का सम्मिश्रण वर्ज्य है। क्योंकि, वस्तु-निर्माण में किसी प्रकार के विरोधी तथा अनावश्यक तत्त्व का उपयोग नहीं होना चाहिए। प्राचीन नाटकों में ट्रेजेडी और कॉमेडी की सीमा-रेखाओं को सदैव मान्यता मिली है और फलतः वे एक-दूसरे से भिन्न रही हैं। हाँ, ऐसा विश्वास अवश्य है कि सेटेरिकल नाटकों में दुःख और सुख की अभिव्यक्ति साथ-साथ होती थी। किन्तु, ऐसे नाटक लुप्त हो गये हैं और अब प्रायः अप्राप्य हैं। अरस्तू के काव्यशास्त्र में दुःखान्त-सुखान्त नाटकों का कोई उल्लेख नहीं है और न किसी कथन से गौण रूप से भी समर्थन प्राप्त होता है। १६वीं शताब्दी में स्वच्छन्दतावादी नाटकों का प्रचलन बढ़ा और उन्होंने प्रचलित रोमांस-कथाओं की अनेक विशेषताओं को आत्मसात् किया। इस भाँति दुःखान्त-सुखान्त नाटकों का सूत्रपात हुआ, जिनकी कार्यान्विति के समर्थक शास्त्रवादी आलोचकों ने कठोर आलोचना की। कुछ लोग तो इस नवीन प्रकार की मिश्रित नाट्यविधा को एकदम हेय मानते थे, किन्तु अन्य लोग उसे ग्रहण करने के लिए तैयार थे, यदि उसमें सुखद और दुःखद तत्त्व घुल-मिलकर एक हो गये हों। इंगलैंड में ड्राइडेन, डॉ० जॉन्सन प्रभृति नवशास्त्रवादियों ने भी दुःखान्त-सुखान्त नाटकों की हिमायत की। उनका प्रधान तर्क यह

था कि नाटक यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति है, जिसमें सुख और दुःख इस प्रकार मिले रहते हैं कि उनका पृथक् करना असम्भव हो जाता है। इन नवीन प्रकार की नाट्य-कृतियों पर एक आरोप यह था कि उनमें विरोधी तत्त्व मिलते हैं और तत्काल दुःख के बाद सुख और सुख के बाद दुःख की अनुभूति अस्वाभाविक है। इसके उत्तर में ड्राइडेन ने दैनिक जीवन से प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। क्षण-भर में हमारी दृष्टि बिना कठिनाई के दुःखद दृश्यों से हटकर मनोरंजक दृश्यों पर चली जाती है अथवा कभी-कभी इसका उल्टा भी होता है। जैसे हमारी दृष्टि पल-भर में ही विरोधी तत्त्वों को ग्रहण कर लेती है, वैसे ही हमारा मन भी परिवर्त्तन ग्रहण करने में समर्थ है। हम क्यों मान लें कि हमारा मन ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा कम क्रियाशील है। दुःखान्त-सुखान्त नाटकों को सुन्दर और स्वाभाविक सिद्ध करने के लिए अनेक कारण और प्रमाण दिये गये हैं और फलतः वह अब एक सर्वस्वीकृत काव्यकोटि है। उसकी स्वीकृति से कार्यान्विति के नियम की मान्यता और व्यापकता को बहुत बड़ा धक्का लगा है।

जिन तीन परम्परागत अन्वितियों का विवेचन ऊपर प्रस्तुत किया गया है, उनका समाहार एक चतुर्थ प्रकार की एकता में हो जाता है, जिसे प्रभाव-ऐक्य अथवा युनिटी ऑव इम्प्रेशन कहते हैं। नाटक का मूल्य प्रेक्षक के मन पर पड़नेवाले प्रभाव से ही आँका जाता है। ऐसे नाटक भी होते हैं, जो मूलतः पठनीय होते हैं और अभिनेय नाटकों का रसास्वादन भी लोग अपने विश्राम-कक्ष में बैठे-बैठे पढ़कर करते हैं। किन्तु, सामान्य सत्य यही है कि नाटक रंगशाला में अभिनय की वस्तु है और प्रेक्षक उसके अस्तित्व और विकास के लिए अनिवार्यरूपेण अपेक्षित होते हैं। फ्रांसीसी मनीषी सार्सी ने इस बात को अत्यन्त तर्कपूर्ण रीति से रखा है और उनकी दलीलों का निष्कर्ष निम्नलिखित है :

"It is not sufficient simply to affirm that drama is the representation of life. It should be a more exact definition to say that dramatic art is the sum-total of the conventions, universal or local, permanent or temporary, by the aid of which in representing life in the theatre, the audience is given the illusion of truth."

इस कथन में नाटक-भ्रान्ति को ही सर्वोपरि महत्त्व प्रदान किया गया है। वही साध्य है और अन्य सभी उपकरण केवल साधन-मात्र होते हैं। प्रभाव-ऐक्य इसी नाट्य-भ्रान्ति का अंग अथवा लक्षण है। दर्शकों का समूह रंगशाला के असाधारण वातावरण में रंगमंचीय अभिनय को एक नवीन दृष्टि से देखता है और तन्मय हो जाता है। रंगशाला की व्यवस्था तथा अभिनय की सफलता का अन्तिम मानदण्ड प्रेक्षकों की यही तन्मयता है। इसी असामान्य मनःस्थिति में प्रेक्षकों को एकता की प्रतीति होती है। नाटक के विभिन्न अंग और रंगशाला के सभी साधन, सभी नियम और रूढ़ियाँ इस एकता की प्रतीति में समाहित हो जाती हैं। केवल यह भान होता है कि किसी अखण्ड कलाकृति से साक्षात्कार हो रहा है। अर्थ यह है कि व्यष्टि का ज्ञान समष्टि के ज्ञान में परिवर्त्तित हो जाता है। नाट्य-भ्रान्ति की यह अनिवार्य भूमिका है अथवा यह कह सकते हैं कि नाट्य-भ्रान्ति का

न केवल प्रारम्भ प्रभाव-ऐक्य में होता है, वरन् उसकी परिणति भी उसी में होती है। लघु साहित्य-रूपों में, जैसे कहानी और एकांकी नाटक में प्रभाव-ऐक्य सरलतापूर्वक ग्रहण होता है। नाटक का आकार अपेक्षाकृत विस्तृत और जटिल होता है और उसमें अनेक तत्त्व सन्निविष्ट होते हैं। इसलिए, प्रभाव-ऐक्य की प्रतीति उतनी सरल नहीं रह जाती। इसके अतिरिक्त प्रेक्षागृह के विभिन्न साधनों का भी ध्यान रखना पड़ता है। किन्तु, सफल अभिनय के क्षणों में यह सब कठिनाइयाँ स्वतः लुप्त हो जाती हैं और प्रेक्षक का मन प्रदर्शन में रमने लगता है। उसके लिए सभी तत्त्व एकीकृत हो जाते हैं और उसे रंगमंचीय निरूपण से यथार्थ जीवन की प्रतीति होने लगती है। नाट्य-रचना और रंगमंचीय अभिनय का यही ऐन्द्रजालिक चमत्कार है।

## अष्टम अध्याय

# नाट्यतत्त्व-सम्बन्धी कतिपय प्राचीन और नवीन मत

नाट्यतत्त्व का निश्चित स्वरूप क्या है, यह कहना कठिन है; क्योंकि इस सम्बन्ध में अनेक मत और सिद्धान्त हैं। प्राचीन युग से अद्यतन काल तक इस प्रश्न पर विचार होता आया है कि जीवन और साहित्य में वे कौन-से विशिष्ट गुण हैं, जिनसे नाटकोचित प्रभाव उत्पन्न होते हैं। सर्वप्रथम सामान्य जीवन पर विचार कर लेना समीचीन होगा। दैनिक जीवन में अनेक ऐसी घटनाएँ और व्यापार होते हैं, जिन्हें हम नाटकीय अथवा ड्रैमेटिक कहकर उनकी विशेषता का संकेत करते हैं। उदाहरणार्थ, जो घटनाएँ अकस्मात् एवं अप्रत्याशित रीति से घटित होती हैं अथवा जिनका अन्त विना पूर्व सूचना के हो जाता है, उन्हें हम अनायास नाटकीय कह देते हैं। ऐसे ही कौतूहल एवं चमत्कारपूर्ण घटनाओं और परिस्थितियों को भी नाट्य-गुणों से समन्वित माना जाता है। आश्चर्य और संशय नाटकीयता के विशेष पोषक माने जाते हैं। जब किसी कार्य के भावी फल के सम्बन्ध में दीर्घ काल तक संशय बना रहता है, तब नाट्यतत्त्व का प्रकाशन होता है और इसी भाँति जब मन किसी कारण से चकित हो जाता है तब भी हम नाटकीयता का आरोप स्वीकार करते हैं। गति में भी नाट्यतत्त्व की स्थिति मानी जाती है; क्योंकि वही जीवन का प्रमुख लक्षण है और विना गति के नाटक की कल्पना हो ही नहीं सकती। इन सभी अर्थों में सामान्यतः नाट्य अथवा नाटकीय शब्द का प्रयोग होता है। यद्यपि दैनिक जीवन में इन विशेषणों का निश्चित अर्थ स्थिर नहीं किया गया है, तथापि इस बात का पता चल जाता है कि जनसाधारण के मन में नाट्यतत्त्व का कैसा रूप विद्यमान रहता है। साहित्य में प्रयोग और चिन्तन के फलस्वरूप इन शब्दों से कुछ अधिक स्पष्ट गुणों और लक्षणों का बोध होता है। नाट्य एवं नाटकीय शब्द साहित्यिक सन्दर्भ में पारिभाषिक रूप में प्रयुक्त होते हैं, किन्तु तब भी दैनिक जीवन में जो उनका साधारण अर्थ रहता है, उसका परित्याग नहीं करते। कहने का मतलब यह है कि जिन सामान्य तत्त्वों और गुणों की चर्चा हमने ऊपर की है, वे साहित्य की परिधि के अन्तर्गत भी नाटकीय प्रभाव के विधायक माने जाते हैं। यही कारण है कि नाट्य-रचना और अभिनय में उनका निरन्तर प्रयोग होता है। अन्तर केवल यह है कि साहित्यिक रचनाओं में वे जीवन की अपेक्षा अधिक परिष्कृत और संकलित प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम होते हैं।

प्राचीन भारतीय और यूरोपीय मतानुसार नाटक अनुकरण का एक प्रकार है, जिसमें जीवन की, अर्थात् उसके सम्बन्धों, व्यापारों, अवस्थाओं और नाट्य-रूपों की अनुकृति मिलती है। भारतीय आचार्यों ने इसी मत की स्थापना की है। भरत मुनि का वाक्य है :

**देवतानां मनुष्याणां राज्ञां लोकमहात्मनाम्।**
**पूर्ववृत्तानुचरितं नाटकं नाम तद्भवेत्॥**

अर्थात् देवता, मनुष्य, राजा एवं महात्माओं के पूर्ववृत्त की अनुकृति को नाटक कहते हैं। रूपक में अवस्थाओं की अनुकृति के साथ-साथ रूप का आरोप होता है। नाट्य नट् धातु से निकला है, और इससे केवल अब स्पन्दनोपलक्षित सात्त्विक भावों का प्राचुर्य लक्षित होता है। इस प्रकार नाट्य एवं रूपक तो पर्याय हैं, परन्तु रूपक नाम नाटक की अपेक्षा अधिक व्यापक है ; किन्तु आज हम चाहे इन दोनों (नाटक एवं रूपक) में कोई भी शब्द ले लें, इसमें तनिक सन्देह नहीं कि अनुकरण ही आधारभूत व्यापार है। अभिनय रूपक के लिए अनिवार्यरूपेण अपेक्षित था और जैसा हम रस की व्याख्या में कह आये हैं, नट और नटी आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक—इन चार प्रकार के अभिनयों द्वारा तथा विभाव, अनुभाव और संचारियों के सहयोग से रसनिष्पत्ति में सहायक होते थे। संक्षेप में, भारतीय सिद्धान्त यह है कि नाट्यतत्त्व वह है, जिसमें कतिपय साधनों के योग से रसानुभूति कराने की शक्ति है। सभी कथाओं में रस की सम्भावना नहीं रहती और न सभी परिस्थितियों का रसोत्पत्ति के लिए उपयोग किया जा सकता है। कतिपय पूर्ववर्त्ती कारणों का होना आवश्यक है, तभी रसोद्रेक सम्भव हो सकता है। इसी अनिवार्य पूर्ववर्त्ती गुण अथवा कारण को नाट्यतत्त्व मानना ठीक होगा। यह न कहकर कि नाट्यतत्त्व के कौन-से प्रत्यक्ष लक्षण हैं, रस-सिद्धान्त के प्रसंग में हम केवल यह कह सकते हैं कि रूपक में वह रस-निष्पत्ति के अनिवार्य हेतु के रूप में सन्निविष्ट रहता है और उसका प्रकाशन अनुकरण और अभिनय द्वारा होता है।

भारतीय रस-सिद्धान्त के अनुकरण से मुख्यरूपेण अभिनय का बोध होता है। भावों की अभिव्यक्ति नट-नटी के अभिनय द्वारा होती है, जो रूपों और अवस्थाओं का अनुकरण करते हैं। इसीलिए नाट्यशास्त्र में अभिनय और नृत्य का अत्यन्त विस्तृत विवेचन मिलता है। नृत्य से भावोन्मेष होता है। अनुकरण का यह अर्थ पाश्चात्त्य विचारधारा में भी मिलता है। आरम्भ से ही नाटक में रूप बदलकर और गात्र-विक्षेप द्वारा दूसरों की नकल की जाती थी। मदिरा के देवता डायनिसस के उन्मत्त उपासक नवीन प्रकार का वस्त्र धारण करते तथा मुख में कालिख और मदिरा की तलछट पोतकर नाचते तथा फान, सैटिर, पान आदि की नकल करते थे। तभी से अनुकरण का अर्थ वस्त्र और व्यवहार द्वारा दूसरों की अनुकृति प्रस्तुत करना हो गया और यह अर्थ आज भी लुप्त नहीं हुआ है। इसी को मिमिक्री अथवा हिस्ट्रीयानिक कहते हैं और रंगशाला के प्रसंग में 'अनुकरण' शब्द से मुख्यतः यही अर्थ गृहीत होता है। नाटकीय का कभी-कभी यह अभिप्राय भी होता है कि कोई घटना अथवा व्यवहार अभिनेय अथवा रंगमंच पर प्रभावोत्पादक सिद्ध होने की क्षमता रखता है। इस प्रकार, लोक-प्रचलित भाषा में नाट्यतत्त्व को अभिनेयता का पर्यायवाची मान लेते हैं तथा नाट्य-प्रदर्शन से इसका सीधा सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। किन्तु, यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि नाट्यतत्त्व की इस प्रकार की व्याख्या लोकरुचि के अनुकूल होते हुए भी सर्वमान्य नहीं हो सकती।

यहाँ नाटक और रंगशाला के सम्बन्ध का प्रश्न सामने आता है। हम यह कह चुके हैं कि भरत मुनि ने नाटक को अभिनय और रंगशाला की वस्तु माना है। परवर्त्ती आचार्यों ने

उसे अन्य काव्यरूपों के साथ रखकर ही उसकी समीक्षा की है, किन्तु रंगशाला की उपादेयता को उन्होंने पूर्ण रूप से अस्वीकार नहीं किया है। यूरोप में इस प्रश्न को लेकर मतभेद है। कुछ विचारक रंगशाला और अभिनय को अनिवार्यरूपेण अपेक्षित सिद्ध करते हैं, किन्तु अन्य विचारकों ने नाटक को रंगशाला से पृथक् रखकर उसके काव्यात्मक और कलात्मक गुणों पर ध्यान केन्द्रित किया है। दूसरे प्रकार के चिन्तकों का प्रतिनिधित्व अरस्तू और क्रोचे करते हैं। अरस्तू के काव्यशास्त्र में रंगशाला के उपादानों को अत्यन्त अल्प महत्त्व मिला है और दुःखान्त तथा सुखान्त नाटकों पर मूलतः काव्यात्मक वैशिष्ट्य की दृष्टि से विचार किया गया है। काव्य की सामान्य परिभाषा देने के बाद नाटक को उसका एक विशिष्ट रूप माना गया है और जिन कलात्मक गुणों की ओर अरस्तू ने विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया है, वे किसी अंश में महाकाव्य में तो मिलते ही हैं, कदाचित् अन्य काव्यरूपों में भी परिलक्षित हो सकते हैं। अरस्तू को अपने समय के उपलब्ध नाटकों का गम्भीर ज्ञान था तथा वे एथेन्स की रंगशाला, उसकी व्यवस्था तथा अभिनय-प्रणाली से भी परिचित थे, इसके प्रमाण काव्यशास्त्र में मिलते हैं। नाट्य-साहित्य और रंगशाला का आवश्यक ज्ञान रखनेवाले इस साहित्य-मर्मज्ञ ने दृश्य-विधान, नृत्य, संगीत आदि को केवल गौण स्थान दिया है और इस बात का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया है कि दुःखान्त नाटकों का विशिष्ट प्रभाव काव्यात्मक उपकरणों से उत्पन्न होता है, रंगशाला की साज-सज्जा तथा उसमें सम्पन्न होनेवाले नृत्य और अभिनय से नहीं। क्रोचे ने तो रंगशाला की उपयोगिता को पूर्णरूपेण अमान्य घोषित किया है। उनके मतानुसार नाटक की अभिव्यक्ति मन में होती है और उसके लिए रंगशाला के स्थूल साधनों की कोई आवश्यकता नहीं होती। अरस्तू, क्रोचे प्रभृति आचार्यों से मतभेद रखनेवाले उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के अनेक यूरोपीय कलाविदों और विद्वानों ने नाटक के अस्तित्व को रंगशाला से पृथक् नहीं माना है। सार्सी के मत की चर्चा हम पिछले अध्याय में कर आये हैं और बता आये हैं कि वे नाट्यशाला और प्रेक्षक-समुदाय को नाट्यतत्त्व के उद्घाटन का अनिवार्य माध्यम मानते हैं। २०वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका तथा कई अन्य देशों में नाट्यशाला का विशेष ज्ञान रखनेवाले मनीषियों ने यह नवीन स्थापना प्रस्तुत की है कि नाटक कवि, अभिनेता, रंगशाला के प्रबन्धक, प्रेक्षक तथा रंगशाला से सम्बद्ध अन्य व्यक्तियों और साधनों के समुचित सहयोग और सम्मिश्रण द्वारा अपना प्रभाव उत्पन्न करता है। यदि हम यह दूसरा मत मान लें, तो यह निष्कर्ष स्वतः निकलता है कि नाट्यतत्त्व का प्रधान उत्स रंगशाला में है, जहाँ उसका उद्भव और चरमोत्कर्ष होता है। दोनों मतों को साथ-साथ रखकर विचार करने से पता लगता है कि एक कोटि के विचारक नाट्यतत्त्व की स्थिति काव्य-रचना में मानते हैं और दूसरे उसे रंगशाला के उपकरणों और साधनों पर निर्भर मानते हैं। नाट्यतत्त्व वस्तुतः काव्यनिष्ठ है, यद्यपि उसका प्रस्फुटन और विकास रंगशाला में होता है। इस प्रकार, दोनों विरोधी मतों का समाहार हो जाता है।

अनुकरण-सिद्धान्त का विवेचन करते समय हमने इस बात का निर्देश किया है कि उक्त सिद्धान्त की सार्थकता और उपादेयता विशेष रूप से नाटकों के क्षेत्र में प्रकट होती है।

हम देखते हैं कि नाट्यतत्त्व की व्याख्या में निरन्तर अनुकरण की धारणा का आश्रय लिया जाता है और यह कथन बार-बार दुहराया जाता है कि नाटक जीवन की अनुकृति है। शेक्सपियर के नाटकों में जगह-जगह नाटक के सारभूत तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है। उनकी एक प्रसिद्ध उक्ति है कि नाटक जीवन के समक्ष दर्पण प्रस्तुत करता है, अर्थात् बिम्ब-रूप में उसके यथातथ्य स्वरूप को ग्रहण करता है। यथातथ्य निरूपण-सम्बन्धी यह धारणा प्राचीन काल से आज तक अनेक बार दुहराई गई है। प्राचीनों में सिसरो ने उक्त विचार को बड़ी स्पष्टता के साथ व्यक्त किया है। उनका कथन है :

"Drama is a copy of life, a mirror of custom, a reflection of truth."

१७वीं शताब्दी में ड्राइडेन ने नाटक की अपनी प्रसिद्ध परिभाषा में उसे just and lively image बताया है। Just और image दोनों शब्दों से यही ध्वनि निकलती है कि ड्राइडेन यथातथ्य निरूपण के समर्थक थे, यद्यपि परिभाषा के शेष भाग में अन्य बातों की चर्चा है, जो ड्राइडेन और अरस्तू का मतैक्य सिद्ध करती हैं। वस्तुतः, ड्राइडेन की परिभाषा में दो विभिन्न विचार-सरणियों का सम्मिश्रण हो गया है। आधुनिक युग में अनेक यथार्थवादियों और प्रकृतिवादियों ने नाटक में जीवन के वास्तविक रूप के अपरिवर्तित निरूपण को ही अन्तिम ध्येय माना है। वैयक्तिक और सामाजिक जीवन जैसा है, ठीक वैसा ही उसे नाटक में अंकित करके रंगमंच पर प्रदर्शित करना उनको अभीष्ट है। अनुकरण की इस पद्धति के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ उठाई गई हैं। कला में जीवन का वास्तविक रूप बिना परिवर्त्तन के न तो निबद्ध हो सकता है और न ऐसा करने से कोई विशेष प्रयोजन ही सिद्ध होता है। कला की परिधि के अन्तर्गत समाविष्ट होते ही जीवन का रूप कुछ-न-कुछ अवश्य बदल जाता है, कलाकार चाहे अथवा नहीं। इसके अतिरिक्त नाटक से संकलित प्रभाव और तीव्रानुभूति की आकांक्षा की जाती है, जिसकी पूर्त्ति यथातथ्य निरूपण से नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध में विक्टर ह्यूगो के निम्नलिखित शब्द अत्यन्त सारगर्भित और उपयुक्त हैं :

"I imagine that it has been said, 'The drama is a mirror in which nature is reflected.' But if this mirror be an ordinary mirror, a flat and polished surface, it will provide but a poor image of the objects, without relief—faithful, but colourless; it is well known that colour and light are lost in a simple reflection. The drama, therefore, must be a focussing mirror, which, instead of making weaker, collects and condenses the coloured rays, which will make of a gleam a light, of a light a flame. Then only is the drama worthy of being counted an art."

वास्तव में अनुकरण का वह स्वरूप, जिसकी विस्तृत व्याख्या हम कर आये हैं, नाटक के अधिक उपयुक्त है। उससे नाट्यतत्त्व का उद्बोधन तथा उन्नयन होता है। दुःखान्त और सुखान्त नाटक काव्य के ही दो भेद हैं और अरस्तू के मतानुसार समस्त काव्य अनुकरण है। नाटक और अन्य काव्यरूपों में अनुकरण की विधि से भेद उत्पन्न

होता है। ट्रैजेडी की परिभाषा में अरस्तू ने स्पष्ट रूप से यह भेद व्यक्त किया है। ट्रैजेडी में अनुकरण कथा-वर्णन द्वारा नहीं, वरन् क्रिया द्वारा होता है। निःसन्देह कॉमेडी के सम्बन्ध में भी यही बात सत्य है। इस पार्थक्य-निरूपण में नाटक की अभिनेयता का आग्रह स्वीकार किया गया है, किन्तु सामान्यतः अरस्तू ने ट्रैजेडी के काव्यात्मक गुणों की ही विशेष व्याख्या प्रस्तुत की है। अतः, अनुकरण से उनका अभिप्राय रंगमंचीय अभिनय से नहीं है। उन्होंने तो अनुकरण को एक विशिष्ट प्रक्रिया के रूप में ही माना है, जिसके द्वारा विशिष्ट में सामान्य की, व्यष्टि में समष्टि की प्रतीति होती है। कल्पना की सहायता से तथा कतिपय निर्माणात्मक नियमों के पालन द्वारा व्यक्तिगत पूर्वाग्रह मिट जाते हैं, संकीर्णता विनष्ट हो जाती है और जीवन का सार्वभौम रूप प्रकट होने लगता है। यह विशेष स्मरणीय है कि अनुकरण द्वारा पदार्थों का केवल बाह्य रूप अंकित अथवा निरूपित नहीं किया जाता, वरन् आन्तरिक सम्बन्धों, अर्थात् भावनाओं और गम्भीर अनुभूतियों की अभिव्यक्ति भी होती है। अरस्तू और उनके अनुयायियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त यह है कि समस्त काव्य इसी अर्थ में अनुकरण है। जैसाकि हम अभी बता आये हैं, नाटक में कथा-वर्णन की पद्धति नहीं अपनाई जाती। वह तो कथाकाव्य और महाकाव्य में ही उपयोगी होती है। नाटक में कवि द्वारा कोई कथा नहीं कही जाती, वह तो पात्रों और परिस्थितियों की सृष्टि करता है और इन्हीं के घात-प्रत्याघात से नाटक स्वयं विकसित होता जाता है। इस भाँति यह स्पष्ट है कि रूपक में क्रिया ही अनुकरण का मौलिक साधन है। उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि विचारकों का एक बहुत बड़ा तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समुदाय अनुकरण को नाट्यतत्त्व का प्राण मानता है। किन्तु, यह ध्यान रखने की बात है कि इस प्रसंग में अनुकरण का एक विशिष्ट अर्थ है और वह कोरी अनुकृति से भिन्न है।

कुछ लोगों का विचार है कि अनुकरण साधन-मात्र है, साध्य है अयथार्थ में यथार्थ की प्रतीति। उनका कहना है कि नाटक कल्पना का व्यापार है, अतः उसकी तुलना स्वप्न अथवा विभ्रम से की जा सकती है। शेक्सपियर ने नाटक के बारे में लिखा है :

"The best of its kind is but a dream,
And the worst is no worse if imagination amend it."

कल्पना-प्रधान स्वच्छन्दतावादी नाटकों का यह भ्रान्तिमूलक स्वरूप सहज ही अवगत हो जाता है। पात्र, परिस्थितियाँ और घटनाएँ सभी कल्पना के रंग में रँगी होती हैं और नाटक के स्वप्निल वातावरण में असम्भव और सम्भव का भेद मिट जाता है। विश्व के नाट्य-साहित्य का बहुत बड़ा अंश ऐसे ही नाटकों से भरा-पड़ा है। यथार्थ-निरूपण के अभिप्राय से लिखे हुए नाटकों में भ्रान्ति इतनी स्पष्टता से द्रष्टव्य नहीं होती, किन्तु ध्यान देने पर सरलता से उसके अस्तित्व का पता चल जाता है। यथार्थ का निरूपण इस प्रकार किया जाता है कि अनुकृति को ही लोग कुछ समय के लिए यथार्थ समझने लगें। यथार्थवादी काव्य-सर्जना की तह में यही उद्देश्य निहित रहता है और नाटकों में तो उसका विशेष महत्त्व है। पिछले अध्याय में हम नाट्य-भ्रान्ति के सम्बन्ध में विस्तार से लिख

आये हैं और तत्सम्बन्धी प्रमुख मतों और सिद्धान्तों की चर्चा भी हमने यथास्थान की है। यहाँ हम केवल संक्षेप में यह कहेंगे कि नाट्य-रचना और अभिनय दोनों का उद्देश्य एक विशेष प्रकार की मनःस्थिति उत्पन्न करना है, जिसमें अनुकरणात्मक तत्त्वों को हम यथार्थ तत्त्व समझने लगते हैं। कथा, अभिव्यक्ति और अभिनय के जो उपकरण इस प्रकार यथार्थ और अयथार्थ के भेद को मिटाने में सहायक होते हैं, जो पाठक और प्रेक्षक के मन में सुखद भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं, जो मूलतः अज्ञान से भिन्न हैं, उन्हीं को अनेक नाट्यशास्त्र-विशारद मूलवर्त्ती नाट्य-तत्त्व मानते हैं।

गति ही नाटक का सारभूत तत्त्व है, ऐसी धारणा भी विद्वानों में प्रचलित है। गति और नाटक का अभिन्न संयोग आरम्भ से ही चला आया है। इस देश में और विदेश में भी नाटक का जन्म गति और क्रिया के माध्यम से सम्भव हो सका। भारतवर्ष में पूजा, यज्ञ, नृत्य और अभिनय—इन सबके सम्मिलित प्रभाव से उस विशिष्ट काव्यरूप का आविर्भाव हुआ, जिसे नाट्य अथवा रूपक कहते हैं और निःसन्देह उन चारों कारणों में गतिशीलता प्रचुर मात्रा में विद्यमान थी। यूरोप में दुःखान्त और सुखान्त नाटकों का विकास-क्रम डायोनिसस की पूजा और उपासना से प्रारम्भ होता है। उपासक उन्मत्त होकर नृत्य करते थे और एक स्थान से दूसरे स्थान तक पर्यटन करते थे। तभी से भावावेश नाटकों का सर्वस्वीकृत गुण बना हुआ है। जो गतिशीलता नाटकों के उद्भवकाल में प्रकट हुई, वह किसी-न-किसी रूप में उसके स्वभाव में अन्तर्निहित हो गई। अतः, उसी गति के सहारे नाट्यतत्त्व को समझने का प्रयास किया गया है।

संगीत की भाँति काव्य भी गतिशील कलारूप है। इस दृष्टि से वह शिल्पकला, वास्तुकला आदि से भिन्न है। यह स्वाभाविक गतिशीलता नाट्य-रचना में अत्यधिक महत्त्व-पूर्ण हो जाती है; क्योंकि नाटक में गति की अभिव्यक्ति कई प्रकार से होती है। सर्वप्रथम कथानक को लीजिए। उसमें घटनाओं की एक विकसनशील शृंखला तैयार की जाती है। समय-क्रम से एक घटना के बाद दूसरी घटना आती है। कभी-कभी काल-निरूपण में उलट-फेर भी होता है, किन्तु ऐसा व्यतिक्रम केवल बाह्य और क्षणिक होता है। थोड़ा ध्यान देने से कथासूत्र की प्रगति तथा उसमें कालक्रम की नियोजना दोनों का ही पता लग जाता है। कथा आगे बढ़ती है और उसकी गति का पता हमें रंगमंचीय अभिनय में तो लगता ही है, पढ़ने में भी उसे ग्रहण कर लेते हैं। कथा अथवा क्रिया की गति अनेक कारणों से निरन्तर बदलती रहती है और इस गति-परिवर्त्तन का सम्यक् कलापूर्ण प्रतिपादन कवि की सफलता का द्योतक है। क्षण-भर के लिए यदि हम और सभी बातों को भुला दें, तब भी गति और प्रगति तथा विवेकपूर्ण गति-परिवर्त्तन पर ध्यान केन्द्रित करने से भी हमें प्रचुर आनन्द की उपलब्धि होती है। इस बात को समझने के लिए यदि हम यूरोप में लोकप्रिय होनेवाले संगीत-नाट्य पर विचार करें, तो हमें प्रकाश मिलेगा।

नाटक में गति की प्रतीति मुख्य रूप से घटनाओं के शीघ्रतापूर्वक एवं क्रमानुसार घटित होने के कारण होती है। जब बिना अधिक अन्तर के घटनाएँ एक-दूसरे के बाद आती हैं, जब दृश्य-परिवर्त्तन निरन्तर होता रहता है, जब रंगमंच पर पात्रों का आना-जाना

लगा रहता है, तब यह आभास मिलता है कि कथानक द्रुतगति से अग्रसर हो रहा है। इसके विपरीत जब दृश्यों का विस्तृत निरूपण होता है तथा वे विलम्ब से परिवर्त्तित होते हैं, तब यह भान होता है कि क्रिया मन्द गति से बढ़ रही है। चित्रपट पर गति की अनुभूति अतीव प्रत्यक्ष हो जाती है; क्योंकि चित्र-नाट्य की नियोजना मूलरूप से दृश्य-परिवर्त्तन तथा दृश्यों के गति-निर्धारण के आधार पर ही होती है। नाट्य तथा नाट्य-अभिनय में गति-प्रतीति के लिए कल्पना का सहारा अनिवार्यरूपेण अपेक्षित होता है और केवल संवेदनशील विज्ञ पाठक और प्रेक्षक ही गति और उसके परिवर्त्तन को सम्यक् रीति से ग्रहण करते हैं। इसके अतिरिक्त नाटकों में गति का अपेक्षाकृत सूक्ष्म एवं अमूर्त्त प्रकाशन भी होता है। जब प्रमुख पात्रों के मन में भावों का प्रबल आवेग उत्पन्न होता है, तब यद्यपि वे प्रत्यक्ष में स्थिर और क्रिया-रहित दिखाई देते हैं, तथापि उनके मनोवेगों की अभिव्यक्ति से गतिशीलता की अनुभूति होती है। शेक्सपियर के दुःखान्त नाटकों में इस प्रकार की आन्तरिक गतिशीलता के अनेक उदाहरण मिलते हैं और मैटरलिंक की कई नाट्य-रचनाओं में बाह्य गति का प्रायः नितान्त अभाव है, किन्तु मनोवेगों के उत्थान-पतन एवं पारस्परिक संघर्ष के कारण गति का स्पष्ट आभास मिलता है। यही बात किसी अंश में चिन्तन के लिए भी सच है। जब मस्तिष्क सक्रिय हो उठता है और चिन्तन की प्रक्रिया तीव्र गति से चलने लगती है, तब पाठकों को गति की प्रतीति होती है, यद्यपि स्थूल अथवा भौतिक अर्थ में गति का कोई लक्षण विद्यमान नहीं रहता। हमने अन्यत्र शेक्सपियर द्वारा दुहरे कालक्रम के उपयोग की बात लिखी है। इस साधन से भी शेक्सपियर ने गति की प्रतीति कराने का प्रयास किया है। जब वह द्रुत गति का संकेत देना चाहते हैं, तब संक्षिप्त कालक्रम का उल्लेख करते हैं और जब मन्द गति की प्रतीति कराना चाहते हैं, तब विस्तृत कालक्रम का। गति की अभिव्यक्ति के और भी साधन और प्रकार हो सकते हैं। यहाँ उपर्युक्त उदाहरणों द्वारा हम केवल यह बताना चाहते हैं कि नाट्य-व्यवस्था में गति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है और यदि हम उसे प्रमुख नाट्यतत्त्व मान लें, तो मतभेद के लिए अधिक अवसर न रहेगा।

यहाँ एक स्पष्टीकरण आवश्यक है। नाटक में गति तो होती ही है और उसके महत्त्व को भी भुलाया नहीं जा सकता। किन्तु, यह ध्यान देने की बात है कि उसमें गति के साथ विस्तार की कलापूर्ण नियोजना होती है। जहाँ हम कथासूत्र को पकड़कर क्रमशः आगे बढ़ते हैं, साथ-ही-साथ यह भी स्मरणीय है कि नाटक के विविध अंग-प्रत्यंगों का एक निश्चित व्यवस्था के अन्तर्गत संगठन होता है। चाहे हम अन्वितियों के नियम तथा इतर नियमों को मानें अथवा नहीं, यह तो निर्विवाद सत्य है कि नाटकों की कल्पना अनुपात और सुव्यवस्था, अर्थात् स्ट्रक्चरल सिमेट्री को भुलाकर नहीं की जा सकती। इसलिए एक विचारक ने कहा है: "Drama not only progresses in time but is also composed in space." इस प्रकार, रूप-सौष्ठव नाटक का एक अनिवार्य गुण है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। नाटक की तुलना गतिशीलता में संगीत से की जा सकती है तथा विस्तार और अन्य नियोजना में वह चित्रकला के समकक्ष है।

१९वीं शताब्दी में हेगेल ने दुःखान्त नाटकों की द्वन्द्वात्मक व्याख्या प्रस्तुत की, जो अत्यन्त चमत्कारपूर्ण है। हेगेल के उपरान्त कई प्रसिद्ध दार्शनिकों ने नाट्यतत्त्व के स्वभाव-निरूपण में उसी द्वन्द्वात्मक तर्क-पद्धति का आश्रय लिया। दुःखान्त और सुखान्त नाटक द्वन्द्व और समन्वय (कन्फ्लिक्ट ऐण्ड रिकॉन्सिलिएशन) के रूप माने गये और नाट्यतत्त्व के लिए द्वन्द्व की मौलिक अनिवार्यता पर विशेष बल दिया गया। फलतः, आधुनिक काल में सामान्यतः द्वन्द्व को ही प्रमुख नाट्यतत्त्व मानते हैं और उसी का प्रकाशन विभिन्न नाट्य-रूपों में खोजने की प्रथा चल पड़ी है।

हेगेल का समस्त दर्शन आदर्शवादी है और नैतिक मूल्यों पर भी उनका आग्रह है। इसीलिए, उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि ट्रैजेडी में नैतिक कर्त्तव्यों का द्वन्द्व दिखाया जाता है। उन्होंने एण्टीगोन का उदाहरण प्रस्तुत किया है। एण्टीगोन के सम्मुख दो प्रकार के कर्त्तव्यों में प्रत्यक्ष विरोध का अवसर उठ खड़ा हुआ। एक ओर उसका कर्त्तव्य यह था कि वह अपने मृत बन्धु का अन्तिम संस्कार करे और दूसरी ओर, उसका यह भी कर्त्तव्य था कि वह उस राजाज्ञा का पालन करे, जिसके अनुसार अपने विद्रोही भाई का अन्तिम संस्कार करना वर्जित था। इसी द्वन्द्व का निरूपण और उसका भावात्मक समन्वय सोफोक्लीज के एण्टीगोन नामक प्रसिद्ध नाटक का विषय है। आधुनिक काल में भी कतिपय नाटकों में नैतिक तत्त्व के 'आत्मविभाजन' (Self-division) के उदाहरण मिलते हैं। उदाहरण के लिए गाल्सवर्दी के 'लॉयल्टीज' नामक नाटक में विभिन्न कर्त्तव्यों की प्रतिस्पर्द्धा और उनके पारस्परिक संघर्ष की कथा निबद्ध है। हेगेल की व्याख्या अत्यन्त मौलिक है और उसके सहारे हम बहुत-से दुःखान्त नाटकों के मूल तक पहुँच सकते हैं, किन्तु न तो सभी प्राचीन और न सभी नवीन नाटकों का ही विश्लेषण उसके आधार पर हो सकता है। इस भाँति उसकी उपादेयता सीमित है, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि हेगेल ने नाटकों के अध्ययन और रसास्वादन के लिए एक नवीन भूमिका तैयार कर दी।

हेगेल के इस नवीन नाट्य-सिद्धान्त का आलोचना पर गहरा प्रभाव पड़ा और अनेक परवर्त्ती विचारकों के चिन्तन पर उसकी छाप द्रष्टव्य है। उदाहरण के लिए हम ए० सी० ब्रैडले की समीक्षा ले सकते हैं। शेक्सपियर के दुःखान्त नाटकों पर उनका ग्रन्थ अनेक प्रकार से अद्वितीय है। उसके अध्ययन से यह पता चलता है कि ब्रैडले ने मूलतः हेगेल के द्वन्द्वात्मक विचारों को स्वीकार किया है, यद्यपि उन्होंने द्वन्द्व के स्वरूप को कहीं अधिक विस्तृत बना दिया है। सुविख्यात मत है कि दुःखान्त नाटकों में बाह्य द्वन्द्व और अन्तर्द्वन्द्व मिलता है। बाह्य द्वन्द्व में स्थूल उपकरणों का संघर्ष होता है, जैसे दो राज्यों, दो सेनाओं, दो परिवारों आदि में मुठभेड़। अन्तर्द्वन्द्व में भावों और विचारों की भिड़न्त होती है। इस संघर्ष का आधार नैतिक हो सकता है, किन्तु ब्रैडले के मत से ऐसा होना सर्वथा आवश्यक नहीं होता। यही ब्रैडले और हेगेल के विचारों में अन्तर है। यह सहज ही द्रष्टव्य है कि ब्रैडले ने द्वन्द्व के परिवेश में अनेक प्रकार के बाह्य और आभ्यन्तर संघर्षों को समाविष्ट कर दिया है और उसके दो रूप माने हैं—मूर्त्त और अमूर्त्त। पिछले दो-तीन

दशाब्दों में ब्रैडले के द्वन्द्व-सम्बन्धी विचार देश में लोक-प्रचलित हुए हैं और उनकी छाप न केवल हमारे आलोचनात्मक साहित्य, अपितु सर्जनात्मक साहित्य पर भी पड़ी है।

शॉपेनहावर ने हेगेल के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का विरोध किया है, किन्तु उसके विचार में भी संघर्ष की भावना प्रच्छन्न रीति से निहित है। विल, अर्थात् इच्छाशक्ति की उन्होंने अत्यन्त प्रशस्त एवं सबल कल्पना की है और इसी के आधार पर ट्रैजेडी का स्वरूप निर्धारित किया है। जब इच्छाशक्ति के सामने नियति और नैसर्गिक शक्तियों का विध्वंसकारी रूप प्रस्तुत होता है, तब उसकी प्रतिक्रिया ट्रैजेडी के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। जीवन के उन भयावह प्रश्नों का उत्तर, जिनका मूल प्रकृति और जीवन की अतल गहराई में मिलता है, दुःखान्त नाटक में मिलता है; क्योंकि वहाँ इच्छा की क्रियात्मक शक्ति का प्रकाशन होता है। नीत्से के ट्रैजेडी-सम्बन्धी विचारों में पार्थक्य और उसके समाहार की प्रणाली अधिक स्पष्टता से वर्णित है। यूनानी देवताओं में अपोलो अपने सौमनस्य और शान्त मुद्रा के लिए प्रसिद्ध है। वह उन विशिष्ट गुणों का प्रतीक है, जिनका सम्बन्ध क्लासिकी, अर्थात् प्राचीन शास्त्रीय कला से माना जाता है। यूनानी शिल्पकला और वास्तुकला में अपोलिनियन गुणों का प्रकाशन प्रमुख रूप से हुआ है; क्योंकि उनमें सन्तुलन, स्थिरता, अभिव्यक्ति की सफाई आदि लक्षण स्पष्टतया प्रकट हुए हैं। मदिरा का देवता डायनिसस शक्ति, गति और उत्साह का प्रतिनिधित्व करता है। उसके व्यक्तित्व और आचरण में समस्त सजीव और गतिशील तत्त्वों का सन्निवेश हुआ है। गति-सम्पन्न कलाओं में, जैसे संगीत, नाट्य-कला आदि डायनिसियन विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। ट्रैजेडी के जन्म और विकास की जो विशद व्याख्या नीत्से ने प्रस्तुत की है, उसमें केन्द्रीय उपस्थापना यह है कि ट्रैजेडी मुख्यतः डायनिसियन है, किन्तु उसमें अपोलोनियन गुणों का भी आंशिक समावेश हो जाता है। अस्तु, ट्रैजेडी के लिए अपोलोनियन और डायनिसियन उपकरणों का समन्वय अपेक्षित होता है, यद्यपि डायनिसियन प्रभाव की प्रधानता कभी सन्दिग्ध नहीं होती। ट्रैजेडी के रूपविधान और चिन्तन में अपोलोनियन प्रभाव तथा भावनाओं के प्रबल उद्वेलन और शक्ति तथा गति के निरूपण में डायनिसियन प्रभाव परिलक्षित होता है। नीत्से ने स्वयं ट्रैजेडी के इस द्विगुणात्मक स्वरूप का निरूपण स्पष्टतापूर्वक किया है :

"....the Apollonian illusion is ( in the effect of tragedy ) found to be what it really is,—the assiduous veiling during the performance of tragedy of the intrinsically Dionysian effect : which, however, is so powerful that it finally forces the Apollonian drama itself into a sphere where it begins to talk with Dionygsian wisdom, and even devies itself and its Appollonian consipicuousness. Thus then the intricate relation of the Appollonian and the Dionysian in tragedy must really be symbolized by a fraternal union of the two deities. Dionysus speaks the language of Apollo; Apollo however, finally speaks the language of Dionysus; and so the highest goal of tragedy and of art in general is attained."

द्वन्द्व का प्रयोग सुखान्त नाटकों में भी होता है। इसके अनेक उदाहरण नाट्य-साहित्य में मिलते हैं। परम्परा से हमारे देश में नाटक सुखान्त होता है, किन्तु कथावस्तु के विश्लेषण द्वारा सहज ही पता चल जाता है कि अनेक स्थलों पर विरोधी शक्तियों, उद्देश्यों और भावनाओं का संघर्ष दिखाया गया है। चाहे हम प्राचीन संस्कृत-नाटकों को लें अथवा आधुनिक हिन्दी-नाटकों को, विरोध और अन्त में इसके परिहार की कथा हमें प्रायः सदैव मिलेगी। ऐसे संयोगान्त नाटकों में, जिनकी परिणति विवाह में होती है, कथा के पूर्व भाग में प्रणय का मार्ग-अवरोधन, विरह आदि का दिखाया जाना स्वाभाविक है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि अन्त में द्वन्द्व का विलय हो जाता है, परन्तु कथावस्तु के प्रारम्भ और विशेषकर मध्य में द्वन्द्व-निरूपण की सम्भावना बनी रहती है। जो बात भारतीय नाटकों के बारे में हम कह रहे हैं, लगभग वैसा ही कुछ हम पाश्चात्त्य दुःखान्त-सुखान्त नाटकों के लिए कह सकते हैं। सच तो यह है कि अनेक उत्कृष्ट भारतीय नाटकों तथा पाश्चात्त्य दुःखान्त-सुखान्त नाटकों में पर्याप्त समानता मिलती है। दोनों में द्वन्द्व और दुःख के बाद अन्ततोगत्वा सुख और शान्ति का आविर्भाव होता है।

सुखान्त नाटक में विट, अर्थात् वैदग्ध्य का स्वरूप द्वन्द्वात्मक है। अँगरेज दार्शनिक लॉक ने विट के लिए यह आवश्यक बताया है कि दो ऐसे तथ्य अथवा विचार हों, जो प्रत्यक्ष रूप से असमान दिखाई देते हों। ऐसे असमान तत्त्वों को शीघ्रतापूर्वक इस कौशल से एकत्र किया जाता है कि उनमें समानता के दर्शन होने लगते हैं। इस प्रकार, असमान विचारों के संघर्ष और तदुपरान्त समन्वय को भी विट कहते हैं। जैसे, दो तरफ से आने-वाले पथिक अचानक सड़क के किसी एक कोने पर भिड़ जायँ और फिर हँसकर एक-दूसरे से हाथ मिलावें, वैसे ही विट की सृष्टि भी होती है। विट और ह्यूमर में मौलिक अन्तर यह है कि प्रथम में विचारों के वैविध्य और संघर्ष पर अधिक बल दिया जाता है और दूसरे में उनके सौहार्दपूर्ण समन्वय पर। संसार के सुखान्त नाटकों में अनेक युगों और देशों में विट को आधारभूत तत्त्व बनाया गया है। वाग्वैदग्ध्य से नाटक अत्यन्त रुचिकर बन जाते हैं और रंगमंच पर उनका प्रदर्शन तो विशेष आकर्षक सिद्ध होता है। विट का प्रदर्शन अधिकांश स्थलों पर स्त्री और पुरुष-पात्रों के वार्त्तालाप में होता है। दोनों पक्ष एक-दूसरे पर वचन द्वारा कौशलपूर्ण आघात करते हैं। यह विस्तृत वाग्युद्ध अत्यन्त चमत्कारपूर्ण होता है और विद्वानों ने इसे सेक्स-ऐण्टागोनिज्म (Sex-antagonism) की संज्ञा दी है। स्त्री और पुरुष निसर्गतः एक-दूसरे में रुचि रखते हैं और आपस में आकृष्ट होते हैं। यही आकर्षण स्पर्द्धा और वाग्युद्ध में प्रकट होता है, जो स्वाभाविक अभिरुचि और आकर्षण का परिवर्त्तित रूप है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सेक्स-ऐण्टागोनिज्म की यही व्याख्या है।

ट्रैजेडी के सम्बन्ध में लिखते हुए हमने नीत्से के मत का उल्लेख किया है, जिसमें अपोलोनियन और डायनीसियन नामक दो विभिन्न प्रवृत्तियों के पारस्परिक विरोध और आंशिक समन्वय की व्याख्या अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक निरूपित हुई है। फ्रांसीसी दार्शनिक बर्गसाँ का हास्य और कॉमेडी-सम्बन्धी सिद्धान्त कुछ बातों में नीत्से द्वारा प्रतिपादित मत से

मिलता है। दोनों का आधारभूत तत्त्व आन्तरिक विभिन्नता और विरोध है। बर्गसाँ ने बुद्धि तथा मूल प्रवृत्तियों की विभिन्नता को अपने कला-विवेचन में विशेष महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि कला का जन्म और विकास मूल प्रवृत्तियों से ही होता है, तर्क से नहीं। तर्क का क्षेत्र दर्शन और विज्ञान में है और उसके आग्रह से कला का वास्तविक स्वरूप विकृत होता है। अपने हास्य-विषयक ग्रन्थ में उन्होंने यान्त्रिक (मेकैनिकल) तथा सजीव (ऑर्गेनिक) में विभेद किया है। बौद्धिक व्यापार यान्त्रिक होते हैं और कला का मुख्य प्रयोजन ऐसे सजीव व्यापारों से होता है, जिनका मूल, मूल प्रवृत्तियों में निबद्ध रहता है। हास्य बौद्धिक एवं यान्त्रिक व्यापारों की प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट होता है। जब कोई व्यक्ति अपनी मूल भावनाओं और नैसर्गिक क्रियाओं का परित्याग करके केवल कठपुतले (automata) की भाँति व्यवहार करता है तब वह हास्यास्पद बन जाता है। निसर्ग से विच्छिन्न होकर कृत्रिम और यन्त्रवत् कार्य करने से मनुष्य अपना वास्तविक स्वरूप खो बैठता है तथा दूसरों द्वारा तिरस्कृत होता है। बर्गसाँ ने यान्त्रिक व्यवहार की तीन प्रमुख कोटियाँ मानी हैं—रिपिटीशन अर्थात् पुनरावृत्ति; इनवरसन, अर्थात् विपर्यय अथवा अपवर्त्तन, तथा रेसिप्रोकल इण्टरफेरेन्स ऑफ् सीरीज, अर्थात् क्रम-अवरोध। इन्हीं तीनों श्रेणियों में बर्गसाँ ने समस्त हास्यास्पद आचरण को समाविष्ट करने का प्रयास किया है। कॉमेडी के पात्र अनेक बार कठपुतलों की भाँति एक ही क्रिया को दुहराते हुए देखे जाते हैं। वे रंगमंच पर अप्रत्याशित रीति से उलट-फेर दिखलाते हैं, जिसमें गम्भीर प्रयोजन का अभाव रहता है तथा क्रियाओं और घटनाओं में निरन्तर क्रमभंग परिलक्षित होता है। यह सभी हास्य के कारण और कॉमेडी के विषय हैं। मूल प्रवृत्तियों से असम्बद्ध ऐसे कोरे बौद्धिक और यान्त्रिक व्यापारों को बर्गसाँ ने एक्सटेन्सिव मेनीफोल्ड की संज्ञा प्रदान की है। इनसे भिन्न सजीव तत्त्वों को उन्होंने इण्टेन्सिव मेनीफोल्ड कहा है। सभी हास्यास्पद व्यापार यान्त्रिक होते हैं, किन्तु सभी यान्त्रिक कार्य हास्यास्पद नहीं होते। यान्त्रिक रीति से जब कोई लँगड़ा सड़क पर अपने डण्डे के सहारे चला जाता है, तब हम उसे देखकर हँसते नहीं; क्योंकि उसके प्रति मन में सहानुभूति उत्पन्न होती है। सहानुभूति के साथ हास्य का मेल ठीक नहीं बैठता। इसलिए, बर्गसाँ महोदय ने उसे कॉमेडी के क्षेत्र में प्रायः पूर्ण रीति से निष्कासित कर दिया है। उन्होंने अनिस्थीसिया ऑफ् दि हार्ट अर्थात् भावशून्यता को हास्य का अनिवार्य लक्षण बताया है। इसलिए उनके द्वारा कॉमेडी का जो रूप निरूपित हुआ है, वह मुख्यतः बौद्धिक है। बर्गसाँ ने केवल वैयक्तिक जीवन में बौद्धिकता और यान्त्रिकता का उल्लेख नहीं किया है, वरन् यान्त्रिक कृत्रिमताओं के सामाजिक रूप की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है। यही नहीं, उनके विचार से कॉमेडी का मुख्य प्रयोजन है समाज में प्रचलित यान्त्रिक चेष्टाओं का उद्घाटन, जिससे उनका सुधार हो सके। बर्गसाँ के समस्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कॉमेडी कला की परिधि से बाहर की वस्तु है: क्योंकि उसका सरोकार यान्त्रिक उपकरणों से है, सजीव उपकरणों से नहीं। किन्तु, यह ध्यान देने की बात है कि नैसर्गिकता और सजीवता से रहित व्यक्ति या समाज हास्य का विषय बनता है। हास्य द्वारा त्रुटियों का उद्घाटन होता है और उनके सुधार के लिए

भूमिका तैयार होती है। इस भाँति कॉमेडी यान्त्रिक को सजीव की ओर, कृत्रिम को नैसर्गिक की ओर ले जाने का एक साधन है। इस भाँति देखने पर यह प्रतीत होने लगता है कि बर्गसाँ की दो कोटियाँ यान्त्रिक और सजीव—विरोधी नहीं, अपितु एक-दूसरे की पूरक हैं। अतः जैसे नीत्से के मत में विरोध की तह में समन्वय की आकांक्षा है, वैसे ही बर्गसाँ के हास्य-सम्बन्धी सिद्धान्त में भी।

यहाँ फर्डिनैण्ड ब्रुनेटियर के लॉ ऑफ् दि ड्रामा, अर्थात् नाट्य-विधान की चर्चा भी अपेक्षित है; क्योंकि उसका आधार भी द्वन्द्वात्मक है। शॉपेनहावर ने दुःखान्त नाटक की व्याख्या में इच्छाशक्ति को महत्त्व प्रदान किया था, किन्तु ब्रुनेटियर ने उसकी अनिवार्य महत्ता को नाटक का सारतत्त्व निर्दिष्ट किया है। उनका मत है कि नाटक नायक की सबल और सजीव इच्छाशक्ति तथा उसके मार्ग में आनेवाली बाधाओं के पारस्परिक संघर्ष की अभिव्यक्ति है। इच्छापूर्वक नायक किसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए सचेष्ट होता है और वेगपूर्वक आवश्यक साधनों का चयन और संग्रह करता है। किन्तु, उसके मार्ग में अनेक प्रकार की बाधाएँ प्रकट होती हैं; जैसे विरोधी नियति, सामाजिक अथवा प्राकृतिक प्रभाव आदि। बाधाएँ आन्तरिक भी हो सकती हैं, जैसे अनियन्त्रित भावातिरेक अथवा विचारों में स्थिरता की कमी आदि। नायक की इच्छाशक्ति इन प्रतिकूल कारणों और परिस्थितियों पर कहीं विजय प्राप्त करती है और कहीं पराजित होती है। ब्रुनेटियर का निश्चित मत है कि नाटक का मूल तत्त्व, उसकी एकमात्र विशेषता, यही इच्छाशक्ति का परिस्थितियों के साथ दृढ़ और सजीव संघर्ष है। यहाँ ब्रुनेटियर के शब्दों को उद्धृत कर देना ही ठीक होगा :

"In drama or farce what we ask of the theatre, is the spectacle of a will striving towards a goal and conscious of the means which it employs."

यही फर्डिनैण्ड ब्रुनेटियर का प्रसिद्ध नाट्य-विधान है, जिसको उन्होंने विभिन्न प्रमाणों द्वारा परिपुष्ट किया है। इच्छाशक्ति के अधिकार और आग्रह को नाटक का सार और पार्थक्य-विधायक तत्त्व बताते हुए उन्होंने उपन्यास और नाटक के मौलिक अन्तर की व्याख्या की है। कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें एक ही कथा नाटक और उपन्यास दोनों में प्रयुक्त हुई है, किन्तु अभिव्यक्ति-भेद से उसके दो रूप हो जाते हैं। उपन्यास में प्रमुख प्रयोजन होता है तथ्यों और परिस्थितियों का चित्रण अथवा निरूपण। उसे हम जीवन-खण्ड की प्रतिलिपि मान सकते हैं; क्योंकि उसमें तथ्यों का केवल अल्पमात्र परिवर्त्तन मिलता है। नाटक का प्रधान लक्ष्य इस प्रकार का यथातथ्य निरूपण नहीं है। उसमें तो नायक की इच्छाशक्ति का अधिकार और आग्रह व्यक्त होता है। कुछ ऐसे ही विभेद नाटक और महाकाव्य में भी किया जा सकता है। नाटक और मुक्तक काव्य का अन्तर इतना प्रत्यक्ष है कि उसके बारे में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। नाटक में केवल वैयक्तिक इच्छाशक्ति का प्रतिफलन नहीं होता, वरन् जातीय एवं राष्ट्रीय इच्छाशक्ति की सजीवता और दृढ़ता भी परिलक्षित होती है। नाटकों के विकास-क्रम के अध्ययन से यह सिद्ध

होता है कि जिस युग में किसी राष्ट्र की सामूहिक इच्छाशक्ति सजग और सजीव हो जाती है, उस युग में नाट्य-परम्परा का अनन्य उत्कर्ष होता है। यह बात एलिजाबेथ-युगीन इंगलैण्ड तथा कार्डिनल रिस्ल्यू से चौदहवें लुई के राजत्वकाल के अन्तिम वर्षों तक के फ्रांस में देखी जा सकती है। इसी भाँति जब काल्डरन और लोप-डी-वीगा ने स्पेनिश-नाट्य-साहित्य को चरमोत्कर्ष की सीमा तक पहुँचाया, वह स्पेन के राष्ट्रीय वैभव और साम्राज्य-विस्तार का काल था। यह सामान्य अनुभव की बात है कि नाटक का उत्थान जीवन्त युगों में होता है, पराभव और निराशा के काल में नहीं।

काव्यरूपों के विकास के सम्बन्ध में ब्रुनेटियर का चिन्तन अत्यन्त गम्भीर एवं मूल्यवान् है। उन्होंने दर्शन और समाजशास्त्र-विषयक ज्ञान को मिलाकर साहित्य-रूपों के उद्भव और विकास से सम्बद्ध अत्यन्त मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं। यहाँ हमारा मुख्य प्रयोजन विभिन्न प्रकार के नाटकों से है और हम ब्रुनेटियर के नाट्य-विधान-सम्बन्धी लेख का वह अंश उद्धृत कर रहे हैं, जिसमें उन्होंने नायक की इच्छाशक्ति को क्रियाशीलता और उसके फल को ध्यान में रखकर विभिन्न नाट्य-विधाओं का स्वरूप-निर्धारण किया है :

"The same law provides, further, the possibility of defining with precision the dramatic species—about as one does the biological species; and for that it is only necessary to consider the particular obstacle against which the will struggles. If these obstacles are recognized to be insurmountable, or reputed to be so, as were for example, in the eyes of the ancient Greeks, the decrees of fate; or in the eyes of the Christians, the decrees of providence, as are for us the laws of nature, or the passions aroused to frenzy and becoming thus the internal fatality of Phaedra and of Roxane, of Hamlet or of Othello; it is tragedy. The incidents are generally terrifying, and the conclusion sanguinary, because in the struggle which man undertakes to make against fate, he is vanquished in advance, and must perish. Suppose now that he has a chance of victory; just one that he still has in himself the power to conquer his passion or suppose that the obstacle which he is striving to overcome being the work of his fellow-men as prejudice for example, or social conventions, a man is for that very reason capable of surmounting them, that is the drama, properly speaking romantic drama or social drama. Hernani or Antony, the Files natural or madame Caverlet change once more the nature of the obstacle equalize at least in appearance, the conditions of the struggle bring together two opposing wills Arnolphe and Agner, Figaro and Almaviya Suzanne d' Ange and Olivir de Jalin this is comedy."

जब इच्छाशक्ति और प्रतिकूल बाधक शक्तियों के संघर्ष में इच्छाशक्ति सफल होती है, तब कॉमेडी तथा जब वह पराजित होती है, तब ट्रैजेडी का रूप प्रकट होता है। इसीलिए एक विद्वान् ने दुःखान्त-सुखान्त नाटक की कल्पना को असंगतिपूर्ण घोषित किया है। उनकी आपत्ति है कि इच्छाशक्ति संघर्ष में एक ही साथ जय और पराजय दोनों को प्राप्त नहीं हो सकती और ऐसा होने पर ही दुःखान्त-सुखान्त नाटक का अस्तित्व सिद्ध होता है।

फर्डिनैण्ड ब्रुनेटियर का नाट्य-विधान अत्यन्त रोचक है और उसकी स्थापना गम्भीर पाण्डित्य के आधार पर की गई है। तब भी उसके सहारे हम समस्त उपलब्ध नाट्य-साहित्य को न तो समझ सकते हैं और न उसका मूल्यांकन कर सकते हैं। कुछ नाटकों में तो उपर्युक्त द्वन्द्व स्पष्टरूपेण द्रष्टव्य है, किन्तु अनेक नाट्य-कृतियाँ ऐसी हैं, जिनमें प्रयत्न करने पर भी इच्छा और विरोधी शक्तियों का संघर्ष दिखाई नहीं देता। आधुनिक काल की नाट्य-रचनाओं में अप्रत्याशित विविधता आ गई है और फलतः ब्रुनेटियर के नाट्य-विधान की व्याप्ति के बारे में संशय प्रकट होने लगा है। एक प्रसिद्ध विद्वान् ने ब्रुनेटियर के विचारों की समीक्षा के उपरान्त यह मत प्रतिपादित किया है कि नाटक में संक्रामक सन्धिस्थलों, अर्थात् (Crises) का निरूपण होता है। नाट्य-क्रिया सीधी सरल रेखा में प्रगति नहीं करती। उसमें क्रमशः अनेक उत्तेजक स्थल आते हैं, जो कथावस्तु में कार्य-निर्वहण-क्षण के रूप में व्यवहृत होते हैं। इन्हीं उत्कर्ष-बिन्दुओं, संक्रान्ति-क्षणों के सम्यक् उपयोग द्वारा नाटक अपने विशिष्ट प्रभाव को उत्पन्न करने में समर्थ होता है।

इस अध्याय में हमने नाट्यतत्त्व की जो खोज युगों से चली आई है, उसकी ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। नाट्यतत्त्व क्या है, कौतूहल, अनुकरण, भ्रान्ति, गति, द्वन्द्व अथवा अन्य कोई उपकरण, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। समस्या अत्यन्त गम्भीर है और उसका निश्चित समाधान अभी तक सम्भव नहीं हो सका है। किन्तु, जिन विभिन्न मतों और सिद्धान्तों की संक्षिप्त चर्चा हमने ऊपर की है, उनकी सहायता से हम नाट्यतत्त्व के निकट तक अवश्य पहुँच जाते हैं। सम्भव है कि उसके संश्लिष्ट रूप में उपर्युक्त सभी अथवा अनेक लक्षणों का समाहार हो जाय। यह तो निश्चित ही है कि नाटक की आधुनिक विकासोन्मुख अवस्था में जब नित्य नवीन प्रकार की नाट्यकृतियाँ प्रकट हो रही हों, हम यह नहीं मान सकते कि नाट्यतत्त्व का स्वरूप सरलतापूर्वक ग्राह्य है अथवा उसका मौलिक स्वभाव किसी एक ही रीति से अपने को व्यक्त करता है।

# नवम अध्याय

## सर्जनात्मक कल्पना

सर्जनात्मक कल्पना (क्रिएटिव इमैजिनेशन) की सत्ता को साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र में वर्ड्सवर्थ और कोलरिज ने सुस्पष्ट रीति से घोषित किया। उनके लेखों में कल्पना के स्वरूप की व्याख्या मिलती है और उसकी प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है। वर्ड्सवर्थ की अपेक्षा कोलरिज के कल्पना-विषयक विचार अधिक गहन हैं, यद्यपि क्रमबद्ध रीति से एक ही स्थान पर उनका उल्लेख नहीं मिलता है। लिरिकल बैलेड्स की भूमिका एवं शेक्सपियर तथा कविता पर दिये हुए भाषणों के अनेक अंश अत्यन्त सारगर्भित हैं और कल्पना-सिद्धान्त को समझने के लिए उनका ज्ञान परमावश्यक है। किन्तु, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है 'बायोग्रैफिया लिटरेरिया', जिसके तेरहवें अध्याय में कल्पना का स्वरूप-निर्धारण हुआ है। कई अन्य अध्यायों में कल्पना के कार्य तथा साहित्य में उसकी उपयोगिता के बारे में चर्चा मिलती है। कोलरिज के कल्पना-सम्बन्धी विचार इतने गम्भीर और मौलिक हैं कि उक्त सिद्धान्त के साथ कोलरिज का नाम अभिन्न रूप से जुड़ गया है। बिना कोलरिज का स्मरण किये हुए आज हम कल्पना-सिद्धान्त के बारे में सोच ही नहीं सकते। इधर पिछले कुछ दिनों से कतिपय समर्थ विद्वानों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि कोलरिज के कल्पना-सिद्धान्त में स्वयं कोलरिज का कुछ नहीं है, सब कुछ काण्ट और शेलिंग का है। यह भी सभी मानते हैं कि कोलरिज १८वीं शताब्दी के संयोग-वादी अँगरेजी मनोविज्ञान तथा प्लाटिनस एवं अन्य नवप्लेटोवादियों से भी गहराई तक प्रभावित थे। इसमें तो सन्देह नहीं है कि कोलरिज अत्यन्त अध्ययनशील तथा जर्मन अध्यात्म-दर्शन के निष्णात पण्डित थे। अन्य प्रकार के दर्शनों में भी उनकी अभिरुचि थी। उनके लेखों में अनेक दार्शनिक मतों की चर्चा मिलती है। अतः, हम कदापि नहीं कह सकते कि कोलरिज ने कल्पना-सिद्धान्त का ताना-बाना बिना किसी आश्रय अथवा आधार के केवल अपनी प्रतिभा के सहारे बुन दिया। किन्तु, रेने वेलेक आदि कतिपय विद्वानों के इस विचार से सहमत होना कठिन है कि कोलरिज में मौलिकता का नितान्त अभाव था। उनके चिन्तन का स्रोत कहीं भी रहा हो, उसपर निजी अनुभूति की अमिट छाप है। लिरिकल बैलेड्स की भूमिका में कई स्थलों पर यह वर्णित है कि वर्ड्सवर्थ और कोलरिज नैसर्गिक दृश्यों के साक्षात्कार के समय किसी ऐसी चमत्कारपूर्ण शक्ति से प्रभावित हुए थे, जो सामान्य तत्त्वों को वैशिष्ट्य प्रदान करती है और बहुरूपता में एकता की प्रतीति कराती है। कोलरिज के कल्पना-सिद्धान्त का सूत्रपात वास्तव में इन अनुभवों में ही हुआ। किसी असाधारण शक्ति और क्रिया से अवगत होने पर उसके विवेचनार्थ अपने दार्शनिक ज्ञान का उपयोग करना कोलरिज के लिए स्वाभाविक था। इसीलिए कोलरिज ने सर्जनात्मक कल्पना की व्याख्या मुख्यरूपेण दार्शनिक धरातल पर की है। किन्तु, इसका यह अर्थ कदापि

नहीं हो सकता कि वे जर्मन दार्शनिकों के अनुचर-मात्र थे और उनके साहित्यिक चिन्तन का कोई मूल्य ही नहीं है।

हम यह नहीं कह सकते कि १९वीं शताब्दी के पूर्व कल्पना के बारे में विचार हुआ ही नहीं था। वास्तव में प्लेटो से १८वीं शताब्दी के अन्त तक कल्पना-विषयक चिन्तन की अटूट परम्परा मिलती है। हाँ, यह दूसरी बात है कि विभिन्न युगों में 'कल्पना' शब्द से विभिन्न शक्तियों और क्रियाओं का बोध होता था। प्राचीन यूनान में 'फैण्टेसिया' नाम प्रचलित था, जिससे आधुनिक 'फैन्सी' शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। 'इमैजिनेशियो' शब्द लैटिन मूल से निकला है और उसका प्रचलन बाद को हुआ। प्लेटो ने अपने 'रिपब्लिक' नामक लेख में फैण्टेसिया, अर्थात् कल्पना को भ्रममूलक बताया है और इसी आधार पर कविता तथा अन्य कलाओं की भर्त्सना की है। अन्यत्र प्लेटो ने फैण्टेसिया के उस उच्चतर स्वरूप को स्वीकार किया है, जिसकी सहायता से उच्चतम आध्यात्मिक सत्ता से हम अपना तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं। अरस्तू ने भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में कल्पना की सत्ता स्वीकार की है। मन की अन्य शक्तियाँ, जैसे इन्द्रिय-ज्ञान तथा स्मृति के साथ उन्होंने एक ऐसी शक्ति को भी माना है, जिससे इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान नियोजित और व्यवस्थित होता है। उनके अनुकरण-सिद्धान्त में कल्पना-सम्बन्धी परवर्त्ती चिन्तन का उत्स मिलता है और इसीलिए कोलरिज ने अपने सिद्धान्त को प्रतिस्थापित करने में उसका उल्लेख किया है। यह स्मरणीय है कि अरस्तू के अनुकरण में प्रायः वे सभी प्रक्रियाएँ मिलती हैं, जिनको सर्जनात्मक कल्पना के साथ अनिवार्य रूप से सम्बद्ध माना जाता है। अनुकरण और कल्पना दोनों का यही सारांश है कि व्यष्टि को समष्टि में नियोजित किया जाय और पदार्थों की आत्मा तक पहुँचकर उनके वास्तविक रूप की अभिव्यक्ति की जाय। दोनों पदार्थों के बाह्य आवरण उनके अनियन्त्रित अस्तित्व और उनके स्थूल रूप को गौण मानते हुए सारभूत अंशों को ही मान्यता और महत्त्व प्रदान करते हैं।

लांजिनस ने अपने उदात्त-विषयक प्रसिद्ध निबन्ध के १५वें अध्याय में कल्पना की चर्चा की है। वहाँ कल्पना से अभिप्राय है उस शक्ति से, जिसके द्वारा मानस-पटल पर बिम्ब अंकित होने के अतिरिक्त विचारों और भावनाओं का संयोग और एकीकरण होता है। लांजिनस ने कल्पना को महान् प्रतिभा का अंश माना है और जैसा विदित है, प्रतिभा और चरित्र के औदात्त्य से ही महान् विचारों का आविर्भाव सम्भव होता है। प्लाटिनस के लेखों से हमने अन्यत्र एक अंश उद्धृत किया है, जिससे पता चलता है कि वे मानव-मन की उस नवोन्मेषकारिणी शक्ति को मान्यता प्रदान करते थे, जिसकी सहायता से से पारलौकिक सत्ता का सहज बोध होता है एवं इन्द्रियजन्य ज्ञान में व्यवस्था उत्पन्न होती है। उसी अपूर्व मानसिक शक्ति द्वारा अनेकता में एकता की प्रतीति होती है और नैसर्गिक पदार्थों तथा जीवन के व्यापारों के संकलित, संश्लिष्ट रूप से हम अवगत होते हैं। हम ऊपर कह आये हैं कि प्लाटिनस के विचारों से कोलरिज को प्रेरणा मिली थी और प्राचीन मनीषियों के प्लाटिनस सर्जनात्मक कल्पना का पूर्वाभास प्रस्तुत करने में सबसे अधिक सफल

हुए हैं। मध्य युग में इमैजिनेशन और फैन्सी की चर्चा होती रही और यह विचित्र बात है कि कतिपय विचारकों ने उन दोनों शक्तियों की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की, जो आज की विचार-पद्धति से नितान्त भिन्न थी। वे फैन्सी को रचनात्मक तथा इमैजिनेशन को अनुकरणात्मक मानते थे। अर्थ यह है कि इमैजिनेशन से तथ्यों, परिस्थितियों एवं पात्रों का यथातथ्य निरूपण होता है, किन्तु फैन्सी उनके संयोग से नया रूप खड़ा करती है। फैन्सी का यह महत्त्व बहुत दिनों तक बना रहा। किन्तु, १७वीं और १८वीं शताब्दी में दोनों शब्दों को पर्यायवाची मानकर उनकी व्याख्या हुई और उनका प्रयोग किया गया। एडिसन ने साफ-साफ लिख दिया है कि दोनों शब्द समानार्थी हैं। डेकार्ट से ह्यूम तक के दार्शनिक चिन्तन में कल्पना का संयोगात्मक, अर्थात् ऐसोसिएशनिस्टिक स्वरूप ही निर्धारित हुआ है और उस तर्कवादी युग में उसे सामान्यतः जजमेण्ट, अर्थात् निर्णयात्मक बुद्धि से निम्न स्थान दिया गया है। हाब्ज ने फैन्सी को केवल अलंकारात्मक माना है; क्योंकि वह विभिन्न तथ्यों और विचारों के विनियोग से सुन्दर मानसिक चित्र बनाने में समर्थ है। एडिसन ने भी कुछ ऐसी ही व्याख्या की है, यद्यपि उन्होंने कल्पना के क्रियात्मक रूप पर अधिक बल दिया है। दृष्टि और स्मृति द्वारा मन में पदार्थ-ज्ञान एकत्र होता रहता है। कल्पना उस ज्ञान को व्यवस्थित करती तथा उसके आधार पर आनन्दप्रद मानसिक चित्र तैयार करती है। कल्पना सक्रिय होती है और उसका कार्य आनन्ददायक होता है। इस भाँति हम देखते हैं कि मूलतः एडिसन ने इन्द्रिय-ज्ञान के संयोग, एसोसिएशन की बात ही कही है; क्योंकि वे डेकार्ट, हाब्ज और विशेषकर लॉक की मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक उपपत्तियों से प्रभावित थे। कल्पना के इस केवल संयोगात्मक रूप का उल्लेख १८वीं शताब्दी के अनेक ग्रन्थों और लेखों में मिलता है। किन्तु, यहाँ शेक्सपियर के उस प्रसिद्ध कथन की ओर ध्यान आकृष्ट कर देना आवश्यक है, जिसमें उन्होंने लिखा है कि प्रेमी, उन्मत्त और कवि में कल्पना का प्राचुर्य होता है। कवि की तीक्ष्ण दृष्टि दूर-दूर तक पड़ती है तथा इस प्रकार ज्ञान एकत्र करती है। उसकी कल्पना इस संकलित ज्ञान को अभिनव रूप प्रदान करके अपना नवनिर्माण-कार्य सम्पन्न करती है। दान्ते ने भी पैराडाइजों में कल्पना को ही प्रत्यक्ष दर्शन (विजन) एवं अभिव्यक्ति (एक्सप्रेशन) का अनिवार्य आधार माना है; क्योंकि उसके सजीव और सक्रिय होने पर ही काव्य-रचना सम्भव होती है।

कतिपय विचारकों और कवियों ने कल्पना का एक अन्य रूप भी माना है। उनके मतानुसार कल्पना तर्कबुद्धि से भी उच्चतर कोटि की एक ऐसी मानसिक शक्ति है, जिसके द्वारा उस ज्ञान की प्राप्ति होती है, जो भौतिक जगत् और जीवन के दैनिक अनुभव से परे है। नियो-प्लेटॉनिक दार्शनिक प्लाटिनस ने इसी शक्ति का उल्लेख किया है और अँगरेज कवि ब्लेक ने भी अनेक बार इसकी ओर संकेत किया है। रहस्यवादी सन्त और कवि इस प्रकार की कल्पना में विशेष आस्था रखते हैं। हेगेल ने धर्म के सम्बन्ध में सहज ज्ञान को, कला के सम्बन्ध में कल्पना को, और दर्शन के सम्बन्ध में तर्कबुद्धि को महत्त्व दिया है। वस्तुतः कल्पना के इस दूसरे स्वरूप को सहज ज्ञान के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि दोनों में विभेद करना सम्भव नहीं है।

हम देख चुके हैं कि १७वीं और १८वीं शताब्दी में दीर्घकाल तक कल्पना के प्रसंग में इन्द्रिय-ज्ञान, संवेदनाओं तथा उनके संयोग को ही विशेष महत्त्व दिया गया। तत्कालीन मनोविज्ञान और आध्यात्मिक धारणाओं से इसी मत को आश्रय मिला। किन्तु, जर्मन दार्शनिकों में विशेषकर काण्ट ने सर्वप्रथम कल्पना के संयोगात्मक रूप से ऊपर उठकर उसके सर्जनात्मक रूप की स्थापना की। इन्द्रिय-ज्ञान को तो सभी मानते हैं, वह अनिवार्य-रूपेण अपेक्षित है। क्षण-क्षण उत्पन्न होनेवाली संवेदनाएँ अव्यवस्थित रूप में ही हमारे मन में प्रविष्ट होकर संगृहीत होने लगती हैं। किन्तु तत्काल उनमें व्यवस्था और पारस्परिक सम्बन्ध उत्पन्न होने लगता है। संयोगवादियों की धारणा थी कि इस प्रकार के सम्बन्ध-निर्माण स्वतः अथवा किसी यान्त्रिक प्रक्रिया (मेकैनिकल प्रासेस) से होते हैं। काण्ट ने आपत्ति की कि संवेदनाओं के दिक्काल-सम्बन्धी स्पेशल (special) और टेम्पोरल रिलेशन्स के वैशिष्ट्य को हम केवल यान्त्रिक संयोग के आधार पर नहीं समझ सकते। उसके लिए तो हमें इण्टेलेक्शन, अर्थात् प्रज्ञात्मक क्रिया को स्वीकार करना ही पड़ेगा। अतः काण्ट ने इस सम्बन्ध में अण्डरस्टैण्डिंग, बुद्धि अथवा अवगति एवं इमैजिनेशन, अर्थात् कल्पना को आवश्यक सिद्ध किया। पहले तो उसने इमैजिनेशन अर्थात् कल्पना को बुद्धि अथवा अवगति का विस्तार-मात्र माना, किन्तु अन्ततोगत्वा उसने उसकी भी स्वतन्त्र सत्ता को मान्यता प्रदान की। उसके मतानुसार कल्पना द्वारा हमारा मानस स्थूल जगत् की प्रत्यक्ष अव्यवस्था में नियम और एकता का सूत्रपात करता है। यह कल्पना का ही फल है कि दैनिक जीवन में हमें नियन्त्रण, एकरूपता और सम्यक् व्यवस्था की प्रतीति होती है। यदि कल्पना न होती तो सब कहीं अराजकता दिखाई पड़ती। इसीलिए कोलरिज ने उसे 'प्राइम एजेण्ट ऑफ् परसेप्शन' (prime agent of perception) बताया है, जो काण्ट के विचारों के अनुसार ही है।

काण्ट के अनुयायी और हेगेल के मित्र शेलिंग एक दूसरे जर्मन दार्शनिक थे, जिनकी विचारधारा को कोलरिज ने ग्रहण एवं आत्मसात् किया। काण्ट की भाँति ही शेलिंग का दर्शन भी आत्मवादी होते हुए समन्वयवादी है। चेतन और अचेतन, विचार और बाह्य प्रकृति के जिस द्वैत की चर्चा काण्ट ने बार-बार की है, उसी का उल्लेख शेलिंग ने भी किया है और दोनों दार्शनिकों ने उनकी पारस्परिक निर्भरता और संयोग की बात कही है। शेलिंग के मतानुसार मन और पदार्थ, जीनियस और मैटर का मिलन-विन्दु कला एवं सौन्दर्य में मिलता है। कतिपय पूर्ववर्त्ती जर्मन दार्शनिकों ने विशुद्ध दार्शनिक चिन्तन को सर्वोपरि महत्त्व प्रदान किया था, किन्तु शेलिंग ने कला एवं सौन्दर्य में ही पूर्णत्व की कल्पना की। सौन्दर्य-चेतना को उन्होंने किसी अंश में बौद्धिक ज्ञान से भी ऊँचा स्थान दिया है। शेलिंग के पत्रों, भाषणों एवं लेखों के निरीक्षण से इस बात का पता चलता है कि यद्यपि उन्होंने चेतन और अचेतन के सम्मिलन और एकीकरण की बात कही है, तब भी चेतना की क्रिया द्वारा ही अपेक्षित समन्वय सम्भव होता है। उन्होंने कला और निसर्ग के भेद को बताते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि कला में चेतन मन की क्रिया निबद्ध रहती है, किन्तु प्रकृति स्वयं चेतनाहीन और जड़ है। अतः कला के संश्लिष्ट पूर्णत्व में मानसिक क्रियाओं

का भाग अधिक मूल्यवान् होता है। इस प्रकार शेलिंग द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त में यह निष्कर्ष निहित है कि कोई ऐसी मानसिक शक्ति होती है, जो सक्रिय होकर चेतन और अचेतन, मन और पदार्थ के कलात्मक समन्वय तथा उसके पूर्णत्व को सम्भव बनाती है। ऐसी धारणा कल्पना के अत्यन्त निकट है।

कोलरिज कल्पना-सम्बन्धी प्राचीन एवं नवीन विचारों से भलीभाँति परिचित थे। अध्यात्मदर्शन और मनोविज्ञान में उनकी स्वाभाविक अभिरुचि थी। उन्होंने स्वयं लिखा है :

"Metaphysics and psychology have long been my hobby-horse."

अतः ज्ञान और चिन्तन के संयोग द्वारा उन्होंने सर्जनात्मक कल्पना के स्वरूप को नवीन ढंग से निर्धारित किया। सर्वप्रथम 'बायोग्रैफिया' के चतुर्थ अध्याय में उन्होंने फैन्सी और इमैजिनेशन के मौलिक भेद की ओर संकेत किया। सैकड़ों वर्षों से विद्वान् दोनों को एक ही अभिन्न शक्ति मानते आये थे और दोनों नामों को समानार्थी मानने की प्रथा चली आई थी। अन्तर केवल इतना माना जाता था कि फैन्सी की व्युत्पत्ति ग्रीक से और इमैजिनेशन की लैटिन से है अथवा फैन्सी और इमैजिनेशन को एक ही शक्ति के उग्र और अपेक्षाकृत अनुग्र रूप मानते थे। हम ऊपर बता आये हैं कि कुछ विद्वानों ने विभेद करने का प्रयास किया था, जो न तो सुस्थिर बन पाया और न स्पष्ट ही। कोलरिज ने आग्रहपूर्वक फैन्सी और इमैजिनेशन की विभिन्नता को प्रतिपादित किया। उन्होंने चतुर्थ अध्याय में परिभाषा न देकर केवल ऐसे उदाहरणों से काम लिया, जिनसे भेद प्रकट होता है। मिल्टन की कविता में इमैजिनेशन क्रियाशील है और काउले की कविता में फैन्सी। ऐसे ही, कविता की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं, जिनसे अन्तर का पता चलता है। इसके बाद कोलरिज का सबसे महत्त्वपूर्ण कथन १३वें अध्याय में मिलता है, जिसमें उन्होंने कल्पना तथा उसके दोनों प्रमुख रूपों एवं फैन्सी के मूल स्वरूप पर प्रकाश डाला है। उस लेख को उद्धृत करना नितान्त आवश्यक है; क्योंकि उसी की व्याख्या के रूप में कल्पना-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है :

"The IMAGINATION then I consider either as primary, or secondary. The primary IMAGINATION I hold to be the living power and prime agent of all human perception and as a repetition in the finite mind of the eternal act of creation in the infinite I AM. The secondary, I consider as an echo of the former, co-existing with the conscious will, yet still as identical with the primary in the kind of its agency, and differing only in degree and in the mode of its operation. It dissolves, diffuses, dissipates, in order to re-create : or where this process is rendered impossible, yet still at all events it struggles to idealize and to unify. It is essentially vital, even as all objects (as objects) are essentially fixed and dead.

FANCY, on the contrary, has no other counters to play with but fixities and definities. The Fancy is indeed no other than a mode of Memory emancipated from the order of time and space; while it is blended with, and modified by that empirical phenomenon of the will, which we express by the word choice. But equally with the ordinary memory the fancy must receive all its materials ready made from the law of association."

इस महत्त्वपूर्ण उद्धरण में सभी प्रमुख पारिभाषिक शब्द आ गये हैं और क्रमशः उनपर विचार कर लेना चाहिए। सर्वप्रथम प्राइमरी इमैजिनेशन (मौलिक कल्पना) का उल्लेख है, जिसका स्वरूप सामान्य और सार्वभौम है। जैसे, ईश्वर अपनी इच्छा से सृष्टि का निर्माण करता है, अर्थात् तत्त्वों की अराजकता में व्यवस्था उत्पन्न करता है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य कल्पना द्वारा निर्माण-कार्य सम्पन्न करता है। इस भाँति मानव-चेतना और इच्छा से प्रसूत मौलिक कल्पना के कार्य तथा दैवी निर्माण-कार्य में केवल समानता ही नहीं, वरन् सहभागिता का सम्बन्ध भी है। कोलरिज ने उसे सीमित मानव-चेतना के अन्तर्गत अनन्त दैवीय शक्ति की निर्माण-क्रिया की पुनरावृत्ति माना है। दृश्य जगत् की व्यवस्थित और सार्थक अवगति हमें मुख्यरूपेण मौलिक कल्पना के व्यापार से ही होती है। चेतना, बुद्धि, अण्डरस्टैण्डिंग, जड़ जगत्, अर्थात् नेचर के बीच सहयोग और समन्वय उत्पन्न करने-वाली मौलिक कल्पना मन और पदार्थ दोनों की विशेषताओं को ग्रहण करते हुए मुख्यतः चेतना और मानव-स्वेच्छा से परिचालित है। सरल शब्दों में हम कह सकते हैं कि मौलिक कल्पना वह सामान्य मानसिक शक्ति है, जिसकी सहायता से हम समस्त जीवन तथा उसके व्यापारों में एकता और नियमित व्यवस्था की प्रतीति पाते हैं। मौलिक कल्पना की असीम व्याप्ति है। उसी के बल पर हम दैनिक जीवन की कौतूहलपूर्ण बहुरूपता में एकरूपता के दर्शन करते हैं। मनुष्य असंख्य हैं और विभिन्न स्थानों तथा परिस्थितियों में रहते और अपना कार्य करते हैं। उनकी चेष्टाएँ और उद्देश्य पृथक् हैं। अभिप्राय यह है कि हमें पग-पग पर वैविध्य और विरोध देखने को मिलता है। यदि इन विभिन्नताओं को नियोजित करके एक सूत्र में बाँधनेवाली कोई विशिष्ट शक्ति न हो, तो जीवन कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव हो जाय। प्राकृतिक दृश्यों में मौलिक कल्पना का कार्य अधिक प्रत्यक्ष रूप में द्रष्टव्य है। पर्वत, वन, सर, सरिता निसर्गतः क्रमहीन रीति से अवस्थित रहते हैं, किन्तु जब एक संवेदनशील एवं कल्पनाप्रवण व्यक्ति उनपर दृष्टिपात करता है, तब उसे सुव्यवस्थित रूप का दर्शन होता है। प्रत्येक दृश्य एक पृथक् चित्र-सा दिखाई देता है, जिसके विभिन्न अवयव अनुपात और क्रम की शृंखला में बँधे होते हैं। इसीलिए उन प्राकृतिक दृश्यों का मन पर प्रभाव पड़ता है और वे कभी सुन्दर और कभी उदात्त प्रतीत होते हैं। जब हम प्रकृति में चेतना और भावना का आरोप करते हैं अथवा वर्ड्सवर्थ की भाँति समस्त प्रकृति को एक विराट् दैवी सत्ता के रूप में देखते हैं, तब ऐसी दशा में निश्चय ही मौलिक कल्पना अपना कार्य करती है।

सेकण्डरी इमैजिनेशन, अर्थात् उत्तरजात कल्पना मौलिक कल्पना से उत्पन्न होती है और कोलरिज ने उसे मौलिक कल्पना की प्रतिध्वनि-मात्र माना है। किन्तु, दोनों में कुछ तात्त्विक अन्तर भी है। उत्तरजात कल्पना में मानव-इच्छा और चेष्टा का अंश अपेक्षाकृत अधिक रहता है तथा मौलिक कल्पना की तुलना में वह अधिक सजीव और सक्रिय होती है। वह पदार्थों के बाह्य आवरण का भेदन करके उनकी अन्तरात्मा में प्रविष्ट होने की शक्ति रखती है और नवनिर्माण के पूर्व परम्परागत रूप और व्यवस्था को विनष्ट और विकीर्ण करने में समर्थ है। यथार्थ जीवन में निरन्तर सम्पर्क और व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण हमारी दृष्टि विकृत हो जाती है और पदार्थों पर मानों अरोचकता की एक तह जम जाती है। असुन्दरता के इसी बाह्य आवरण को विक्षत और विनष्ट करने की अपूर्व शक्ति उत्तरजात कल्पना में निहित रहती है। जहाँ ऐसा करना सम्भव नहीं होता, वहाँ भी वह पदार्थ के वास्तविक रूप को आदर्श सौन्दर्य से अनुरंजित करके प्रस्तुत करती है। यह स्पष्ट है कि कलात्मक निर्माण के लिए उत्तरजात कल्पना आधार तैयार करती है। कला में जो एकता, क्रमिकता और रूपविधान की विशेषताएँ मिलती हैं, उनका सीधा सम्बन्ध इसी उत्तरजात कल्पना से है। किन्तु यह न समझना चाहिए कि उत्तरजात कल्पना का क्षेत्र कला तक ही सीमित है। प्रो० आइ० ए० रिचर्ड्स ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि कला में ही नहीं, जीवन के किसी भी खण्ड, अनुभव और व्यापार में जब चारुता की प्रतीति होती है, तब समझ लेना चाहिए कि उत्तरजात कल्पना क्रियाशील हो उठी है। वर्ड्सवर्थ ने अपने कतिपय अनुभवों को लिपिबद्ध किया है, जिनसे इस बात का पता चलता है कि उत्तरजात कल्पना अकस्मात् दृश्यों को दीप्त कर देती है और वे विशेष आकर्षक मालूम होने लगते हैं। साधारण दृश्यों और पदार्थों को उद्दीप्त और अनुरंजित कर देने की अपूर्व क्षमता वर्ड्सवर्थ में थी, जिसका प्रकाशन उनकी उत्कृष्ट रचनाओं में हुआ है। कारण यह है कि उनकी कल्पना-शक्ति अत्यन्त प्रखर थी और उनकी कविताओं में मौलिक एवं उत्तरजात कल्पना के कार्यान्वित होने के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। गद्य और पद्य दोनों में उन्होंने कल्पना की गम्भीर व्याख्या की है, जिससे किसी अंश में कोलरिज सहमत थे। उत्तरजात कल्पना केवल कविता और कला में ही नहीं, बल्कि समस्त जीवन में फलीभूत होती है। अतः कविता और सामान्य जीवन के भेद को हम एक सीमा के बाद नहीं मान सकते। कहने का अभिप्राय यह है कि जो लोग यह कहते हैं कि कविता असाधारण अनुभवों की अभिव्यक्ति है और असाधारण जनों की अभिरुचि तृप्त करने के लिए लिखी जाती है, वे इस बात को भूल जाते हैं कि कल्पना के व्यापक कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत केवल कला का ही नहीं, वरन् समस्त जीवन का समावेश हो जाता है। मौलिक कल्पना के सम्बन्ध में तो यह बात स्पष्ट है ही, किन्तु उत्तरजात कल्पना के बारे में भी यह भुलाई नहीं जा सकती।

मानव-मन की सर्जनात्मक शक्ति से भिन्न संयोगात्मक शक्ति को कोलरिज ने फैन्सी नाम दिया है। वर्ड्सवर्थ और कोलरिज को श्रेय है कि उनलोगों ने 'फैन्सी' शब्द को नये अर्थ से समन्वित किया। वर्ड्सवर्थ ने वर्णन और उदाहरणों द्वारा उसका स्वरूप निर्धारित

किया, जो कोलरिज द्वारा सुस्पष्ट किया गया। कोलरिज ने उसकी दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या की, जो अत्यन्त गम्भीर है। दीर्घकाल से लोग इमैजिनेशन और फैन्सी को अभिन्न मानते आये थे और जैसा हम बता चुके हैं, लोग उनमें केवल व्युत्पत्ति-भेद मानते थे। वर्ड्सवर्थ और कोलरिज ने दोनों को दो विभिन्न शक्तियों के रूप में स्वीकार किया, जिसमें प्रकार-भेद था, केवल मात्रा-भेद नहीं। रोमाण्टिक युग के अनेक कवियों और विचारकों ने इस नवनिर्धारित अन्तर को ग्रहण किया, किन्तु तब भी यह सर्वमान्य नहीं हो पाया। प्रो० आई० ए० रिचर्ड्स ने स्वयं कोलरिज के मत का समर्थन करते हुए तीन प्रमुख विद्वानों, प्रो० लोइस, प्रो० लासेल्स एवरक्राम्बी एवं वाल्टर पेटर के विपरीत मतों को उद्धृत करके उनका खण्डन किया है। कोलरिज से मतभेद रखनेवाले उपर्युक्त विद्वानों का विश्वास है कि इमैजिनेशन और फैन्सी में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है, वस्तुतः वे दोनों एक ही शक्ति के प्रकाशन हैं, यद्यपि फैन्सी की अपेक्षा इमैजिशनेशन की क्रिया अधिक सबल और तीव्र होती है। इस प्रकार, वे फैन्सी और इमैजिनेशन का भेद केवल पोटैन्सी, अर्थात् शक्ति के अन्तर पर आधृत मानते हैं। दो धातुखण्ड यदि पास-पास रख दिये जायँ और अधिक बलवाली विद्युत्-धारा उनसे होकर प्रवाहित हो, तो वे दोनों एक-दूसरे में घुल-मिलकर एक हो जायेंगे। यदि विद्युत् धारा की तीव्रता कम होगी, तो वे एक-दूसरे से जुड़ जायेंगे, किन्तु एकरूप नहीं होंगे। विद्युत्-धारा की तीव्र शक्ति की तुलना इमैजिनेशन तथा अपेक्षाकृत मन्द शक्ति की तुलना फैन्सी से की गई है। कहना न होगा कि इस प्रकार की व्याख्या कोलरिज के मनोनीत सिद्धान्त के अर्थ और अभिप्राय से बिल्कुल पृथक् है।

'बायोग्रैफिया लिटरेरिया' में कोलरिज के चिन्तन का विकास-क्रम वर्णित है। चतुर्थ अध्याय में उन्होंने इमैजिनेशन और फैन्सी और दोनों के मौलिक अन्तर का उल्लेख-मात्र किया है और इसी अन्तर को उन्होंने १३वें अध्याय के अन्त में अधिक सुस्पष्ट किया है। बीच में आनेवाले अध्यायों से यह पता चलता है कि कोलरिज की विचारधारा हार्टले के संयोगवाद से चलकर प्लेटो और प्लाटिनस से होती हुई काण्ट, शेलिंग प्रभृति जर्मन दार्शनिकों तक पहुँची। फैन्सी का उद्गम हार्टले के एसोसिएशनिज्म में है और इमैजिनेशन का काण्ट और उनके अनुयायियों के जर्मन दर्शन में। फैन्सी की प्रमुख विशेषताओं का सारांश कोलरिज ने एक ही वाक्य में दे दिया है, ऊपर १३वें अध्याय से उद्धृत किये हुए खण्ड के अन्त में। सर्वप्रथम फैन्सी, अर्थात् संयोगात्मक मानसिक शक्ति जड़ और निश्चित स्वरूपवाली होती है। यह सामग्री न तो किसी सजीव शक्ति द्वारा आत्मसात् अथवा एकीकृत होती है और न वह दिक्-काल के सम्बन्ध में नियोजित होती है। वह स्मृति पर आधृत होती है और केवल यान्त्रिक रीति से उसपर व्यवस्था का आरोप हो जाता है। चेष्टा का नितान्त अभाव नहीं होता, किन्तु वह मुख्य रूप से चयन (च्वायस) तक ही सीमित रहती है। फैन्सी की क्रिया ने उत्पन्न मानसिक चित्रों में वह जीवन्त एकरूपता नहीं होती, जो इमैजिनेशन की सृष्टि में होती है। उनमें अलंकरण की क्षमता अधिक होती है, हृदय को स्पर्श करनेवाली शक्ति कम। जब हम इन्द्रिय-ज्ञान प्राप्त करते हैं, तब

यदि मन बहुत जाग्रत् और सक्रिय न हो, तब भी मन में आनेवाली संवेदनाएँ स्वतः आंशिक रूप और व्यवस्था ग्रहण करने लगती हैं। मानव-मन का यह विशिष्ट धर्म है, किन्तु यह व्यवस्था उस क्रियात्मक व्यवस्था से भिन्न है, जो कल्पना अथवा इमैजिनेशन की उपज होती है। वर्ड्सवर्थ और कोलरिज ने उदाहरणों द्वारा फैन्सी और इमैजिनेशन के इस भेद को स्पष्ट किया है।

फैन्सी का अस्तित्व कहाँ है ? यदि हम काण्ट और कोलरिज के विचारों को साथ रखकर देखें, तो संवेदनाओं के अतिरिक्त चार अन्य श्रेणियाँ स्थिर होती हैं। मौलिक कल्पना, अर्थात् प्राइमरी इमैजिनेशन, बुद्धि, अर्थात् अण्डरस्टैण्डिंग; उत्तरजात कल्पना, अर्थात् सेकेण्डरी इमैजिनेशन, तथा विशुद्ध तर्क, अर्थात् प्योर रीजन। इन कोटियों के निरीक्षण से सहज ही यह ज्ञात होगा कि फैन्सी का स्थान सेकेण्डरी इमैजिनेशन के सन्निकट है। न तो दोनों में तादात्म्य है और न वे समकक्ष ही हैं, किन्तु संयोगात्मक शक्ति उत्तरजात कल्पना की पार्श्वभूमि में रहकर अपना कार्य करती है। कला के क्षेत्र में दोनों का कार्य देखा जा सकता है। दोनों भिन्न प्रकार के चित्र और दृश्य उत्पन्न करती हैं।

उत्तरजात कल्पना के विशिष्ट सर्जनात्मक स्वरूप के बारे में कुछ अधिक विस्तार से विचार कर लेना जरूरी है। मौलिक कल्पना भी किसी अंश में सर्जनात्मक होती है; क्योंकि उसी की सहायता से अनेकता में एकरूपता तथा अराजकता में व्यवस्था का आविर्भाव होता है। उसकी क्रिया भी चेष्टा से सम्पृक्त रहती है, किन्तु कल्पना का सर्जनात्मक रूप मुख्यतः उत्तरजात कल्पना में प्रकट होता है। उसमें मन अधिक सतर्क और सचेष्ट रहकर निर्माण-कार्य में संलग्न होता है। सामान्य अनुभव और प्रतीति के मोटे कवच को भेदकर पदार्थों की आत्मा में प्रविष्ट होना, उनको भग्न और विकीर्ण करके नवनिर्माण के लिए भूमिका तैयार करना तथा ज्ञात से अज्ञात की ओर अग्रसर होना—ये सभी चेतन इच्छाशक्ति पर निर्भर होते हैं। उत्तरजात कल्पना तथ्यों और पदार्थों के प्रत्यक्ष और दृष्टिगोचर रूप को नये साँचे में तो ढालती है, साथ ही अपना कार्य उनके अन्तराल में भी पहुँचकर सम्पादित करती है। कोलरिज ने विट, फैन्सी तथा सेकेण्डरी इमैजिनेशन की जो पृथक् व्याख्या प्रस्तुत की है, उससे बात साफ हो जाती है। विट में विरोधी अथवा विभिन्न प्रकार के तथ्य पास-पास रख दिये जाते हैं, तथा विरोध के अन्तर्गत समानता के दर्शन कराये जाते हैं। विट की प्रक्रिया बाहर से वक्ता अथवा लेखक की बुद्धि द्वारा आरोपित होती है। हम बता आये हैं कि फैन्सी के द्वारा तत्त्वों का मिलन होता है, किन्तु वे पूर्णरूप से एकीकृत नहीं होते। उत्तरजात कल्पना की असीम क्रियात्मक शक्ति नवनिर्माण की अपूर्व क्षमता रखती है। उसके द्वारा पदार्थों का केवल मिलन अथवा संयोग ही नहीं होता, वरन् उपलब्ध सामग्री के आधार पर नितान्त नवीन सृष्टि होती है। इसीलिए कल्पना और विशेषकर उत्तरजात कल्पना को सर्जनात्मक अथवा क्रियात्मक आदि उपाधियाँ प्रदान की जाती हैं।

कल्पना नवनिर्माण का कार्य करती है—विचार तथा पदार्थ के बीच मध्यस्थ बनकर। उसकी मध्यवर्त्ती स्थिति विशेष महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि उसका सारा कार्य समन्वयात्मक

होता है। कोलरिज के लेखों में अनेक स्थलों पर कल्पना की इस सर्जनात्मक एवं समन्वयात्मक शक्ति पर विशेष बल दिया गया है। उदाहरण के लिए देखिए :

Certainly the fine Arts belong to the outward world for they all operate by the images of sight and sound and other sensible impressions and without a delicate tact for these, no man ever was, or could be either a Musician or a Poet; nor could he attain to excellence in any one of these arts, but as certainly he must always be a poor and unsuccessful cultivator of the Arts if he is not impelled first by a mighty, inward power, a feeling, quod nequlo moustrare it sentio tantum, nor can he make great advances in his Art, if, in the course of his progress, the obscure impulse does not gradually become a bright, and clear, and living idea. If the artist copies the mere nature, the nature naturata, what idle rivalry ! Believe me, you must master the essence, the naturata naturans, which presupposes a bond between nature in the higher sense and the soul of man ..... In the objects of nature are presented, as in a mirror, all the possible elements, steps, and processes of intellect antecedent to consciousness, and therefore to the full development of the intelligential act, and man's mind is the very focus of all the rays of intellect which are scattered throughout the images of nature.

To have a genius is to live in the universal, to know no self but that which is reflected not only from the faces of all around us, our fellow creatures but reflected from the flowers, the trees, the beasts, yea from the very surface of the waters and sands of the desert. A man of genius finds a reflex of himself were it only in the mystery of being.

In looking at objects of Nature while I am thinking, as at yonder moon dim-glimmering through the dewy window pane, I seem rather to be seeking, as it were asking for, a symbolical language for something within me that already and forever exists, than observing anything new. Even when that latter is the case yet still I have always an obscure feeling as if that new phenomenon were the dim awakening of a forgotten or hidden truth of my inner nature.

कल्पना के क्षीण होने पर अपना विषाद व्यक्त करते हुए कोलरिज ने अपनी निम्नलिखित पंक्तियों में उसके सर्जनात्मक स्वरूप को भलीभाँति निरूपित किया है :

O Lady ! we receive but what we give,
And in our life alone does Nature live

Ours is her wedding garment, ours her shroud'.
And would we ought behold, of higher worth,
Than that inanimate cold world allowed
to the poor loveless ever-anxious crowd,
Ah ! from the soul itself must issue forth
A light, a glory, a fair luminous cloud
Enveloping the earth—
And from the soul itself must be sent
A sweet and potent voice, of its own birth,
Of all sweet sounds the life and element.

नीचे हम कोलरिज का एक ऐसा कथन उद्धृत कर रहे हैं, जिसमें यह बताया गया है कि सर्जनात्मक कल्पना कितने भिन्न अथवा विपरीत तत्त्वों को आत्मसात् एवं एकीकृत करने में समर्थ है :

Imagination....reveals itself in the balance or reconciliation of opposite or discordant qualities of sameness with difference, of the general, with the concrete; the idea, with the image, the individual, with the representative, the sense of novelty and of freshness with old and familiar objects, a more than usual state of emotion with more than usual order, judgment ever awake and steady self-possession, with enthusiasm and feeling profound or relevant and while it blends and harmonises the natural and the artificial still subordinates art to nature, the manner to the matter; and our admiration of the poet to our sympathy with the poetry.

प्रो० क्लिन्थ ब्रूक्स ने विश्लेषण द्वारा बताया है कि उपर्युक्त कथन में ११ प्रकार के विरोधी तत्त्वों के समन्वय की चर्चा है।

कल्पना की रूप-विधायिनी शक्ति को इंगित करने के लिए कोलरिज ने उसे इसैम्पलैस्टिक पावर (Esemplastic Power) कहा है। 'इसैम्पलैस्टिक' शब्द कोलरिज ने कतिपय जर्मन पारिभाषिक शब्दों के ढंग पर स्वयं बनाया है, किन्तु अब कल्पना के विवेचन में उसका जिक्र बार-बार आता है। क्रियात्मक कल्पना अनियन्त्रित, अनियोजित, विरोधी उपकरणों को पूर्णतः एकीकृत करके उन्हें नितान्त नया रूप प्रदान कर देती है। इस नवनिर्मित रूप-व्यवस्था में एकता का आभास अनिवार्य रीति से मिलता है। प्राचीन युग में, विशेषकर प्लाटिनस की विचार-सरणी में, कल्पना की प्रक्रिया के प्रसंग में तत्त्वों के सम्यक् संकलन और एकीकरण पर विशेष बल दिया गया था। और जर्मन दार्शनिकों ने भी इस प्रक्रिया की अनिवार्यता को बार-बार दुहराया है। कल्पना द्वारा निर्मित रूप-विधान पदार्थों पर बाहर से आरोपित नहीं होता, वरन् अन्तःप्रेरणा से उद्भूत होता है। वर्त्तमान शताब्दी

में यूरोप और अमेरिका में कुछ दिनों तक रूपवादी कला-सिद्धान्तों का विशेष प्रचलन था, किन्तु उसके अनेक प्रवर्त्तकों में अन्तर्दृष्टि की कमी थी। रूप से केवल बाह्य आकार का बोध नहीं होता। वह तो ऐसी पूर्ण व्यवस्था है, जिसके अन्तर्गत गहन और बाह्य तत्त्वों का समावेश समान रूप से होता है। रूप की ऐसी सम्यक् कल्पना केवल कल्पना-शक्ति के आधार पर ही हो सकती है। कल्पना ऐसी सक्रिय शक्ति है, जो अणु-परमाणु में व्याप्त होकर अपना कार्य करती है और जिस सामग्री को वह रूप देती है, उसका कोई भी अंश उसके संसर्ग से अछूता नहीं बचता। पूर्ण रूप से व्याप्त होकर वह आन्तरिक क्रिया द्वारा नवीन रूप की सृष्टि करती है, जो मात्र आरोपित रूप से कहीं अधिक चमत्कारपूर्ण और और आकर्षक होता है। इसी विशिष्ट रचना-पद्धति के कारण कल्पना-प्रसूत कला-वस्तुओं में सार्वभौमिकता आ जाती है। कल्पना की यह सर्जनात्मक क्रिया हमें अरस्तू के अनुकरण-सिद्धान्त की याद दिलाती है। यद्यपि अरस्तू ने अपने मत केवल सूत्र-रूप में प्रस्तुत किये हैं, तथापि गम्भीरतापूर्वक विचार करने से अनुकरण और कल्पना में कतिपय समान लक्षणों का पता चलता है। अनुकरण का वह दूसरा रूप, जिसमें केवल प्रतिकृति-मात्र तैयार की जाती है, कल्पना से नितान्त भिन्न है। जर्मन दार्शनिकों और कोलरिज ने भी प्रोडक्टिव और रीप्रोडक्टिव क्रिया में भेद किया है। पहले में नवनिर्माण का कार्य होता है और दूसरे में केवल पुनरावृत्ति ; केवल प्रतिकृति उत्पन्न करनेवाला अनुकरण दूसरी कोटि में आयेगा, पहली में नहीं।

कल्पना और भावना का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त विचारणीय है। कल्पना की स्थिति अण्डरस्टैण्डिंग, अर्थात् बुद्धि के सन्निकट है और बहुत दिनों तक दोनों में अन्तर नहीं किया गया। अतः कल्पना की बौद्धिकता (इण्टेलेक्शन) में सन्देह नहीं। हम बता चुके हैं कि कल्पना में चेष्टा, इच्छा आदि का सन्निवेश मिलता है। भावना मूलतः स्नायुमण्डल की क्रिया है, यद्यपि यह तो सर्वविदित है कि स्नायु-संस्थान का प्रमुख केन्द्र मस्तिष्क है। अतएव, निष्कर्ष यह निकलता है कि कल्पना और भावना एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी आपस में सम्बद्ध हैं। सामान्य अनुभव से यही पता चलता है कि कल्पना भावना के रंग में रँगी रहती है और भावोद्रेक के लिए उसका सहयोग अपेक्षित रहता है। भावना को हम कल्पना का अनिवार्य निमित्त नहीं मान सकते, किन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि भावना से कल्पना सक्रिय हो उठती है और उसका निरन्तर परिपोषण होता रहता है। मनोविज्ञान की नवीन खोजों से पता चला है कि मानव-भावना मस्तिष्क की क्रिया के लिए न केवल भूमि उर्वर बनाती है, वरन् सीधे उसको शक्ति और क्रियाशीलता प्रदान करती है। कल्पना के बारे में यह बात विशेष रूप से सत्य है। कल्पना से भावना किस प्रकार लाभान्वित होती है, इसकी ओर हम संकेत कर चुके हैं। कल्पना हमारी संवेदनाओं को जागरित करके हमारी अनुभूतियों को तीव्र बनाती है।

यहाँ रस-सिद्धान्त की चर्चा अपेक्षित है। उक्त सिद्धान्त मूलतः भावनाओं की क्रिया पर आधृत है। विभाव, अनुभाव और संचारियों का सीधा सम्बन्ध भावोद्रेक से है और सहृदय-सम्भोग्य रस ही भावोत्कर्ष की अवस्था है। प्रारम्भ से ही इस बात पर विचार

होता आया है कि वह कौन-सी शक्ति है, जिसके द्वारा रस-प्रक्रिया में सम्मिलित होनेवाले विभिन्न साधन एक रूप होकर अपना प्रभाव उत्पन्न करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस समस्या को सुलझाने के लिए विभिन्न शक्तियों को मान्यता प्रदान की गई है ; जैसे आरोप, अनुमान, भावकत्व, भोजकत्व, अभिव्यंजना आदि। आचार्यों ने सर्जनात्मक कल्पना जैसी किसी शक्ति का विवेचन रस के सन्दर्भ में नहीं किया है। तब भी यदि हम इन नवीन स्थापनाओं के प्रकाश में रस-सिद्धान्त का निरीक्षण करें, तो यह सम्भव है कि हमें पता चले कि जिस चमत्कारोत्पादक शक्ति की खोज युगों से चली आई है, वह कल्पना ही है। वही नवोन्मेषकारिणी शक्ति काव्य-सामग्री को नया रूप-रंग, नया सौष्ठव और आकर्षण देने की क्षमता रखती है। रस-सिद्धान्त में जिन भावनाओं की चर्चा आती है और जिनका अपूर्व महत्त्व है, उनके अन्तराल तथा परिपार्श्व में विद्यमान रहकर अपना अद्भुत कार्य करने-वाली यह विधायिनी शक्ति कदाचित् कल्पना ही है। हम इस प्रश्न पर यहाँ अधिक नहीं लिखेंगे, केवल ये थोड़ी-सी बातें कहकर इस दिशा में विचार करने के लिए हम विद्वानों को आमन्त्रित करते हैं।

कल्पना के विस्तार का प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है। अभी हमने कहा है कि कल्पना को हम रस-सिद्धान्त का आधारभूत तत्त्व मान सकते हैं, अतः यह भी मानने की आवश्यकता पड़ जाती है कि कल्पना-क्रिया का संचार कवि, अभिनेता तथा सामाजिक में समान रूप से होता है। कवि में कल्पना की स्थिति तो सर्वमान्य है और उसके बारे में हम ऊपर लिख आये हैं। अभिनेता के सम्बन्ध में केवल इतना कहना है कि कल्पना से असम्पृक्त रहकर वह अपना कार्य भलीभाँति नहीं कर सकता। वह केवल रंगमंच पर इधर-उधर चलता, अंग-परिचालन करता हुआ तथा कुछ कहता दिखाई पड़ेगा, किन्तु उसके अभिनय से न तो उसे स्वयं सन्तोष प्राप्त होगा और न प्रेक्षकों को। जब कल्पना उसे प्रेरित और अनुप्राणित करती है, तभी उसके कार्य में सजीवता आती है और उसका समस्त व्यापार संकलित और एकीकृत हो जाता है। अनुकार्य और अभिनेता, अभिनेता और प्रेक्षक, काव्य और क्रिया, शब्द और अर्थ का व्यवधान लुप्त हो जाता है और प्रेक्षागृह में स्वर्ग का आनन्द मिलने लगता है। सामाजिक अथवा सहृदय में भी कल्पना की अनिवार्य सत्ता माननी ही पड़ेगी। जो कवि की कल्पना द्वारा उद्भूत है, जो अभिनेता की कल्पना द्वारा अभिव्यक्त है, वह केवल सहृदय की कल्पना द्वारा ही ग्रहण हो सकता है। वासना-रूप में विद्यमान रसोपभोग की जिस क्षमता की चर्चा बार-बार आती है, कदाचित् वह कल्पना-शक्ति और उसके जागरूक होने की सम्भावना के अतिरिक्त कुछ न हो। हम जानते हैं कि भारतीय आचार्यों ने इस सम्बन्ध में अत्यन्त सूक्ष्म तर्कों द्वारा आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की है। किन्तु, यह भी स्मरणीय है कि कल्पना-सिद्धान्त का निर्माण भी अध्यात्मदर्शन एवं मनोविज्ञान की आधार-शिला पर ही हुआ है।

कल्पना के असीम विस्तार के अनेक प्रमाण हैं। उसके क्षेत्र के अन्तर्गत वस्तु और रूप, भाव, विचार और शैली—सभी आ जाते हैं। उदाहरणार्थ, काव्य-शैली को ले लीजिए। कल्पना के क्रियाशील होने पर शैली में प्रयुक्त शब्द केवल निर्जीव चिह्नमात्र नहीं रह जाते,

अपितु वे अर्थ के भाण्डार प्रतीत होने लगते हैं। कविता में कभी यह अर्थ पूर्णतः व्यक्त हो जाता है और कभी अंशतः अभिव्यक्त रहकर पाठक अथवा श्रोता की भावना-शक्ति द्वारा गृहीत होता है। प्रो० आइ० ए० रिचर्ड्स ने कोलरिज-कल्पना-सिद्धान्त-विषयक अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रसंग में अर्थ के विभिन्न स्तरों की चर्चा की है। एक छोर पर शब्द केवल निर्जीव चिह्नमात्र होते हैं और दूसरे छोर पर वे अर्थ से परिपूर्ण होते हैं, जो प्रकाशित होता है। इन दोनों अवस्थाओं के अन्तर्गत शब्द और अर्थ के संयोग की अनेक अवस्थाएँ परिलक्षित होती हैं। कल्पना की क्रिया द्वारा शब्द और अर्थ का एकीकरण होता है। फैन्सी और इमैजिनेशन में यह अन्तर है कि प्रथम के प्रभाव से शब्द में अर्थ की अमेद्य नियोजना नहीं होती और दूसरे में पूरी तरह सम्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त कल्पना के अभाव से काव्य में प्रयुक्त शब्दों का घनिष्ठ सम्बन्ध भी उत्पन्न होता है। लय, संगीत और अर्थ का ऐसा सम्मिश्रण होता है कि वे सब मिल-जुलकर एक हो जाते हैं और पाठक के मन में वह अवस्था उत्पन्न होती है, जिसका निर्देश संगीतात्मक आनन्द, अर्थात् म्युजिकल डिलाइट (Musical Delight) कहकर किया गया है। १९वीं शताब्दी के यूरोपीय स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन की मूल प्रेरणा सर्जनात्मक कल्पना-सम्बन्धी नवीन स्थापनाओं से प्राप्त हुई। काण्ट, शेलिंग, हेगेल तथा कतिपय अन्य जर्मन दार्शनिकों के विचारों का प्रभाव तो पड़ा ही, किन्तु उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण थी वर्ड्सवर्थ, कोलरिज, शेली, श्लेगेल, विक्टर ह्यूगो आदि के विचारों की प्रतिक्रिया। तत्कालीन अँगरेजी स्वच्छन्दतावादी काव्य के अवलोकन से बात स्पष्ट हो जाती है। वर्ड्सवर्थ ने सन् १८१५ ई० की प्रसिद्ध भूमिका में ही नहीं, वरन् अपनी अनेक कविताओं में भी कल्पना के स्वरूप, कार्य और विस्तार पर सुन्दर प्रकाश डाला है। दी प्रील्यूड, टिण्टर्न-एबी, तथा अनेक अन्य छोटी-बड़ी कविताएँ कल्पना-सम्बन्धी विचारों और विश्वासों से परिपूर्ण हैं। कोलरिज का तो कुछ कहना ही नहीं, उन्होंने ही कल्पना-सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया और गद्य तथा पद्य में उसके स्वरूप की व्याख्या की। उनकी काव्य-रचनाओं में कल्पना का क्रियात्मक स्वरूप स्पष्ट होकर सामने आता है। शेली ने भी अपने आलोचनात्मक निबन्धों में सर्जनात्मक कल्पना की सत्ता और व्याप्ति को निःसंकोच स्वीकार किया है और उनकी कविताओं में कल्पना प्रतिफलित हुई है। उदाहरणार्थ, उनकी अत्यन्त लोकप्रिय कविता 'ओड टु द वेस्ट विण्ड' ले लीजिए। उसमें सर्जनात्मक कल्पना की सभी विशेषताएँ मिलती हैं। भावनाओं, विचारों और प्रकृति के स्थूल तत्त्वों का सम्यक् एवं आकर्षक एकीकरण हुआ है तथा कल्पना की आन्तरिक प्रक्रिया द्वारा कविता का रूप-सौष्ठव निखर उठा है। यही बात कीट्स के सफल ओड्स के बारे में भी सत्य है, जैसे ओड् टु आटम, ओड ऑन एग्रिशियन अर्न और ओड टु ए नाइटिंगेल। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि लिरिकल बैलेड्स के प्रथम प्रकाशन और हाइने की मृत्यु के बीच की कालावधि में (१७९८—१८५०) जो उत्कृष्ट रोमाण्टिक कविता यूरोप में लिखी गई, वह कल्पना से प्रेरित और प्रसूत थी। कविगण न तो परम्परागत नियमों की खोज करते थे और न रूढ़ियों का सम्मान। इनकी कल्पना और साथ-ही-साथ भावना भी उन्मुक्त और सक्रिय

हो उठी थी और काव्य-रचना में वे केवल उन्हीं का अधिकार स्वीकार करते थे। उनकी कृतियों की सभी विशेषताएँ कल्पना के आग्रह द्वारा निर्धारित होती थीं : कल्पना ही विषयवस्तु को रूप देती थी। वही शैली और छन्दों की योजना में आधारभूत तत्त्व बनकर निहित रहती थी। कल्पना-सिद्धान्त के प्रतिपादन से काव्य-जगत् में क्रान्ति उत्पन्न हो गई। उसकी क्रिया तो अनन्तकाल से सम्पादित होती आई थी, किन्तु अब उसपर ध्यान केन्द्रित हुआ और उसकी व्याख्या हुई।

कल्पना-सिद्धान्त का प्रभाव रचना के क्षेत्र ही में नहीं, आलोचना के क्षेत्र में भी प्रकट हुआ। १८वीं शताब्दी के अन्त तक जिस आलोचना-पद्धति का प्रचलन था, उसमें निश्चित नियमों का ही प्राधान्य था। पूर्व-निर्धारित नियम और प्रतिमान थे और उन्हीं से साहित्यिक वैशिष्ट्य की नाप-तोल होती थी। आचार्यों का अधिकार सर्वस्वीकृत था और उनकी अवज्ञा दण्डनीय मानी जाती थी। कल्पना-सिद्धान्त निरूपित हो जाने पर नवीन स्वच्छन्दतावादी समीक्षा का आविर्भाव हुआ, जो उतनी ही कल्पनापरक थी, जितनी स्वच्छन्दतावादी कविता। प्राचीन नियमों और उपनियमों को अलग रख दिया गया। अन्विति, औचित्य आदि की चर्चा बन्द हो गई और काव्य अपने रूढ़िग्रस्त परिधान से छुटकारा पा गया। अब केवल एक ही आलोचनात्मक मानदण्ड था—क्या किसी रचना-विशेष में सर्जनात्मक कल्पना अपने वास्तविक रूप में क्रियमाण होकर प्रकट हुई है अथवा नहीं। कल्पना के संचार से अन्य विशेषताएँ स्वतः उद्भूत होती थीं। कविता अथवा नाटक की नियोजना, छन्द, शैली, बिम्ब और प्रतीक-विधान—सभी कल्पना के सहचर बनकर आते थे। इस भाँति कल्पना समीक्षा का केन्द्रीय तत्त्व बन गई और अन्य सभी बातें उपसाध्य के रूप में आईं। स्वच्छन्दतावादी समीक्षा का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कोलरिज और श्लेगेल के शेक्सपियर-विषयक लेखों और भाषणों में मिलता है। इसके अतिरिक्त वर्ड्सवर्थ, कोलरिज, हेजलिट, लैम्ब के अनेक लेखों में आलोचना का यह नवीन कल्पना-मूलक आदर्श प्रतिपादित और व्यवहृत हुआ है।

स्वच्छन्दतावादी आलोचना पाठक में सहृदयता और सुरुचि की आकांक्षा रखती है। कल्पनाजन्य गुणों को ग्रहण करने के लिए सहृदय में भी जागरूक कल्पना और रुचि-परिष्कार अपेक्षित होते हैं। संवेदनशील और रुचि-सम्पन्न विज्ञ पाठक कल्पना की विशिष्ट क्रिया और उसके कार्य को अपने-आप पहचान लेता है, वह पारखी होता है और उत्कृष्ट कला का मूल्य जानता है, नियमों और प्रमाणों द्वारा नहीं, वरन् अपनी परिष्कृत और प्रबुद्ध अभिरुचि द्वारा। हेजलिट, अनातोले फ्रान्स आदि ने साहित्यिक परख की बात इसी अर्थ में कही है। परख, अभिरुचि पर निर्भर करती है और अभिरुचि और कल्पना का सीधा सम्बन्ध है। कोलरिज के काल से आजतक के साहित्यिक चिन्तन पर कल्पना-सिद्धान्त की छाप निरन्तर मिलती है, यह बात दूसरी है कि कभी वह प्रच्छन्न रहती है और कभी स्पष्ट होकर सामने आती है।

ऊपर हमने यह मत प्रकट किया है कि रस-निष्पत्ति की सम्भावना कल्पना-शक्ति की क्रिया से उत्पन्न होती है। इस सम्बन्ध में कुछ भ्रम पैदा हो सकता है; क्योंकि हमने

'कल्पना' शब्द को क्रिएटिव इमैजिनेशन के पर्यायवाची के रूप में लिया है। लोक-व्यवहार में कल्पना को इमैजिनेशन का समानार्थी मानने की प्रथा चल पड़ी है, इसलिए हमने ऐसा किया। वास्तव में तात्त्विक दृष्टि से देखने पर पता चला है कि इमैजिनेशन का सबसे उपयुक्त अर्थ देनेवाला भारतीय शब्द है 'प्रतिभा'। 'कल्पना' से केवल ज्ञात तथ्यों से अज्ञात सम्भावना का अनुमान होता है। इसी अनुमान के अर्थ में कल्पना शब्द का प्रयोग होता है। कभी-कभी कल्पना अथवा कल्पित से अवास्तविक और स्वप्निल का अर्थ भी निकलता है। कहना न होगा कि सर्जनशील कल्पना, जिसकी व्याख्या हमने ऊपर प्रस्तुत की है, इस प्रकार की साधारण कल्पना से नितान्त पृथक् है। प्रतिभा और सर्जनशील कल्पना पूर्ण-रूपेण एक नहीं है, परन्तु उनमें पर्याप्त समानता मिलती है। प्रायः सभी आचार्यों ने प्रतिभा को काव्य का प्रधान हेतु माना है। कुछ लोगों ने उसे शक्ति का नाम दिया है, किन्तु तब भी उनका अभिप्राय प्रतिभा से है। प्रकाशकार ने स्पष्ट कर दिया है कि काव्य के अन्य हेतु शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास कल्पना के पोषक-मात्र हैं और उसी के द्वारा अपना कार्य करते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'केवल प्रतिभा' कहकर प्रतिभा के एकाधिकार को व्यक्त किया है। प्रायः सभी प्रतिभा को ईश्वर-प्रदत्त मानते हैं। केवल रुद्रट अपवाद-स्वरूप हैं। क्योंकि उन्होंने सहजा अर्थात् नैसर्गिक प्रतिभा के अतिरिक्त 'उत्पाद्या प्रतिभा' को भी स्वीकार किया है, जो व्युत्पत्ति आदि से प्राप्त होती है। काव्य-निर्माण में प्रतिभा का प्रमुख महत्त्व सर्वमान्य है और उस सम्बन्ध में और कुछ अधिक कहना अनावश्यक प्रतीत होता है।

प्रतिभा की सबसे प्रसिद्ध परिभाषा है 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता', अर्थात् नय-नये भावों के उन्मेष से युक्त प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं। इसी प्रकार की व्याख्या अन्य आचार्यों ने भी की है। यदि विभिन्न मतों को हम साथ रखकर देखें, तो यह पता चलता है कि प्रतिभा से अभिप्राय है उस विशिष्ट मानसिक शक्ति है, जो सक्रिय होकर काव्य-सामग्री को प्रतिभासित अथवा आलोकित करती है। शब्द और अर्थ की जो नियोजना काव्य में होती है, उससे यदि प्रतिभा का संस्पर्श न हो, तो चारुत्व का अभाव बना रहेगा। वर्ड्सवर्थ और कोलरिज ने सर्जनात्मक कल्पना के बारे में अनेक बार कहा कि उससे जीवन-खण्ड और काव्य-कृतियाँ उद्दीप्त हो उठती हैं। 'The light that never was on sea or land'—की चर्चा मिलती है। प्रतिभा से शुष्क एवं जड़ काव्य-वस्तु अनुप्राणित हो उठती है। प्रतिभा स्फुरण का साधन ही नहीं, वरन् स्वयं स्फुरण है। यहाँ तक तो प्रतिभा और क्रिएटिव इमैजिनेशन में स्पष्ट समानता मिलती है। दोनों में यह भी समानता है कि दोनों क्रियाशील हैं और उपलब्ध काव्य-सामग्री को नवीन रूप देती हैं। इमैजिनेशन के बारे में तो यह बात विस्तृत व्याख्याओं द्वारा सिद्ध की गई है। हम देख चुके हैं कि विचार, भावना और पदार्थ के संयोग से किस प्रकार सर्जनात्मक कल्पना नवीन सृष्टि करती है। प्रतिभा के निर्माणात्मक रूप पर आचार्यों ने विस्तार से प्रकाश नहीं डाला है। सामान्यतः यह सूचना मिलती है कि प्रतिभा प्रतिभासित करने के अतिरिक्त संश्लेषण और रूप-विधान में भी सहायक सिद्ध होती है। प्रतिभा का समस्त विवेचन उतना

स्पष्ट और वैज्ञानिक नहीं है, जितना सर्जनशील कल्पना का विवेचन पाश्चात्य मनीषियों द्वारा हुआ है। अतः दोनों की तुलना करते हुए एक सीमा के बाद हमें रुक जाना पड़ता पड़ता है, तब भी इतना तो निश्चित है कि पाश्चात्य और पौरस्त्य विद्वानों ने एक ही दिशा में चिन्तन किया है, इसलिए प्रतिभा और सर्जनात्मक कल्पना में पर्याप्त समानता मिलती है।

अन्त में कोलरिज के कल्पना-सिद्धान्त और क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में समान तत्त्वों का हम यहाँ उल्लेख-मात्र करते हैं। कोलरिज और क्रोचे दोनों आदर्शवादी विचारक थे और दोनों मनीषियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में प्रमुखता मानसिक क्रिया को ही दी गई है। मन और अन्तरात्मा में होनेवाले कतिपय व्यापारों को आधार बनाकर दोनों विचारकों ने अपने-अपने सिद्धान्तों का निर्माण किया है। अतः दोनों का स्मरण एक साथ करना स्वाभाविक है।

## दशम अध्याय

# साहित्य और यथार्थ

यथार्थवादी साहित्य—दर्शन हमारे लिए कुछ नया और अपरिचित प्रतीत होता है। हमने उसे पाश्चात्त्य देशों से ही ग्रहण किया है, अतएव उसकी व्याख्या में पाश्चात्त्य मनीषियों तथा उनके मतों की चर्चा अनिवार्य है। ऐसे ही, दृष्टान्त के लिए यूरोपीय साहित्य और उसके अन्तर्गत उदय होनेवाले आन्दोलनों का उल्लेख भी आवश्यक है। पिछले कुछ दशाब्दों में भारतवर्ष में भी यथार्थवादी निरूपण-शैली का अभ्युदय और विकास हुआ है। यथार्थ तथा उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति के विषय में थोड़ा-बहुत चिन्तन भी हुआ है, किन्तु इतना होने पर भी यथार्थवाद की मूल प्रेरणा भारतीय नहीं, वरन्, यूरोपीय है। इस बात को मानने में किसी को संकोच न होगा।

भारतीय अध्यात्मदर्शन में सामान्यतः इन्द्रियगोचर स्थूल जड़ जगत् को अमान्यता मिली है और उसके अस्तित्व को अस्वीकार किया गया है। ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है, यही वेदान्त की मूल स्थापना है। दृष्टिगोचर जगत् अनित्य, असार है तथा उसे माया का प्रसार-मात्र मानना चाहिए—इसी धारणा पर भारतीय दर्शन अवलम्बित है। बौद्ध-विज्ञानवाद ने भौतिक जगत् को पूर्णरूपेण अमान्य सिद्ध करते हुए प्रत्ययवादी दृष्टिकोण को ही अपनाया है। प्रत्यक्ष जगत् का न तो कोई वास्तविक अस्तित्व है और न महत्त्व। वेदान्त और बौद्ध-दर्शन दोनों परोक्ष सत्ता को ही वास्तविक मानते हैं। अन्य भारतीय दर्शनों में भी प्रायः ऐसी ही स्थापनाएँ मिलती हैं। भारतीय दार्शनिक चिन्तन की प्रवृत्ति सदैव प्रत्ययवादी एवं आदर्शवादी बनी रही और दैनिक अनुभव की इन्द्रियगोचर सृष्टि को अयथार्थ, अनित्य और भ्रमपूर्ण बताने की दीर्घकालीन परम्परा चली आई है। ऐसे ही साहित्यिक चिन्तन के क्षेत्र में भी आदर्शवादिता का प्राधान्य मिलता है। विशिष्ट काव्यानुभूति को ब्रह्मानन्द-सहोदर मानते हैं और उसकी तुलना विमर्श से करते हैं। दैवी प्रेरणा और अनुकम्पा काव्य-सर्जना के लिए अपेक्षित होती हैं तथा काव्य के विषय-चयन में धर्मग्रन्थों, पुराणों, महाकाव्यों आदि से सहायता लेना श्लाघनीय माना गया है। इसके अतिरिक्त हमारे साहित्यशास्त्र में शब्दों की अमूर्त्त शक्तियों और व्यापारों, शैली के आकर्षक चमत्कार-कथन की भंगिमा आदि पर विचार किया गया है। दैनिक तथा प्रत्यक्ष जगत् से साहित्य का क्या सम्बन्ध है, इस समस्या का उत्तर हमारे आचार्यों ने नहीं प्रस्तुत किया है। इस महत्त्वपूर्ण विषय का विवेचन खुलकर हमारे रीति-ग्रन्थों में नहीं हुआ है। कहीं-कहीं अप्रत्यक्ष रीति से जीवन की चर्चा अवश्य आ जाती है, जैसे भरत मुनि ने नाटक का सीधा सम्बन्ध लोक-जीवन से माना है तथा रस-सिद्धान्त में मनोवैज्ञानिक तत्त्वों को आधार बनाया गया है। औचित्यवाद के अन्तर्गत कलात्मक औचित्य तथा सामाजिक औचित्य को अभिन्न मानना पड़ेगा। इस प्रकार सहित्यिक चिन्तन और यथार्थ जीवन की

समस्याओं के साथ कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य परिलक्षित होता है, किन्तु ये अपवाद-मात्र हैं। भारतीय साहित्यिक चिन्तन में आधुनिक यथार्थवाद जैसी कोई पद्धति नहीं मिलती। कारण यह है कि प्राचीन भारतीय साहित्य आदर्शवादी और कवित्वमय है। जहाँ आध्यात्मिकता का पुट नहीं मिलता, वहाँ कल्पना का विस्तार दिखाई देता है। कल्पना और भावना से हमारा सारा साहित्य रँगा हुआ है और काव्यात्मक गुणों का प्राचुर्य सब कहीं दिखाई देता है। कुछ ऐसी नाट्य-रचनाएँ एवं कथाएँ हैं, जिनमें सामाजिक जीवन की झलक मिलती है, किन्तु उनकी भी निर्माण-शैली काव्यमय, कल्पना-प्रवण और आदर्शवादी है। सौन्दर्यप्रियता एवं भाव-सबलता के कारण भारतीयों की सदैव यही चेष्टा रही है कि संसार के अनुभव को आदर्श रूप में प्रकट किया जाय, अर्थात् उसे सुन्दर और आकर्षक बनाकर प्रस्तुत किया जाय। यथातथ्य निरूपण को हमारे प्राचीन कवि और लेखक कदाचित् निरुद्देश्य प्रयास-मात्र मानते थे; क्योंकि यह धारणा मूलबद्ध थी कि साहित्य से लोक-मंगल तथा आनन्द की उपलब्धि होती है।

पाश्चात्त्य दार्शनिक और साहित्यिक परम्परा इससे भिन्न है। वहाँ भी अनेक आदर्शवादी विचारक हुए हैं, किन्तु आधुनिक युग में तर्क और विज्ञान की उन्नति के कारण प्रत्यक्षगोचर जगत् को अधिकाधिक महत्त्व मिल रहा है। प्राचीन यूनानी दार्शनिकों में प्लेटो का दृष्टिकोण मूलतः आदर्शवादी था। दृश्य जगत् को वह केवल छाया और भ्रममात्र मानते तथा रीजन, अर्थात् तर्क को ही वह ज्ञानोपलब्धि के साधन-रूप में ग्रहण करने के पक्ष में थे। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष जगत् के अनुभव को वह अविश्वसनीय और भ्रममूलक अवश्य सिद्ध करते हैं, किन्तु उनके लेखों से यह ध्वनि नहीं निकलती है कि वह दृश्य जगत् को केवल मानसिक प्रत्यय मानते थे और उसके स्थूल अस्तित्व की पूर्ण उपेक्षा करते थे। अरस्तू के दर्शन में प्राचीन युग का वैज्ञानिक चिन्तन प्रतिफलित हुआ, अतएव भौतिक तत्त्वों के पूर्ण परित्याग का प्रश्न ही नहीं उठता। तब भी लगभग १३०० वर्षों तक यूरोप में अरस्तू की अपेक्षा धर्म और दर्शन के क्षेत्र में प्लेटो का प्रभाव ही अधिक सबल और सक्रिय रहा। मध्ययुग में ईसाई धर्म और रहस्यवादी सन्तों के प्रभाव से भी अध्यात्म-वाद तथा परोक्ष सत्ता में अधिकाधिक आस्था दृढ़ होती गई। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि प्राचीन काल से लगाकर मध्य युग के अन्त तक आदर्शवादी दर्शन की प्रमुखता बनी रही, यद्यपि वैज्ञानिक चिन्तन और तर्कवादी दर्शन का सूत्रपात भी हो चुका था।

नवजागरण-युग में परिस्थिति बदलने लगी। अब अरस्तू का प्रभाव सजीव हो उठा और कोपरनिकस आदि वैज्ञानिकों की नई खोजों ने यूरोपीय चिन्तन को एक नवीन दिशा प्रदान की। बेकन ने वैज्ञानिक प्रयोगात्मक पद्धति को अपनाया और तब से प्रत्यक्ष, यथार्थ एवं स्थूल पदार्थों के निरीक्षण और अन्वेषण की प्रथा चल पड़ी; यथार्थवाद और भौतिकवाद का श्रीगणेश हुआ और हम देखेंगे कि इन विचारधाराओं ने आगे चलकर चमत्कारपूर्ण उन्नति की। इसी काल में यूरोपीय दर्शन में डेकार्ट आदि ने तर्कवाद को प्रश्रय दिया। तदुपरान्त लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक प्रत्ययवादी तथा यथार्थवादी धाराएँ प्रायः साथ-साथ अग्रसर होती रहीं। प्रत्ययवादी दर्शन का चरमोत्कर्ष बिशप बर्कले के विचारों

में दिखाई पड़ता है। वे गोचर जगत् की केवल मानसिक प्रत्ययों का प्रसार-मात्र मानते थे और उसका अन्य कोई अस्तित्व अस्वीकार करते थे। दूसरी ओर लॉक इत्यादि ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्यक्ष जगत् से उद्भूत प्रभावों से मन किस प्रकार अभिभूत होता है, इसकी व्याख्या की। १८वीं शताब्दी में इस प्रकार की दुहरी विचारधारा साफ-साफ दिखाई देती है। काण्ट तथा परवर्त्ती जर्मन दार्शनिक आदर्शवादी थे और विषयी को ही महत्त्व देते थे, विषय को नहीं। विषयी और विषय, सब्जेक्ट और ऑब्जेक्ट के पारस्परिक सम्बन्ध की जो व्याख्या जर्मन दार्शनिकों के लेखों में मिलती है, उसमें विषय को गौण अवश्य माना गया है, किन्तु प्रत्यक्ष को बिलकुल तिरस्कृत और अवास्तविक मान लिया गया हो, ऐसा नहीं प्रतीत होता।

१९वीं शताब्दी में वैज्ञानिक चिन्तन ने अभूतपूर्व प्रगति की। कोपरनिकस, बेकन, न्यूटन आदि की खोजों ने उसके लिए सुदृढ़ आधार पहले से ही तैयार कर रखा था, किन्तु १९वीं शताब्दी में विज्ञान ने प्रायः समस्त जीवन को आच्छादित कर लिया। डारविन और हक्सले ने जीव-विज्ञान के क्षेत्र में जो महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान किया, उससे मानव-सत्ता की यथार्थता सिद्ध हुई। सभी जीवित प्राणी न केवल मानसिक प्रत्यय हैं, अपितु बाह्य और मूर्त्त उपादानों की व्यवस्था से उनका जीवन सम्भव होता है। ऐसी धारणा अब सर्वस्वीकृत होने लगी। विकासवाद के निष्कर्षों ने जीवविज्ञान के अतिरिक्त ज्ञान की अन्य शाखाओं को भी प्रभावित किया। कामटे, सेण्ट साइमन आदि ने वस्तुवादी एवं निश्चयवादी दर्शन का निर्माण किया, जिसमें बाह्य वस्तुओं के आग्रह को भलीभाँति स्वीकार किया गया था। टेन ने विचारवाद और वंश-परम्परा के नियमों को आधार बनाकर इतिहास की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की। आगे चलकर फोटोग्राफी का कैमरा आविष्कृत हुआ, जिससे प्रत्यक्ष वस्तु-जगत् का यथातथ्य छायाचित्र तैयार होने लगा। विज्ञान की इन सभी नवीन उपलब्धियों का सम्मिलित प्रभाव यह था कि वस्तु-जगत् की यथार्थता में जनसाधारण की आस्था बढ़ने लगी। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय चिन्तन भी इसी दिशा में अग्रसर हुआ। ऐसे युग में यथार्थवाद की उन्नति स्वाभाविक थी।

बाह्य एवं मूर्त्त जगत् की वास्तविकता विज्ञान ने प्रकट की और इस प्रकार की नवीन स्थापना से दर्शन और साहित्य विस्तृत रूप में प्रभावित हुए। शनैः-शनैः यथार्थ का एक अपेक्षाकृत अमूर्त्त रूप भी सामने आया। भौतिक विज्ञान, जीव-विज्ञान और समाज-शास्त्र के साथ-ही-साथ मनोविज्ञान की प्रगति भी हो रही थी। १९वीं शताब्दी में सामान्य मनोविज्ञान के अतिरिक्त उसकी वे उपधाराएँ भी विकसित होने लगीं, जिनमें चेतन की अपेक्षा अवचेतन और अचेतन मन पर अधिक बल दिया गया। अवचेतन और अचेतन की तुलना में चेतन मन अल्प महत्त्व का प्रतीत होने लगा और फ्रायड, युंग तथा अन्य विशेषज्ञों ने मन की अतुल गहराइयों में प्रविष्ट होकर उसकी जाँच शुरू कर दी। फलतः, अब यह विश्वास बढ़ने लगा कि जो मूर्त्त और अप्रत्यक्ष है, केवल वही यथार्थ नहीं है, वरन् वह भी सत्य और वास्तविक है, जो मन के भीतर स्थित रहकर सक्रिय और विकसित होता रहता है। यथार्थवाद ने अपना वह मनोवैज्ञानिक स्वरूप ग्रहण किया, जिसमें स्थूल यथार्थ

का नहीं, वरन् सूक्ष्म मानसिक यथार्थ का निरूपण होता है। यदि मन की क्रियाओं का सफल और सम्यक् निरूपण हो, तो वह उतना ही यथार्थ है, जितना बाह्य तत्त्वों का यथातथ्य चित्रण।

यथार्थवाद अपने निश्चित सैद्धान्तिक रूप में साहित्य और कला के क्षेत्र में लगभग १९वीं शताब्दी के मध्य प्रकट हुआ। हम कह नहीं सकते कि इस सम्बन्ध में किसी निश्चित तिथि का देना कहाँ तक उचित है, किन्तु सामान्यतः दो तिथियों का उल्लेख किया जाता है। सन् १८५० ई० में कोर्बे ने अपने चित्रों का प्रदर्शन किया। इन चित्रों में यथातथ्य निरूपण की शैली व्यवहृत हुई थी और उनके प्रसंग में 'रियलिज्म' शब्द का प्रयोग उनके निर्माता ने स्वयं किया। इसके कुछ वर्षों बाद, सन् १८५६ ई० में फ्लाबर्ट का प्रसिद्ध उपन्यास 'मैडम बोवेरी' प्रकाशित हुआ। यह तिथि भी यथार्थवादी आन्दोलन के आविर्भाव का संकेत देती है। किन्तु इससे भी पूर्व बालजाक के उपन्यासों में साहित्यिक यथार्थवाद का सूत्रपात ही नहीं, बल्कि महत्त्वपूर्ण विकास भी हो चुका था। तिथियों के झगड़े में न पड़कर हम मान सकते हैं कि लगभग १९वीं शताब्दी के मध्य में यथार्थवाद सिद्धान्त और साहित्यिक अभियान के रूप में यूरोप के सम्मुख आया। तत्पश्चात् उसने अनेक रूप प्रकट किये और आश्चर्यजनक उन्नति की। आज भी यथार्थवादी सिद्धान्त और निरूपण-शैली अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। जो कुछ हमने अभी कहा है, उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि १९वीं शताब्दी के पूर्व, अर्थात् बालजाक, फ्लाबर्ट आदि के पूर्व साहित्य-जगत् में यथार्थवाद ऐसी कोई वस्तु थी ही नहीं। अपने सहज रूप में यथार्थमूलक साहित्य तथा तत्सम्बन्धी निरूपण-शैली बहुत प्राचीनकाल से मिलती है। यथार्थपरक साहित्य की अटूट परम्परा एरिस्टोफेन्स के सुखान्त नाटकों से लगाकर जेन आस्टेन के उपन्यासों तक चली आई है। १९वीं शताब्दी में केवल नई बात यह हुई कि उस परम्परागत सहज यथार्थवाद ने एक निश्चित सैद्धान्तिक रूप ले लिया और यूरोप के कई देशों में आन्दोलन बनकर प्रकट हुआ। पहले सहज यथार्थवाद की साहित्यिक परम्परा का दिग्दर्शन कर लेना ठीक होगा।

साहित्यिक अभिव्यक्ति के दो छोरों पर कल्पना और यथार्थ सदा से विद्यमान रहे हैं और कभी एक पर अधिक बल दिया गया है, तो कभी दूसरे पर। इसीलिए हम देखते हैं कि विश्व-साहित्य न तो पूर्णरूपेण कल्पित और स्वप्निल है और न नितान्त यथार्थमूलक। अन्तर केवल इस बात से उत्पन्न होता है कि कल्पना और यथार्थ का सम्मिश्रण किस अनुपात में किया गया है। यद्यपि होमर के महाकाव्यों में यूनान का जातीय जीवन अभिव्यक्त हुआ है तथापि निस्सन्देह उनमें कल्पना का प्राचुर्य है। दूसरी ओर, एरिस्टोफेन्स के सुखान्त एवं व्यंग्यात्मक नाटकों में तत्कालीन जीवन की यथेष्ट झलक मिलती है। ग्रीक 'मध्य कामेडी' तथा लैटिन कॉमेडियों में मुख्यतः यथार्थ निरूपण और व्यंग्य की ही शैली अपनाई गई है। मध्ययुग के अन्तिम चरण में जब यूरोप में नाटक का पुनर्जन्म हुआ तब उसने लोकजीवन से प्रेरणा ग्रहण की और उसमें सामान्य जीवन का

चित्रण हुआ। सुखान्त नाटकों का विकास मुख्यतः यथार्थवादी परिपाटी पर ही हुआ, जिसमें दो तत्त्व संघटित थे। एक ओर प्राचीन लैटिन सुखान्त नाटकों का यथार्थवादी आदर्श सामने था और दूसरी ओर वास्तविक जीवन के प्रदर्शन की इच्छा बलवती थी। दोनों साधनों ने मिलकर १६वीं और १७वीं शताब्दी में अँगरेजी कॉमेडी को उसका विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया। इधर गद्य-कथाओं में भी यथार्थ जीवन का अधिकार अधिकाधिक स्वीकार किया जाने लगा। चोरों और ठगों की कथाओं से प्रारम्भ होकर १८वीं शताब्दी में डेफो, फील्डिंग, स्मालेट प्रभृति की रचनाओं में यथार्थवादी उपन्यास प्रस्फुटित हुआ। यथार्थ निरूपण की आकांक्षा से कविता भी अछूती न रही। १९वीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में जेन आस्टेन ने अपने जगत्-विख्यात उपन्यासों की रचना की, जिनमें सहज यथार्थवाद की परिणति मिलती है। यथार्थवादी आन्दोलन के शुरू होने के पहले ही जेन आस्टेन ने यथार्थवादी शिल्पविधान में अपूर्व सफलता प्राप्त की।

अनेक कारणों से यथार्थवाद ने १९वीं शताब्दी में अभिनव रूप ग्रहण किया। नवीनता केवल इस बात में थी कि अब उसका स्वरूप अधिक निश्चित और सुस्पष्ट हो गया था तथा विचारकों द्वारा उसके आधारभूत तत्त्वों की व्याख्या होने लगी थी। वह अब अभिव्यक्ति की सहज शैली न रहकर सैद्धान्तिक तथा सप्रयास व्यवहृत होनेवाला शिल्प-विधान बन गया था। जिन कारणों से यह परिवर्त्तन सम्भव हुआ, उनपर भी दृष्टिपात कर लेना उचित है। १९वीं शताब्दी का यथार्थवादी आन्दोलन मुख्यरूपेण पूर्वगामी स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन की प्रतिक्रिया में प्रकट हुआ। स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन जैसे-जैसे अग्रसर हुआ, अधिकाधिक उच्छृंखल बनता गया और कतिपय कवियों और लेखकों की रचनाओं में रोमान्स-तत्त्व का अतिरेक अत्यन्त खटकनेवाला था। वैसे भी लगभग ५० वर्षों तक काल्पनिक साहित्य के प्रचलन के बाद उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया और यथार्थ की खोज स्वाभाविक थी। इसके अतिरिक्त वे अन्य कारण भी थे, जिनकी ओर हम ऊपर संकेत कर आये हैं। औद्योगिक क्रान्ति, भौतिक और जीव-विज्ञान में नवीन प्रगति, निश्चयवादी दर्शन आदि ने परिवर्त्तन के लिए भूमिका तैयार की। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कारण था एक नवीन प्रकार के सामाजिक दर्शन का आविर्भाव। अर्थशास्त्र के नवीन मत और सिद्धान्त अपना प्रभाव डाल रहे थे और अनेक विचारकों ने समाज की सत्ता और उसको परिचालित करनेवाले प्रभावों को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया। मार्क्स ने हेगेल के आदर्शवादी दर्शन को भौतिकवादी रूप देते हुए द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को सामाजिक प्रसंग में घटित किया। अव्यक्त आदर्शों और अमूर्त्त तत्त्वों को छोड़कर मार्क्स ने समाज के भौतिक अस्तित्व को ही प्रत्यक्ष और यथार्थ माना। समाज में चलनेवाले वर्ग-संघर्ष की उन्होंने व्याख्या की और सर्वहारा वर्ग की भावी विजय में अपनी अमोघ आस्था व्यक्त की। मार्क्स के अतिरिक्त अन्य विचारकों ने भी किसी-न-किसी रूप में समाजवादी दृष्टिकोण को अपनाया तथा इतिहास और अर्थशास्त्र के सहारे सामाजिक गति और प्रगति को समझने और समझाने का प्रयत्न किया। आदर्शवादी दार्शनिकता से हटकर सामाजिक समस्याओं में लोक-अभिरुचि अधिक रमने लगी और इस प्रकार यथार्थवाद के आगमन के लिए परिस्थिति अनुकूल बन गई।

यथार्थवादी आन्दोलन के विस्तार के सम्बन्ध में हम ऊपर कुछ कह चुके हैं। उक्त आन्दोलन का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतिफलन फ्रांस में हुआ। यथार्थवादियों की प्रमुखता तबतक बनी रही, जबतक प्रतीकवादियों ने उनका विरोध नहीं किया। विरोध होने पर भी यथार्थवादी आन्दोलन सजीव और सक्रिय बना रहा। रूस, स्कैण्डिनेविया, जर्मनी, इंगलैण्ड आदि में भी यह यथार्थवादी आन्दोलन किसी-न-किसी रूप में प्रकट हुआ। यह अमेरिका में भी फैला और उसके प्रभावान्तर्गत प्रचुर साहित्य का निर्माण हुआ। अनेक अन्य मतों और निर्माण-पद्धतियों के बावजूद यथार्थवाद आज भी साहित्य के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। वह न केवल यूरोप और अमेरिका में ही, वरन् संसार के सभी सुसंस्कृत देशों में व्यवहृत हो रहा है और विवेचन का विषय बना हुआ है। पिछले सौ वर्षों में यथार्थवाद ने जो विभिन्न रूप ग्रहण किये हैं, उनकी चर्चा हम आगे चलकर करेंगे।

यथार्थवादी साहित्य में यथार्थ (रियलिटी) का क्या स्थान है, यह प्रश्न अत्यन्त गम्भीर एवं विचारणीय है। यह स्पष्ट है कि लेखक अपनी सामग्री वस्तुतः जगत्, समाज तथा वास्तविक जीवन से प्राप्त करता है।। कवि एवं लेखक को जीवन की वास्तविकता पर निर्भर रहना ही पड़ता है, चाहे वह आदर्शवादी हो अथवा यथार्थवादी। अन्तर केवल उपयोग की मात्रा में है। आदर्शवादी यथार्थ के साथ कल्पना को मिलाकर उसे सुन्दर बना देता है, उसके लिए यथार्थ से भी अधिक महत्त्व कल्पना का है। यथार्थवाद में कल्पना गौण हो जाती है और वास्तविकता का आग्रह उससे कहीं अधिक मूल्य रखता है। यथार्थवादी कला के लिए यथार्थ केवल सामग्री ही नहीं, वरन्, सफलता का मानदण्ड भी प्रस्तुत करता है। ऐसी कला में यथार्थ जीवन की आकृति दिखाई देती है और उसकी उत्कर्षावस्था में हमें अनुकृति से यथार्थ का भ्रम हो जाता है। रियलिज्म और रियलिटी के इस घनिष्ठ सम्बन्ध को ध्यान में रखकर कुछ ऐसे मत प्रकट किये गये हैं, जिनमें इनकी एकता पर बहुत अधिक बल दिया गया है। यदि हम मार्क्स के सिद्धान्तों को भलीभाँति देखें, तो उनमें भी प्रच्छन्न रूप से यही मत निहित मिलता है। प्रकृतिवादियों ने तो इस मत को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। ज़ोला और अन्य प्रकृतिवादियों ने यथार्थ के सच्चे निरूपण को ही साहित्य का परम उद्देश्य माना है। उनके विचार फोटोग्राफी के कैमरा के नवीन आविष्कार से प्रभावित थे और उन्होंने अपनी कृतियों में कैमरा की पद्धति पर ही जीवन-खण्डों के यथार्थ चित्रण का प्रयास किया है। स्लॉड्स ऑफ् लाइफ, कॉर्नर ऑफ् लाइफ आदि वाक्यांश इसी दृष्टिकोण के द्योतक हैं। ज़ोला प्रभृति की नवीन उद्भावनाएँ वैज्ञानिक आविष्कारों तथा नवीन सामाजिक दर्शन से अनुप्रेरित थीं, किन्तु वे गम्भीर संशय उत्पन्न करनेवाली हैं। यदि हम मान भी लें कि प्रकृति में और समाज में अपनी निजी व्यवस्था है और उपन्यासकार फोटोग्राफर की भाँति उसीको अंकित करता है तथा उसको अपनी ओर से नवीन व्यवस्था आरोपित करने का अधिकार नहीं है, तब भी कतिपय कठिनाइयाँ सामने आती हैं। निरूपण की क्रिया परिवर्त्तन की धात्री है, चाहे अन्तर कम हो अथवा अधिक। जब फोटोग्राफर छायाचित्र खींचता है तब वह यथार्थ की प्रतिकृति-मात्र नहीं तैयार करता। प्रत्येक छायाचित्र का एक विशिष्ट विन्यास होता है, उसकी अपनी पृष्ठभूमि होती है और जो दृश्य वह प्रस्तुत

करता है, वह स्थिर एवं सीमाओं में बँधा होता है। यथार्थ इससे बिलकुल भिन्न है। इसी प्रकार साहित्य-निरूपण और यथार्थ में अन्तर अनिवार्य है। निरूपण-सामग्री को शैली में निबद्ध करता है।

"Realism is a stylized picture of reality. It is reality put within a frame-work."

ये सभी उक्तियाँ यथार्थवादी कला और यथार्थ जीवन की विभिन्नता की सूचना देती हैं। सामान्यतः, यह मानने में आपत्ति नहीं हो सकती कि यथार्थ की अभिव्यक्ति में अभिरुचि और कल्पना सक्रिय रहती हैं। सामग्री के चयन तथा उसकी नियोजना में कल्पना अनिवार्यरूपेण अपेक्षित होती है। हम आगे देखेंगे कि रूपहीन कला का आदर्श अग्राह्य है। क्योंकि रूप-तत्त्व को हम बिलकुल छोड़ नहीं सकते। बिना इच्छा और कल्पना के रूप की सृष्टि नहीं हो सकती। अतः मानना पड़ेगा कि यथार्थ निरूपण तथा यथार्थ जीवन के बीच किसी अंश में कल्पना की मध्यस्थता अनिवार्य है। फिर भी, इतना तो स्पष्ट ही है कि यथार्थवाद में कल्पना का वह महत्त्व नहीं है, जो आदर्शवाद में।

यथार्थवादी साहित्यिक व्यवस्था में यथार्थ जीवन और उसके प्रत्यक्ष अनुभवों का विशेष महत्त्व है, यह तो निर्विवाद है। उसमें कल्पना उसी अंश तक समाविष्ट होती है, जितना अनिवार्य है। लेखक की चेष्टा यही होती है कि वह यथातथ्य निरूपण करे, यद्यपि कला के माध्यम तथा कतिपय अन्य परिस्थितियों से अंश रूप में वह कल्पना से सहायता लेने लिए बाध्य हो जाता है। अतः अपने विशुद्ध रूप में यथार्थवादी साहित्य वस्तुपरक होता है एवं तथ्य-निरूपण का अभिप्राय मूल प्रेरणा बनकर काम करता है। यथार्थवाद का यह विशुद्ध रूप, फ्रांसीसी, अँगरेज तथा अमेरिकी प्रकृतिवादियों की रचनाओं में दिखाई पड़ता है। किन्तु संसार के यथार्थवादी साहित्य के निरीक्षण से यह पता चलता है कि आदर्श और काल्पनिक अनुरंजन सदा यथार्थ के साथ मिश्रित होने के लिए सचेष्ट रहते हैं। हम इस बात की ओर संकेत कर चुके हैं कि यथार्थ जीवन के अनुभवों को हम बहुत देर तक कल्पना से पृथक् नहीं रख सकते। मानव-मन की विभिन्न प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे से इतनी मिली-जुली रहती हैं कि एक के जागने पर अन्य प्रवृत्तियाँ भी सचेष्ट होने लगती हैं। ऐसा कम होता है कि मन का एक भाग सक्रिय हो और अन्य भाग नितान्त जड़ बने रहें। अतएव यथार्थ के साथ कल्पना का सम्मिश्रण हमें चकित नहीं करता। विशिष्ट यथार्थवादियों की कृतियों में यह सम्मिश्रण मिलता है और अत्यन्त आकर्षक प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, हम बालजाक अथवा प्रेमचन्द के उपन्यासों को ले सकते हैं। इसी को आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहते हैं। कल्पना यथार्थ को किस प्रकार अपने रंग में रँग देती है, यह देखने के लिए हम डिकेन्स, तुर्गनेव और गाल्सवर्दी के उपन्यासों का अध्ययन कर सकते हैं। आदर्शोन्मुख अथवा कल्पना-सम्पृक्त यथार्थवाद का सीधा विरोध उस प्रणाली से है, जिसके अन्तर्गत वैज्ञानिक पद्धति पर तथ्यों का निरीक्षण एवं निरूपण होता है। आदर्श और कल्पना के पुट उसके लिए निष्प्रयोजन एवं अनर्गल सिद्ध होते हैं, नैतिकता अथवा आदर्शवादिता का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार के आत्यन्तिक यथार्थवाद के अनुयायियों

का विश्वास है कि वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में कुरूपता और अश्लीलता ही सत्य है, शेष सब कुछ काल्पनिक, मनगढ़न्त । इसी धारणा के कारण घोर यथार्थवादियों ने साहित्य में अश्लीलता की हिमायात की है और उनकी रचनाओं में अनेक ऐसे स्थल मिलते हैं, जो शालीन अभिरुचिवालों के लिए असह्य मालूम पड़ते हैं। जब कभी साहित्य में अश्लीलता का प्रकाशन होता है अथवा विचारकों द्वारा उनका समर्थन किया जाता है, तब यही बात दुहराई जाती है कि जीवन का गर्हित पक्ष ही सत्य है और साहित्य का एकमात्र कार्य है वास्तविकता का निरूपण।

शिल्प-विधान की दृष्टि से यथार्थवाद के अन्तर्गत दिक्-काल का कैसा उपयोग होता है, यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है। यथार्थवादी अभिव्यक्ति में तात्कालिकता होती है, अर्थात् जो कुछ हमारे निकट है, वह हमारे मन के लिए सरलता से यथार्थ बन जाता है। इसके अतिरिक्त दूरस्थ पदार्थों और व्यक्तियों की यथार्थ प्रतीति कठिनाई से होती है। इसलिए अधिकांश यथार्थवादी साहित्य समसामयिक परिस्थितियों और घटनाओं को चित्रित करता है और पृष्ठभूमि ऐसी होती है, जिससे लेखक और पाठक भलीभाँति परिचित रहते हैं। लेखक अपनी कृतियों में जानकारी के साथ एवं अधिकारपूर्वक जिन समकालीन तथा निकटवर्त्ती तथ्यों को व्यवहृत करता है, वे अध्ययन अथवा प्रेक्षण द्वारा सहृदय के मानस-पटल पर निरन्तर उभरते जाते हैं। जो देश और काल में हमसे दूर है, उसमें हमारी कल्पना रमती है और उससे स्वच्छन्दतावादी अनुभूतियों की सृष्टि होती है। वर्ड्सवर्थ की प्रसिद्ध पंक्ति है :

Old unhappy far off things,
And battles long ago.

इसमें देश और काल की दूरी सुन्दरतापूर्वक अभिव्यक्त हुई है, अतः कल्पना को प्रेरणा मिलती है। सामान्यतः तात्कालिकता एवं दिक्काल में समीपवर्त्ती होना यथार्थवाद के सहायक हैं, किन्तु यथार्थवाद का ऐतिहासिक रूप भी होता है, जिसमें प्राचीन युगों को साकार बना दिया जाता है। हम उसकी चर्चा आगे चलकर करेंगे।

यथार्थवादी साहित्यिक निरूपण में डिटेल्स, अर्थात् सूक्ष्म एवं विस्तृत विवरणों से बड़ी सहायता मिलती है। सूक्ष्म एवं नगण्य तथ्यों और तिथियों द्वारा चित्रण को पूर्ण और विश्वसनीय बनाया जाता है। विवरणों द्वारा पाठक का विश्वास जगाया और तृप्त किया जाता है। एक उदाहरण ले लीजिए। किसी स्थान-विशेष अथवा घटना-विशेष से सम्बद्ध यदि केवल थोड़ी-सी सामान्य बातें कही जायँ तो वृत्तान्त न तो स्फुट होगा और न सुननेवाले अथवा पढ़नेवाले का विश्वास ही पूरी तरह जमेगा। छोटे-छोटे तथ्यों के प्रचुर उपयोग द्वारा चित्रण समृद्ध बनता है और मन की शंकाएँ मिट जाती हैं। इसलिए सभी सफल यथार्थवादी लेखकों ने किसी स्थान, काल, वर्ग-विशेष की बहुत-सी छोटी-छोटी बातों को लेकर अपने निरूपण को सफल बनाया है। सूक्ष्म निरीक्षण एवं साधारण तथ्यों के उपयोग में सक्षम होना यथार्थवादी लेखक के लिए परमावश्यक होता है। वह अपने चित्रण में केवल रेखाएँ नहीं खींचता, वरन् विवरणों से सारे स्थान को भर देता है। यह

विवरण उसके प्रमाण हैं और प्रमाण द्वारा ही आस्था सुदृढ़ होती है। प्रमाण के अन्य साधन भी वह काम में लाता है, जैसे पत्र, दैनन्दिनी के पन्ने आदि। इस प्रकार का दस्तावेजी सबूत, डॉक्युमेण्टेशन, यथार्थवादी निरूपण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है और अनेक उपन्यासों और कहानियों में उसका सफल उपयोग किया गया है।

यथार्थवादी रचनाओं में स्थानीय वातावरण (Local colour) निर्माण करने की की प्रवृत्ति देखी जाती है। स्थानीय वातावरण आंचलिकता से कुछ भिन्न है। उसमें प्राकृतिक शक्तियों, वंश-परम्परा आदि का उतना विस्तृत एवं विशद उपयोग नहीं होता, जितना आंचलिक निरूपण में। प्रकृति के प्रत्यक्ष स्वरूप, प्रचलित प्रथाओं और विश्वासों, जनसाधारण के कार्य और संवाद आदि की सहायता से स्थानीय वातावरण का विधान होता है। किपलिंग तथा कुछ अमरीकी उपन्यास-लेखकों में उसके अच्छे उदाहरण मिलते हैं। स्थानीय वातावरण की व्यवस्था में जन-साधारण में प्रचलित बोलियों, डायलेक्ट्स का विशेष स्थान होता है। यथार्थवादी उपन्यास और नाटकों में जन-बोलियों का समावेश निःसंकोच किया जाता है; क्योंकि वे यथार्थ जीवन में व्यवहृत होते हैं और उनके समावेश से साहित्यिक रचनाओं में यथार्थ की प्रतीति होने लगती है। विशेषकर निम्नवर्ग का संवाद जन-बोलियों के माध्यम द्वारा कराया जाता है। संस्कृत और उच्चशिक्षा-प्राप्त लोग पाठशालाओं में सीखी हुई परिष्कृत भाषा बोलते हैं, किन्तु जनता की भाषा अपना स्वाभाविक स्वरूप बनाये रखती है और उसमें सामान्य जनों का विचार-विनिमय होता है।

यथार्थ-निरूपण की जो विभिन्न पद्धतियाँ अभी तक स्वीकृत हो चुकी हैं, उनकी संक्षिप्त चर्चा यहाँ अपेक्षित है। सहज यथार्थवाद (Simple Realism) का उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष वस्तु-जगत् के दृश्यों और उनसे उत्पन्न अनुभूतियों के यथातथ्य निरूपण की स्वाभाविक इच्छा सहज यथार्थवाद में प्रतिफलित होती है। लेखक किसी सिद्धान्त से प्रेरणा प्राप्त नहीं करता, वह अपने विवेक तथा कलात्मक अभिरुचि पर ही निर्भर करता है। यद्यपि इस कोटि की रचनाओं में यदाकदा मध्यवर्गीय जीवन का चित्रण भी हुआ है, तथापि अधिकांश कृतियाँ निम्नवर्गीय सामान्य जीवन से सम्बद्ध होती हैं। १९वीं शताब्दी में आर्थिक और राजनीतिक कारणों से सामाजिक चेतना बलवती होने लगी और यथार्थवाद उसके प्रकाशन का सुलभ साधन था। यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि दलितों के प्रति सहानुभूति और सामाजिक न्याय की आकांक्षा ने सर्वत्र यथार्थवादी आन्दोलन को अनुप्राणित किया। फलतः सामाजिक यथार्थवाद का आविर्भाव हुआ, जिसके सर्वोत्कृष्ट उदाहरण फ्रांसीसी और रूसी साहित्य में मिलते हैं। बालज़ाक के उपन्यासों में दलित वर्ग के प्रति सहानुभूति और शोषकों के प्रति घृणा और क्षोभ एक साथ ही व्यक्त हुए हैं। रूसी विचारक बालिन्स्की ने समाज को एक सजीव और प्रगतिशील इकाई के रूप में देखा और उसकी समस्याओं को साहित्य का प्रमुख कथ्य माना। यूरोप के अन्य देशों में भी नवीन समाजवादी दर्शन का प्रचार और प्रसार हुआ, यद्यपि उसका स्पष्ट रूप उपर्युक्त दोनों देशों में ही देखने को मिलता है। प्रकृतिवाद (नेचुरलिज्म) के

प्रवर्त्तक ज़ोला में सामाजिक चेतना का अभाव न था। दलितों के प्रति सहानुभूति के कारण उन्हें कष्ट भी उठाना पड़ा और अपने सम्बन्ध में उन्होंने कहा है—I am a socialist with a small 's'; किन्तु ज़ोला की प्रमुख विशेषता है उनकी वैज्ञानिक प्रणाली। उनकी धारणा थी कि प्राकृतिक व्यवस्था अपने में सम्पूर्ण है। हम यह नहीं कह सकते कि उसमें क्रमहीन अराजकता है। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें, तो उसके रूप-रंग में अनुपात और नियमन पग-पग पर दिखाई पड़ेगा। प्रकृति स्वतः नियोजित है और उसपर किसी प्रकार की काल्पनिक योजना आरोपित करने की आवश्यकता नहीं है। लेखक को अपनी सामग्री के प्रति वहीं तटस्थ दृष्टिकोण रखना चाहिए, जो वैज्ञानिक अपने प्रयोगों में रखता है। प्रकृति और जीवन का निरपेक्ष निरीक्षण और चित्रण साहित्य का परम ध्येय है, यही प्रकृतिवादियों की मूल स्थापना है। ज़ोला के लेखों से निम्नलिखित दो उद्धरण विषय-विवेचन को स्पष्ट कर देंगे :

(I) "The experimental novel is a result of the scientific development which has occurred in this country; it is a continuation and complement to the science of physiology which in turn depends upon chemistry and physics; it substitutes for the study of man as an abstraction, man as a metaphysical entity, the study of the natural man, man as the subject of physico-chemical laws; a being determined by the influences of his environment."

(II) "What matters most to me is to be purely naturalistic, purely physiological. Instead of having principals (royalism, catholicism) I shall have laws (heredity, atavism)....I am satisfied to be a scientist, to tell of that which exists while seeking the underlying reasons....A simple exposure of the facts of a family by showing the interior mechanisms which direct them."

ज़ोला में सामाजिक चेतना का अभाव न था, किन्तु उन्होंने समाज की गति, उसकी प्रगतिशीलता का यथेष्ट उद्घाटन नहीं किया। फोटोग्राफी के कैमरा तथा प्रयोगशाला की विधियों की उनपर इतनी गहरी छाप थी कि उन्होंने जीवन को उसके स्थिर रूप में ही मुख्यरूपेण देखा। यदि उसकी गतिशीलता पर वे अधिक जोर देते, तो यथातथ्य निरूपण की जो पद्धति उन्होंने अपनाई थी, वह फलवती न होती। सामाजिक विकास की गतिशील प्रतिक्रिया को सबसे अधिक महत्त्व मार्क्स तथा उनके साम्यवादी अनुगामियों ने दिया। उन्होंने इतिहास की एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत की तथा अपने भौतिकवादी द्वन्द्वात्मक दर्शन की आधारशिला पर साम्यवादी यथार्थ की घोषणा की। इतिहास सीधी रेखा में अग्रसर नहीं होता, अपितु द्वन्द्वों और उनके समाधान द्वारा ही वह आगे बढ़ता है। वर्ग-संघर्ष और उसका निराकरण, यही क्रम चलता रहेगा, जबतक वर्गहीन समाज का आविर्भाव नहीं होता। इन्हीं विश्वासों और स्थापनाओं की बुनियाद पर साम्यवादी यथार्थवाद का सर्जन

हुआ है। उसमें इतिहास, अर्थशास्त्र, भौतिकविज्ञान और सामाजिक दर्शन का संघात मिलता है। उसके क्षेत्र से अपूर्व आदर्शवादी तत्त्व निकाल दिये गये हैं। मार्क्स स्वयं प्रत्यक्ष वस्तु-जगत् को ही सत्य मानते थे और मानसिक प्रत्ययों को विशेष महत्त्व नहीं देते थे।

प्रत्यक्ष दृश्यों तथा अनुभवों से यथार्थ का तादात्म्य माननेवाले सभी युगों में हुए हैं, इसलिए यथार्थवाद अपने सामान्य रूप में प्रत्यक्ष यथार्थ का कलात्मक निरूपण है। किन्तु, यथार्थ की कल्पना दिन-पर-दिन अधिकाधिक विस्तृत होती जा रही है। उदाहरणार्थ, इतिहास और साहित्यिक रचना का निकट-सम्बन्ध अब स्वीकृत किया जाता है। अब यह सामान्य धारणा है कि साहित्य के विविध रूप और उनकी विशेषताएँ समकालीन ऐतिहासिक एवं सामाजिक परिस्थितियों से निर्धारित होती हैं। इतिहास में अनेक युग हुए हैं; जैसे प्राचीन युग, मध्य युग, आधुनिक युग आदि। ऐसे ही समाज अपने आर्थिक विकास-क्रम में आदिम साम्यवाद से सर्वहारा के अभ्युदय तक निम्न अवस्थाओं से होकर गुजरा है। साहित्य में इन्हीं ऐतिहासिक एवं आर्थिक और सामाजिक अवस्थाओं का प्रकाशन होता है। इस प्रकार देखने से यह बात सिद्ध होती है कि साहित्य का मूल सदैव यथार्थ परिस्थिति और परिवेश में निबद्ध रहता है। ऐसे साहित्य की कल्पना करना, जो इतिहास और सामाजिक प्रभावों से विच्छिन्न होकर किसी दूरस्थ स्वप्नलोक में अवस्थित हो, केवल प्रवंचना-मात्र है। इस प्रकार का मनगढन्त साहित्य यदि हो भी तो, क्षणिक मनोरंजन के अतिरिक्त उसका और कोई प्रयोजन नहीं होगा। ऐतिहासिक तथ्यों की ही अभिव्यक्ति किसी-न-किसी प्रकार साहित्य में होती है। यहाँ हम इतिहास को उसके उस विस्तृत अर्थ में ले रहे हैं, जिसके अन्तर्गत सभी आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक शक्तियों एवं प्रभावों का सन्निवेश हो जाता है। ऐतिहासिक यथार्थवाद का एक अपेक्षाकृत संकुचित अर्थ भी है। कतिपय कृतियों में इतिहास का सीधा उपयोग किया जाता है, अर्थात् इतिहास के किसी काल-विशेष, किसी परिस्थिति-विशेष, अथवा किसी घटना-विशेष का यथार्थ निरूपण होता है। विश्व-साहित्य में ऐसे अनगिनत ग्रन्थ हैं, जिनमें बीते हुए युगों का चित्र खींचा गया है और उनको साकार करने का प्रयास हुआ है। ऐतिहासिक तथ्य लेखक से देश और काल में दूरस्थ होते हैं, अतएव उनका सफल यथार्थवादी निरूपण कठिन होता है और प्रतिभावान् लेखक ही उसे सम्पन्न कर पाते हैं। इतिहास की यथार्थ अभिव्यक्ति यही है। कुछ बातें अनिवार्यरूपेण अपेक्षित होती हैं। लेखक को इतिहास का गम्भीर ज्ञान होना चाहिए। जिस युग-विशेष से उसका सरोकार है, उसके इतिहास में तो उसे पारंगत होना ही चाहिए। केवल मोटी-मोटी बातों से काम न चलेगा। उसे तो छोटे-बड़े सभी प्रकार के विवरणों का ज्ञान अर्जित करना पड़ेगा। इतिहास के निश्चित तथ्यों के अतिरिक्त किंवदन्तियों और लोकश्रुतियों से भी बड़ा काम चलता है। तत्कालीन जनता के व्यवहार और विकासों, उसकी अभिरुचि और अन्धविश्वासों आदि का ज्ञान अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। लेखक निष्ठापूर्वक प्राचीन ग्रन्थों और अभिलेखों से प्रमाण एकत्र करता है; क्योंकि ऐतिहासिक यथार्थवाद के लिए डॉक्युमेण्टेशन की आवश्यकता सदैव पड़ती है। उपयुक्त साधनों की सहायता से लेखक, जो प्राचीन और दूरस्थ है, उसे भी मानस-प्रत्यक्ष

बना देता है। ऐसा मालूम होता है कि बीती हुई बात हमारे लिए अपरिचित नहीं है, वह स्फुट होकर हमारे सामने साकार हो उठती है।

पिछले पचास वर्षों में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद ने विशेष उन्नति की है। नवीन मनोवैज्ञानिक स्थापनाओं ने उसके लिए मार्ग तैयार किया है और बर्गसाँ आदि कतिपय दार्शनिकों के चिन्तन से उसे शक्ति और समर्थन प्राप्त हुआ है। फ्रांस और इंगलैण्ड में मनोविज्ञान को आधार मानकर अनेक साहित्यिक कृतियों का सर्जन हुआ है और फलतः मानसिक व्यापारों और अवस्थाओं से सम्बन्धित साहित्य की नई कोटि बन गई है। मनोवैज्ञानिक यथार्थवादियों की मौलिक स्थापना है कि केवल भौतिक और दृश्य पदार्थमात्र यथार्थ नहीं होते। कुछ बातों में उनसे भी कहीं अधिक वास्तविक एवं सत्य हमारी मानसिक क्रियाएँ और अवस्थाएँ होती हैं। इन सूक्ष्म विचारों और अनुभूतियों को हम ज्ञानेन्द्रियों द्वारा वैसे ही नहीं ग्रहण करते, जैसे बाह्य वस्तुओं को। किन्तु उनकी प्रतीति, उनका ज्ञान, तो सम्भव है, कभी अन्तर्निरीक्षण द्वारा और कभी व्यवहार-विश्लेषण द्वारा। हमारे सुषुप्त और जाग्रत् अवस्था के स्वप्नों में हमारे अन्तरतम में निहित विचार और भाव प्रकट होते रहते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान ने चेतन, अवचेतन और अचेतन मन के बारे में ऐसी नई बातें खोज निकाली हैं, जिनकी जानकारी मन को चकित कर देती है। मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद इसी नवीन आधारभूत ज्ञान को साहित्य में निबद्ध करता है। चेतना-धारा (Stream of Consciousness) सतत प्रवहमाण रहती है और उसका ऊपरी धरातल ऊर्मियों और बड़ी लहरों से सदैव आलोड़ित होता रहता है। जीवन के बाह्य दैनिक व्यापार आन्तरिक चेष्टाओं और क्रियाओं की तुलना में नगण्य प्रतीत होने लगते हैं। हम अपने मानस-सागर पर निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं और हमारा पोत वासनाओं के प्रबल आघात से इधर-उधर चलता रहता है। कभी काम-वासना प्रबल होकर उसे गति देती है, तो कभी लोभ, द्वेष आदि से वह परिचालित होता है। विशाल मानस-महोदधि में तूफान उठा करते हैं, कभी ज्वार उठता है, तो कभी लहरें वापस लौटती हुई दिखाई देती हैं। शान्त क्षणों में लघु लहरें अठखेलियाँ करती रहती हैं। कुछ लोगों ने ल्युमिनस मोमेण्ट्स, अर्थात् आलोकित क्षणों की बातें कही हैं। इन्हीं प्रदीप्त बिन्दुओं के सहारे हम आगे बढ़ते हैं। मानस-लोक का अपना कार्य-कारण-विधान है। हमारे भीतर जो कुछ भी घटित होता है, उसका अपना नियम है और बाह्य जगत् के नियमों को हम उसपर आरोपित नहीं कर सकते। इन्हीं मूलभूत धारणाओं पर मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद आधृत है। मन में जो भाव और विचार उठते हैं, उनको बिना घटाये अथवा बदले हुए साहित्य में निरूपित करना यही अभीष्ट है। साहित्यकार मन का मानचित्र खींचता है, जिसमें वह रंग भर, विभिन्न क्रियाओं और अवस्थाओं का द्योतन करता है। वह निरपेक्ष द्रष्टा है तथा ईमानदार चित्रकार। न तो वह भावनाओं को दबाता है, न नैतिक कारणों से उनका उदात्तीकरण करता है, और न अपनी ओर से कोई नया अर्थ जोड़ता है। मानसिक तत्त्वों के यथातथ्य निरूपण का प्रयास ही मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की प्रमुख विशेषता है।

मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद से सम्बद्ध दो अन्य सिद्धान्तों के बारे में भी यहीं कुछ कह देना ठीक होगा। एक्सप्रेसनिज्म, अर्थात् अभिव्यंजनावाद चित्रकला और काव्य के क्षेत्र में आन्दोलन बनकर प्रकट हुआ है। क्रोचे के अभिव्यंजनावादी दर्शन की व्याख्या हम अन्यत्र करेंगे। यहाँ हमारा मुख्य प्रयोजन उस अभिव्यंजनादी आन्दोलन से है, जो पिछले चालीस-पचास वर्षों में यूरोप और अमरीका में सक्रिय रहा है। अभिव्यंजनावादियों का सर्वाधिक आग्रह इस बात पर है कि मानसिक अनुभूतियों और क्रियाओं की बिल्कुल सीधी अभिव्यक्ति हो। बीच में आनेवाले व्यवधान यथासम्भव मिटा दिये जायँ। जर्मन चित्रकला और नाट्य-साहित्य तथा कतिपय अमरीकी नाटकों में अभिव्यंजनावादी प्रयास के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। अमरीका में दर्शकों की सुविधा के लिए रंगमंच पर चलचित्रों का प्रयोग होता है। चित्रपट पर मानसिक क्रियाओं का संकेत प्रस्तुत किया जाता है और अभिनय करनेवाले उन्हीं के अनुरूप रंगमंच पर व्यवहार करते हैं। चित्रकला में रूपविन्यास की चेष्टा सीधी अभिव्यक्ति के मार्ग में बाधक मानी जाती है। इसीलिए अभिव्यंजनावादी चित्र हमें कुछ अजीब-से मालूम पड़ते हैं। वे टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ, वे कोण और वर्ग मानसिक क्रियाओं की सीधी अभिव्यक्ति के प्रतीक बनकर आते हैं। अति यथार्थवादी आन्दोलन में भी कुछ ऐसी ही धारणा काम करती है, किन्तु उसमें स्वप्न और स्वप्न-लेखन का विशेष महत्त्व है। मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद और उससे भी कहीं अधिक अभिव्यंजनावाद और अतियथार्थवाद (सुपररियलिज्म) यथार्थमूलक होने पर भी प्रतीकों से काम लेते हैं। अतः उनका सम्बन्ध केवल यथार्थवाद से ही नहीं, वरन् प्रतिकवाद से भी है। दोनों, अर्थात् यथार्थवाद और प्रतीकवाद में किससे उनका निकटतर सम्बन्ध है, यह कहना कठिन है।

आधुनिक यथार्थवादियों ने विशेषकर साम्यवादी यथार्थवाद के अनुयायियों ने साहित्य में रूप-विन्यास की आवश्यकता को अमान्य घोषित किया है। रूपवादियों की उन्होंने कटु आलोचना की है—यद्यपि रूप की कल्पना प्राचीन ही नहीं, वरन् एक प्रकार से अनिवार्य है। प्राच्य और पाश्चात्य अध्यात्मदर्शन में समान रूप से यह विश्वास निहित है कि ईश्वर सृष्टि का निर्माण किसी निश्चित रूपविधान को ध्यान में रखकर करता है। इस भाँति प्राचीन काल से यह विश्वास चला आया है कि प्रकृति में जो व्यवस्था और सुन्दरता मिलती है, वह आकस्मिक नहीं, वरन् पूर्वनिर्धारित योजना के अनुसार उद्भूत है। प्लेटो का रूपवादी मत सुविख्यात है। आइडिया अर्थात् आदर्शवादी रूप की सत्ता को वह मानव-चिन्तन और अनुभूतियों तथा भौतिक जगत् से उच्चतर स्थान प्रदान करता है। ये सब उसी आदर्श प्रत्यय का यथासम्भव अनुकरण करते हैं। अरस्तू ने रूप का सम्बन्ध मानव-मन से माना है। वस्तु निर्माण की सामग्री है और रूप से ही निर्माण-कार्य सम्पन्न होता है। रूप-सम्बन्धी परवर्त्ती यूरोपीय चिन्तन पर अरस्तू के विचारों की गहरी छाप है। आधुनिक काल में रूप और अर्थ, आन्तरिक रूप-विन्यास, संगठन, व्यवस्था आदि की बात कही जाती है, तब अरस्तू की स्थापनाओं की याद अनायास आ जाती है। १९वीं शताब्दी के अन्त और २०वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में फ्रांस, इटली, रूस आदि में रूपवादियों

( फॉर्मलिस्ट्स ) का बड़ा जोर था और प्रगतिशील यथार्थवादियों ने उनका घोर विरोध किया। रूपवादी कला-दर्शन अपना ध्यान मुख्य रूप से सौन्दर्य-तत्त्व एवं निर्माण-सौष्ठव पर केन्द्रित करता है। वह अंगांगी-विधान, संगति, सन्तुलन, लय और भार-साम्य को विशेष महत्त्व देता है; क्योंकि उन्हीं के द्वारा रूप की सत्ता प्रकट होती है। यह तो स्पष्ट ही है कि इस प्रकार के रूप-निर्माण में कर्त्ता की मानसिक क्रियाओं का हाथ रहता है। रूप किसी-न-किसी अंश में बाहर से आरोपित होता है, यद्यपि आधुनिक विचारधारा में उसके आन्तरिक विन्यास पर अधिकाधिक बल दिया जा रहा है। हम कह आये हैं कि यथार्थवादी आरोपित रूप-व्यवस्था को अस्वीकार करते हैं तथा यह मानते हैं कि जो व्यवस्था निसर्ग और समाज में स्वतः विद्यमान है, उसके अतिरिक्त किसी कल्पित रूप-व्यवस्था को ऊपर से जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं होती। उनका विशेष प्रयोजन समाज और उसकी प्रगतिशील शक्तियों से है, अतः यथार्थवाद के आधुनिकतम रूपों में रूप के स्थान पर गति को महत्त्व दिया जाता है; प्रगति की धारणा अत्यन्त आकर्षक है; क्योंकि उसमें जीवन्त उपकरणों का प्रकाशन होता है; किन्तु सौन्दर्य की कल्पना भी मानव-स्वभाव में बद्धमूल है और सौन्दर्य एवं रूप को हम भिन्न नहीं मान सकते। यथार्थवादियों और रूपवादियों का झगड़ा अत्यन्त गम्भीर समस्याओं को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। न तो हम गति का ही परित्याग कर सकते हैं और न रूप-विन्यास को ही नगण्य मान सकते हैं। दोनों में समन्वय हो सकता है और ऐसा करने से ही सन्तुलित कला-दर्शन प्राप्त होगा।

साहित्य-निर्माण में व्यक्ति और समाज के सापेक्ष महत्त्व का प्रश्न भी इसी से मिलता-जुलता है। समस्या यह है कि साहित्य-रचना में कवि की प्रतिभा का अधिक मूल्य है अथवा सामाजिक शक्तियों और परिवेश का। आधुनिक जगत् में सामाजिक शक्तियों का प्रभाव कितना गहन और विस्तृत हो गया है, यह तो सर्वविदित है। इसके अतिरिक्त हम लेखक तथा उसकी प्रतिभा को समाज से पृथक् नहीं कर सकते। मानसिक चेष्टाएँ निरन्तर सामाजिक आदर्शों और प्रवृत्तियों के अनुरूप बदलती रहती हैं। लेखक के सामाजिक उत्तरदायित्व की गम्भीरता भी दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है। स्वान्तःसुखाय लिखनेवाले अब कौतूहल के विषय बन गये हैं और केवल दूसरों के मनोरंजन के निमित्त साहित्य-सर्जन करनेवाले आदर नहीं पाते। यह धारणा अधिकाधिक स्वीकृति पा रही है कि आनन्द प्रदान करने के अतिरिक्त साहित्यकार समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह भी करता है। उपर्युक्त सभी बातों को मान लेने पर भी यह तो निर्विवाद सत्य है कि साहित्य का कर्त्ता अथवा निर्माता व्यक्ति ही है। बिना उसकी प्रतिभा के साहित्य-सर्जना असम्भव हो जाती है। किन्तु लेखक और उसकी प्रतिभा को सब कुछ मान लेने पर साहित्य-जगत् में अराजकता का भय भी उत्पन्न हो जाता है।

सभी साहित्यक विधाओं में यथार्थ-निरूपण-शैली व्यवहृत हुई है; किन्तु कविता की अपेक्षा कथा-साहित्य में उसका प्रयोग अधिक हुआ है। कविता का सीधा सम्बन्ध मानव की मूल प्रवृत्तियों से है, इतना तो काडवेल प्रभृति मार्क्सवादी समीक्षक भी मानते हैं,

यद्यपि उनका विचार है कि उसका विकास आर्थिक एवं सामाजिक प्रभावों के फलस्वरूप हुआ। कथा-साहित्य का सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों से निकटतम सम्बन्ध है। उपन्यास का जन्म ही सामाजिक कारणों से हुआ है और उसमें सामाजिक अवस्थाओं की अभिव्यक्ति का प्रयास निरन्तर होता आया है। कविता मुख्य रूप से आत्मनिष्ठ होती है और उपन्यास में वस्तुनिष्ठ सामाजिक चित्रण की प्रेरणा अनिवार्य रूप से काम करती रहती है। काल्पनिक कथाओं को हम केवल रोमान्स-मात्र कहकर उपन्यास से पृथक् कर देते हैं। निरूपण-शैली में उपन्यास नाटक की अपेक्षा कहीं अधिक स्वतन्त्र है। उपन्यास की सीमा के भीतर जीवन की प्रभूत सामग्री अधिक संकोच अथवा परिवर्त्तन के बिना निबद्ध की जाती है। कभी-कभी यथार्थ का आग्रह अथवा चाप इतना प्रबल होता है कि कथा की सीमा-रेखाएँ विनष्ट होने अथवा धुँधली पड़ने लगती हैं। वे रेखाएँ बनती और बिगड़ती रहती हैं, यह भी उपन्यास के उन्मुक्त रूप और अपेक्षाकृत अनियन्त्रित निरूपण-शैली का द्योतक है। यथार्थ की यथासम्भव यथातथ्य अभिव्यक्ति होती है; क्योंकि अन्य विधाओं की तुलना में रूढ़ियों और बन्धनों की कमी रहती है। यहाँ तक कि एक विचारक ने उपन्यास की तुलना राजमार्ग पर स्वतः परिचालित एक ऐसे विशाल दर्पण से की है, जिसमें आसपास के दृश्य निरन्तर प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। उपन्यास और लोक-जीवन के निकटतम सम्बन्ध पर आधुनिक मार्क्सवादी समीक्षकों ने काफी बल दिया है। विभिन्न प्रकार के उपन्यासों की रूपगत विशेषताओं को उन्होंने सामाजिक प्रभावों के आघात-प्रत्याघात के आधार पर समझाने की चेष्टा की है तथा कथा में निबद्ध मूलभूत विचारों की समाजवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। ऐसे विचारक भी हैं, जो उपन्यास, उसके स्वभाव और स्वरूप का निर्धारण पाठकों की अभिरुचि के सहारे करते हैं। उपन्यासों का पाठक-समुदाय बढ़ता जा रहा है और उसकी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए उपन्यास का कलेवर भी कुछ-न-कुछ बदलता ही रहता है। उपन्यास के अनेक यशस्वी यथार्थवादी प्रणेता हुए हैं। ज़ोला, मोंपासा, आर्नल्ड बेनेट, सिनक्लेयर, लीविस आदि की रचनाओं में यथार्थ-निरूपण का प्रकृतिवादी विधान देखने में आता है। बालज़ाक, फ्लाबर्ट तुर्गनेव, टालसटाय, एच० जी० वेल्स आदि में यथार्थ-निरूपण के साथ सहानुभूति, आदर्शवादिता आदि का सम्मिश्रण तथा कहीं-कहीं कल्पना का संस्पर्श भी मिलता है। इनके अतिरिक्त फील्डिंग, स्मालेट, जेन आस्टेन आदि के उपन्यासों में यथार्थ-निरूपण की सहज प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

नाटक में यथार्थ-निरूपण की समस्या अधिक उलझी हुई है। ब्रुनेटियर के इस मत की चर्चा हम कर आये हैं कि कथा-वर्णन और दृश्य-वर्णन के लिए उपन्यास ही उपयुक्त होता है—नाटक में तो नायक की इच्छाशक्ति और प्रतिकूल परिस्थितियों के संघर्ष की अभिव्यक्ति होती है। इसके अतिरिक्त नाटक में कॉनवेन्शन्स, रूढ़ियों, का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। उनके बिना न तो नाट्य-रचना सम्भव हो सकती है और न नाट्य-अभिनय। आकार की दृष्टि से नाटक देश और काल की सीमाओं में बँधा रहता है, चाहे अन्वितियों का नियम उसपर लागू हो अथवा नहीं। उसमें वस्तु-विन्यास की व्यवस्था प्रत्यक्ष होती है,

इसीलिए कहते हैं कि अभिनय की दृष्टि से भी नाटक की सीमाएँ निर्धारित होती हैं; क्योंकि अभिनेता और प्रेक्षक दोनों के ही पास न तो असीम शक्ति होती है और न अनन्त समय। इतना होने पर भी नाट्य-परम्परा में यथार्थ-निरूपण का अभाव नहीं है। पाश्चात्त्य नाट्य-समीक्षा में यह बात अनेक बार दुहराई गई है कि नाटक जीवन की अनुकृति है। शेक्सपियर ने स्वयं कहा है कि नाटक जीवन का मुकुर है। इन कथनों का क्या अर्थ है, हम एक पिछले अध्याय में बता आये हैं। मूलत: यथातथ्य निरूपण से उतना प्रयोजन नहीं है, जितना सार्थक अभिव्यक्ति से। किन्तु, नाट्य-भ्रान्ति की अपेक्षा की जाती है और नाट्य-भ्रान्ति ड्रैमेटिक इल्युजन, यथार्थ भ्रान्ति, रियलिस्टिक इल्युजन का ही एक रूप है। नाट्य-भ्रान्ति के क्षणों में जो सत्य है, केवल अनुकरण-मात्र है, वह सत्य प्रतीत होने लगता है। इसी को तो रियलिस्टिक इल्युजन, वेरीसिमिलीट्यूड कहते हैं। तब भी रूढ़ियों का प्रश्न नाटक के प्रसंग में विशेष महत्त्व रखता है। यथार्थ-निरूपण में उसका परित्याग नहीं किया जा सकता। देखिए, इस सम्बन्ध में ड्राइडेन ने क्या कहा है :

"A play as I have said, to be like nature, is to be set above it, as statues which are placed on high are made greater than the life, that they may descend to the sight in their just proportion."

पिछले ७०-८० वर्षों में यूरोपीय नाट्य-साहित्य में यथार्थवाद ने पर्याप्त उन्नति की है। इब्सेन के प्रभाव से यूरोप के प्राय: सभी देशों में नाटकों में यथार्थ-निरूपण की प्रवृत्ति बलवती हुई। अमरीका में भी अनेक उत्कृष्ट यथार्थवादी नाटक लिखे गये। धीरे-धीरे चलचित्रों ने यथार्थवादी नाटकों की प्रगति में बाधा उत्पन्न की। यथार्थ-निरूपण में नाटक सिनेमा से होड़ नहीं लगा सकते। अत: पिछले दो-तीन दशाब्दों में यथार्थवादी नाटकों का प्रचलन घटा है और काव्य-नाट्य ने शक्ति और लोकप्रियता प्राप्त की है। यदि नाटक, सिनेमा की प्रतियोगिता से अपने अस्तित्व को बचाना चाहता है, तो उसे काव्य-नाट्य का मार्ग ग्रहण करना होगा।

# एकादश अध्याय

## काव्य-कला का स्वायत्त्व

हम बता चुके हैं कि १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न होने लगी। स्वच्छन्दतावादी काव्य की कड़ी आलोचना हुई और शेली ने सर्जनात्मक कल्पना के आधार पर उसका जोरदार समर्थन किया। सौं बो, मैथ्यू आर्नल्ड प्रभृति विद्वानों ने मानवतावादी दृष्टि अपनाई और प्राचीन शास्त्रीय सिद्धान्तों और नियमों की उपादेयता पर विशेष बल दिया। स्वच्छन्दतावाद के विरोध का यह भी एक रूप था। सबसे अधिक गम्भीर और सबल प्रतिक्रिया उस यथार्थवादी आन्दोलन के रूप में प्रकट हुई, जिसकी तह में नवीन वैज्ञानिक और दार्शनिक चिन्तन अपना कार्य कर रहा था। अब काव्य के भावात्मक पक्ष की अपेक्षा उसका नैतिक पक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण घोषित किया गया तथा कविता एवं आर्थिक और राजनीतिक जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध सर्वमान्य हो गया। नैतिक उद्देश्य को कला का अनिवार्य अभीष्ट मानकर १९वीं शताब्दी के अनेक कला-मर्मज्ञों ने अपनी धारणाओं को विज्ञापित किया। ऐसे लोगों में अँगरेज विचारक रस्किन अग्रगण्य थे।

१९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यूरोपीय काव्य और कला की जो अवस्था थी, उसी की प्रतिक्रिया में एक नवीन आन्दोलन उठ खड़ा हुआ, जो प्रायः ५०-६० वर्षों तक प्रगति करता रहा। इस नवीन आन्दोलन की प्रमुख स्थापना यह थी कि कला अथवा काव्य अपनी पृथक् और स्वतन्त्र सत्ता रखता है। वह राजनीति, अर्थशास्त्र अथवा नीतिशास्त्र किसी पर निर्भर नहीं करता है। व्यावहारिक जीवन में काव्य अपने उद्भव और विकास के लिए उपर्युक्त प्रभावों की आकांक्षा नहीं करता और न उनके बिना उसकी शक्ति क्षीण होती है। मानव-मन में सौन्दर्य-भावना का अस्तित्व एक निर्विवाद सत्य है और उसी की परितुष्टि के लिए कला का सर्जन होता है। अतः कला बाह्य नियमों से बाँधी नहीं जा सकती। उसके लिए सौन्दर्य और कला के अपने निजी नियम पर्याप्त होते हैं। कला से न तो वैयक्तिक और न सामाजिक नैतिक उत्थान अपेक्षित होता है। उसका एकमात्र प्रयोजन होता है आनन्द की सृष्टि। कला और काव्य से प्राप्त आनन्द अपना स्वतन्त्र वैशिष्ट्य रखता है, अतः उसकी तुलना हम अन्य साधनों द्वारा प्राप्त आनन्द से नहीं कर सकते। वही कला उत्कृष्ट है, जो आत्मनिर्भर रहकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता द्वारा उस विशिष्ट प्रकार के आनन्द की उपलब्धि कराती है, जिसकी चर्चा हम अभी कर आये हैं।

काव्य के स्वतन्त्र अस्तित्व और विशिष्ट प्रभाव के सम्बन्ध में हम नीचे ए० सी० ब्रैडले का एक लम्बा उद्धरण दे रहे हैं। जिस स्पष्टता से 'काव्य काव्य के लिए' सिद्धान्त का प्रतिपादन इस उद्धरण में किया गया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है :

"What then does the formula 'Poetry for poetry's sake' tell us about this experience ? it says, as I understand it, these things. First, this experience is an end in itself, is worth having on its own account, has an intrinsic value. Next, its poetic value is this intrinsic worth alone. Poetry may have also an ulterior value as a means to culture or religion because it conveys instruction or softens the passions or furthers a good cause; because it brings the poet fame or money or a quiet conscience. So much the better : let it be valued for these reasons too But its ulterior worth neither is nor can directly determine its poetic worth as a satisfying imaginative experience; and this is to be judged entirely from within. And to these two positions the formula would add, though not of necessity, a third, the consideration of ulterior ends whether by the poet in the act of composing or by the reader in the act of experiencing tends to lower poetic value. It does so because it tends to change the nature of poetry by taking it out of its own atmosphere. For its nature is to be not a part, nor yet a copy of the real world (as we commonly understand that phrase) but to be a world by itself, independent, complete, autonomous; and to possess it fully you must enter that world conform to its laws, and ignore for the time the beliefs, aims, and particular conditions which belong to you in the other world of reality."

'विशुद्ध कला', 'विशुद्ध काव्य', 'कला कला के लिए' आदि कथन १९वीं शताब्दी के पहले से ही मिलने लगते हैं। विशेषकर विक्टर कजिन्स के भाषणों में उक्त नाम कई बार दुहराये गये हैं और कला के स्वतन्त्र अस्तित्व की घोषणा की गई है। मूलतः तीन बातों पर निरन्तर बल दिया गया है, कला अथवा काव्य राजनीति, अर्थनीति, एवं नैतिक प्रतिमानों की अपेक्षा नहीं रखता, उसमें रूप-विधान का विशेष महत्त्व है, तथा उससे अनुपम आनन्द मिलता है, जो अपने में ही पूर्ण है। सन् १८३५ ई० में थियोफाइल गाटियर का प्रसिद्ध उपन्यास मैडम्वायसेले डी मौपिन प्रकाशित हुआ। इस रचना ने यौन-सम्बन्धों के स्पष्ट निरूपण के कारण बड़ी कुख्याति प्राप्त की, किन्तु कलात्मक विकास के इतिहास में उसका विशेष महत्त्व है। 'कला कला के लिए' आन्दोलन के घोषणा-पत्र के रूप में हम उपर्युक्त उपन्यास की भूमिका को ले सकते हैं, जिसमें लेखक ने अपनी प्रमुख धारणाओं का जोरदार समर्थन किया है। सन् १८५० ई० में गाटियर की कविताओं का संग्रह प्रकाशित हुआ, जिनमें सौन्दर्यवादी कला-सिद्धान्त के सभी नियम व्यवहृत हुए हैं। इस प्रकार थियोफाइल गाटियर को हम एक नवीन सम्प्रदाय का नेता, एक नवीन आन्दोलन का प्रवर्त्तक मान सकते हैं। किन्तु, साहित्यिक समीक्षा में सौन्दर्यवादी एवं आनन्दवादी दृष्टिकोण किसी-न-किसी रूप में प्राचीन काल से चला आया था। बीज-रूप में वह अरस्तू

के विचारों में विद्यमान है और लाञ्जिनस के आह्लाद अथवा आनन्दोद्रेक से उसका सीधा सम्बन्ध है। काण्ट के सौन्दर्य-दर्शन के स्वच्छन्दतावादी विचारक ही नहीं, वरन् १९वीं शताब्दी के ये कला के अन्य पुजारी भी गहराई तक प्रभावित हुए। यद्यपि इस सौन्दर्यवाद और स्वच्छन्दतावाद में पर्याप्त भेद है, तो भी हम दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को भुला नहीं सकते। कुछ विद्वानों का मत है कि 'कला कला के लिए' आन्दोलन स्वच्छन्दतावाद का आत्यन्तिक रूप है।

सौन्दर्यवाद का पूर्वरूप हमें एडगर एलेन पो तथा बादलेयर की कृतियों में मिलता है। अपने कई निबन्धों में पो ने कला-सम्बन्धी विचार व्यक्त किये हैं। कवि को वह सौन्दर्य का स्रष्टा मानते हैं और सौन्दर्य से अनुपम आनन्द की उपलब्धि होती है। सौन्दर्य किसी अन्य तत्त्व पर आश्रित नहीं होता, वह स्वयं समर्थ है। पो के निम्नलिखित कथन उनके दृष्टिकोण पर प्रकाश डालते हैं :

Inspired by an aesthetic prescience of the glories beyond the grave, we struggle, by multiform combinations among the things and thoughts of time, to attain a portion of that loveliness whose very elements, perhaps, appertain to eternity alone.

That pleasure which is atonce the most pure, the most elevating and the most intense, is derived, I maintain, from the contemplation of the beautiful. In the contemplation of Beauty we alone find it possible to attain that pleasurable elevation, or excitement, of the soul, which we recognize as the poetic sentiment.... I make Beauty therefore using the word as inclusive of the sublime—I make Beauty the province of the poem.

The Manifestation of the (aesthetic) principle is always found in an elevating excitement of the soul—quite independent of that passion which is the satisfaction of the Reason. For, in regard to Passion, alas, its tendency is to degrade, rather than to elevate the soul.

बादलेयर के कला-सम्बन्धी विचार बहुत स्पष्ट नहीं हैं, इसलिए निश्चित रूप से उनका दृष्टिकोण निर्धारित करना कठिन है। तब भी दो-एक बातें तो प्रत्यक्ष हैं। उन्होंने सौन्दर्य को नैतिक उद्देश्यों और आदर्शों से बिलकुल पृथक् कर दिया है। उनका 'दी फ्लावर्स ऑफ इविल' नामक काव्य इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है। बादलेयर का विश्वास था कि पाप से सौन्दर्य न तो नष्ट होता है और न मलिन ही। इसके विपरीत सौन्दर्य पाप से जन्म लेता है और शक्ति प्राप्त करता है। इसीलिए उन्होंने नैतिक दृष्टि से

नागरिक जीवन के आपत्तिजनक पक्ष को काव्यात्मक रूप दिया है। उदाहरण देखिए :

With heart at rest I climbed the citadel's
Steep height, and saw the city as from a tower
Hospital, brothel, prison, and such hells,
Where evil comes up softly like a flower,
Thou knowest, O Satan, patron of my pain,
Not for vain tears I went up at that hour;
But, like an old and faithful lecher, fain.
To drink delight of that enormous trull
Whose hellish beauty makes me young again.
Whether thou sleep, with heavy vapors full,
Sodden with day, or, new apparelled, stand
In gold laced veils of evening beautiful,
I love thee, infamous city! Harlots and
Hunted have pleasures of their own to give.
The vulgar herd can never understand.

इसी प्रकार बादलेयर कला से उत्पन्न सौन्दर्य को नैसर्गिक सौन्दर्य की अपेक्षा अधिक आकर्षक मानते हैं। नगर की वारवनिताओं की सजावट उनके लिए सौन्दर्य का चरम आदर्श प्रस्तुत करती है। कलावादियों की यह एक प्रमुख स्थापना थी कि कलात्मक सौन्दर्य स्वाभाविक सौन्दर्य से अधिक श्रेयस्कर होता है। इसी विश्वास की झलक बादलेयर के विचारों में मिलती है। बादलेयर विशुद्ध कलावादी नहीं थे, इसके अनेक प्रमाण हैं। अपने गद्य लेखों में कई स्थलों पर उन्होंने मानव तथा नैतिक मूल्यों की आवश्यकता पर बल दिया है। उनकी कविता में जो पाप के प्रति मोह (सेटेनिज्म) मिलता है, वह भी जैसा कि टी० एस्० इलियट महोदय ने कहा है, परोक्ष नीति से नैतिकता की स्वीकृति है। बादलेयर ने न तो यथार्थ से पलायन किया है और न उसकी अनुकृति-मात्र प्रस्तुत करने की उनकी चेष्टा है। उन्होंने वस्तुतः सर्जनात्मक कल्पना द्वारा जीवन के यथार्थ और नैतिक दृष्टि से अग्राह्य पक्ष को अभिनव रूप एवं चमत्कारपूर्ण काव्यात्मक अभिव्यंजना प्रदान की है। 'कला कला के लिए' सम्प्रदाय की विशिष्ट कृति है थियोफाइल गाटियर-विरचित 'इनैमेल्स ऐण्ड कैमियोज'। इस प्रसिद्ध ग्रन्थ में गाटियर की प्रौढ़ कविताएँ संकलित हैं। उनमें कला का आग्रह चरम सीमा तक पहुँच गया है, विचारों और भावनाओं को अत्यन्त अल्प महत्त्व दिया गया है। ये कविताएँ ऐसे काव्य का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती हैं, जिसमें वस्तु की अपेक्षा रूप और शिल्प-विधान का कहीं अधिक महत्त्व होता है। गाटियर ने निर्माण-कौशल को उत्कृष्टता की परिणति तक पहुँचा दिया है, किन्तु उसने जीवन के गम्भीर तत्त्वों की अवहेलना की है। उसके सम्प्रदाय का यह मौलिक विश्वास था कि काव्य में कला ही सब कुछ है।

बालजाक और थियोफाइल गाटियर के बाद फ्रांस में साहित्य में नवीन लक्षण प्रकट होने लगे। पार्नेसियन सम्प्रदाय का जोर बढ़ने लगा और रूप-विधान पर अधिकाधिक ध्यान केन्द्रित होने लगा। तत्पश्चात् प्रतीकवादियों ने काव्य को नवीन एवं अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वों से समन्वित करके उसे संगीत के निकट पहुँचा दिया। दृष्टिकोण भी बदलने लगा, जिसका पता हमें वर्लेन की आशावादिता को बादलेयर की गम्भीर निराशा के समकक्ष रखने से चलता है।

जब फ्रांस में सौन्दर्यवादी मत अपना रूप बदलने लगा, अँगरेज लेखकों और अँगरेज जनता ने उसे अपनाया। बादलेयर का प्रभाव स्विनबर्न पर पड़ा और सन् १८६६ ई० में जब उनका 'पोएम्स ऐण्ड बैलेड्स' नामक संग्रह प्रकाशित हुआ, तब शिक्षित नवयुवकों ने उसका स्वागत किया। संगृहीत रचनाओं की नवीन मधुर पदावली तथा विशिष्ट लय ने पाठकों के मन में आकर्षण उत्पन्न किया। धीरे-धीरे यह सामान्य विश्वास प्रचलित होने लगा कि कला में सौन्दर्य ही सब कुछ है और कवि के लिए अभिव्यक्ति-कौशल ही सर्वोपरि वांछनीय है। सौन्दर्य-वासना का प्रभाव दैनिक जीवन पर पड़ने लगा तथा स्त्री-पुरुषों की वेशभूषा और चाल-ढाल में भी उसके लक्षण दिखाई देने लगे। जो लोग सुरुचि-सम्पन्न होने का दावा रखते थे, वे नये ढंग के भड़कीली सजावट के कपड़े पहनते तथा कुछ अद्भुत व्यवहार का अभ्यास करते थे। इस नवीन गतिविधि का प्रतिनिधित्व आस्कर वाइल्ड ने किया। सौन्दर्यवादिता के इस बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए कतिपय मनीषियों ने भगीरथ प्रयत्न किया। उनमें मैथ्यू आर्नल्ड अग्रगण्य थे। उन्होंने काव्य को जीवन की समीक्षा बताया और नैतिक तत्त्वों को अत्यन्त मूल्यवान् घोषित किया। वर्ड्सवर्थ के प्रसंग में लिखते हुए उन्होंने आग्रहपूर्वक कहा है : "A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life; a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards life."

कला में नैतिकता के सबसे बड़े हिमायती थे जॉन रस्किन, जिन्होंने अपने अनेक भाषणों और लेखों में उसकी अनिवार्य आवश्यकता को दुहराया है। 'माडर्न पेण्टर्स' में उन्होंने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि यदि कला की विषयवस्तु गम्भीर एवं नैतिक दृष्टि से उपयोगी हो, तो कलात्मक और रूपगत अभाव के होने पर भी वह कला उच्चकोटि की कही जा सकती है। उनका अभिप्राय यह है कि कला का सारभूत तत्त्व है जीवन, और उसका बाह्य रूप केवल आनुषंगिक मूल्य रखता है। कहना न होगा कि रस्किन की यह धारणा सौन्दर्यवादियों के विश्वासों से बिलकुल भिन्न है।

इंगलैण्ड में सन् १८६० ई० से लगभग शताब्दी के अन्त तक यह सौन्दर्यवादी आन्दोलन किसी-न-किसी रूप में सजीव और सक्रिय बना रहा। इस आन्दोलन के प्रमुख नेता थे ह्विस्लर, आस्कर वाइल्ड, डासन तथा वाल्टर पेटर। इन सबने कला की स्वतन्त्र सत्ता मानी है और सौन्दर्य तथा कला का एकमात्र उद्देश्य माना है आनन्दोपलब्धि। वे विषयवस्तु की अपेक्षा अनुभूति और भावना को कहीं अधिक महत्त्व देते थे और तटस्थ

भाव से सौन्दर्य की परख करने में कला की सफलता मानते थे। ह्विस्लर सौन्दर्य के उग्र समर्थक थे। उनका कथन है : "Art is selfishly occupied with her own perfection only—having no desire to teach—seeking and finding the beautiful in all conditions and in all times." इसी प्रसंग में आस्कर वाइल्ड का प्रस्तुत कथन भी विचारणीय है : "The only—beautiful things....are the things that do not—concern us. As long as a thing is useful or necessary to us, or affects us in any way, either for pain or for pleasure....it is outside the proper sphere of art. To arts subject—matter we should be more or less—indifferent."

ह्विस्लर ने साहित्य में नैतिकतावाद के विरुद्ध सौन्दर्यवादी आन्दोलन का नेतृत्व उग्र रूप से किया। रस्किन की स्थापनाओं का उन्होंने न केवल जोरदार खण्डन किया, वरन् उनपर अनेक व्यक्तिगत आक्षेप भी किये। आस्कर वाइल्ड ने 'डी प्रोफण्डिस' तथा 'इण्टेन्शन' में इसी एकान्तिक सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन और समर्थन किया। इस सम्प्रदाय की पत्रिका का नाम था 'दी एलो बुक', जो आधिकारिक रूप से सौन्दर्यवादी मत का प्रकाशन करती थी। हम सबसे पहले सौन्दर्यवादियों की श्रेणी में सबसे प्रमुख एवं प्रतिभावान् लेखक वाल्टर पेटर के सम्बन्ध में कुछ कहेंगे। जिस समय मैथ्यू आर्नल्ड ऑक्सफोर्ड में संस्कृति की अपनी नवीन व्याख्या तथा कविता की नवीन परिभाषा प्रस्तुत कर रहे थे और काव्य में नैतिक मूल्यों की महत्ता सिद्ध करने में संलग्न थे, उसी समय वाल्टर पेटर भी उक्त विश्वविद्यालय में शिक्षण-कार्य कर रहे थे। दर्शन, प्राचीन साहित्य और कला का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था, किन्तु इससे भी अधिक मूल्यवान् था उनका निजी दृष्टिकोण। वे सौन्दर्य के अनन्य उपासक थे और सौन्दर्यानुभूति को केवल साधनमात्र नहीं, वरन् साध्य मानते थे। उनका निश्चित मत था कि कला की स्वतन्त्र सत्ता है और वह किसी अन्य शास्त्र अथवा तत्त्व पर निर्भर नहीं रहती। कलाकार अथवा कला का भोक्ता कला का चिन्तन तटस्थ और निरपेक्ष भाव से करता है और प्रतिक्षण उसके मन पर पड़नेवाले आनन्दप्रद प्रभाव अपना निजी महत्त्व रखते हैं। इसी विश्वास को पेटर ने अपने विभिन्न लेखों में अनेक प्रकार से व्यक्त किया है। अपने शैली-सम्बन्धी प्रसिद्ध लेख में उन्होंने उपयुक्त शब्द द्वारा सौन्दर्य की सृष्टि का विधान किया है। इस प्रकार सुनिर्मित शैली अथवा रूप किसी पर आश्रित नहीं होता। वह स्वयं आकर्षण एवं चमत्कार का विषय होता है। लेखकों और कवियों का मूल्यांकन भी इसी दृष्टि से किया गया है। हमने ऊपर मैथ्यू आर्नल्ड का वर्ड्सवर्थ-सम्बन्धी वह मत उद्धृत किया है, जिसमें उन्होंने नैतिक तत्त्व को कविता का अनिवार्य तत्त्व माना है। तुलना के लिए पेटर का निम्नलिखित मत देखिए, जो उनके वर्ड्सवर्थ-सम्बन्धी लेख के लिया गया है : "To treat life in the spirit of art, is to make life a thing in which means and end are identified to encourage such treatment, the true moral significance of art and lessons."

पेटर ने अपनी कला और सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणाओं को विस्तृत रीति से कथा के रूप में व्यक्त किया है। 'मैरियस दी एपिक्यूरियन' नामक कथा में एक ऐसे पात्र की सृष्टि हुई है, जो पेटर का प्रतिनिधि कलाकार है। मैरियस जीवन के अन्य व्यापारों से अपने को पृथक् रखकर निरपेक्ष रीति से सौन्दर्य की अनुभूति में अपने को संलग्न रखता है। उसके अध्ययन और चिन्तन के अनेक विषय हैं और प्राचीन युगों का उसका ज्ञान भी प्रचुर है। किन्तु मैरियस जो कुछ देखता-सुनता और जानता है, उसमें केवल सौन्दर्य की खोज करता है। वह हेराक्लिटस के क्षणवादी और परिवर्त्तनवादी दर्शन का अनुयायी है और प्रत्येक प्रवहमाण क्षण में आनन्द ग्रहण करने के लिए उत्सुक है। जिस सिद्धान्त का प्रकाशन कथारूप में 'मैरियस दी एपिक्यूरियन' में हुआ है, उसी का सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण प्रकाशन पेटर के नवजागरण-काल की कला-सम्बन्धी प्रसिद्ध पुस्तक के उपसंहार में किया गया है। उक्त पुस्तक के अन्तिम पाँच-छह पृष्ठ अत्यन्त सारगर्भ हैं और पेटर के सौन्दर्यवादी विश्वासों पर सुन्दर प्रकाश डालते हैं। कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करना अनिवार्यरूपेण अपेक्षित है :

"experience seems to busy us under a flood of external objects pressing upon us with a sharp importunity calling us out of ourselves in a thousand forms of action. But when reflection begins to act upon those objects, they are dissipated under its influence; the cohesive force is suspended like a trick of magic; each object is loosened into a group of impressions, colour, texture—in the mind of the observer. And if we continue to dwell on this world not of objects in the solidity with which language invests them, but of impressions unstable, flickering, inconsistent, which burn and are extinguished with our consciousness of them, it contracts still further; the whole scope of observation is dwarfed to the narrow chamber of the individual mind."

अनुभूति के वैयक्तिक और ऐकान्तिक स्वरूप पर पुनः बल दिया गया है :

"Experince is ringed round for each one of us by that thick wall of personality through which no real voice has ever pierced on its way to us, or from us to that which we can only conjecture to be without. Every one of those impressions is the impression of the individual in his isolation, each mind keeping as a solitary prisoner in its own dream of a world.

Analysis goes a step further still and tells us that those impressions of the individual to which, for each one of us, experience dwindles down, are in perpetual flight; that each of them is limited by time, and

that as time is infinitely divisible, each of them is infinitely divisible also; all that is actual in it being a single moment, gone while we try to apprehend it, of which it may ever be more truly said that it has ceased to be that it is. To such a tremulous wisp constantly reforming itself on the stream, to a single sharp impression, with a sense in it, a relic more or less fleeting of such moments, gone by, what is real in our life binds itself down. It is with this movement, the passage and dissolution of impressions, images, sensations that analysis leaves off, that continual vanishing away, that strange perpetual weaving and unweaving of ourselves."

× × ×

"To burn always with this hard gemlike flame, to maintain this ecastasy is success in life. Failure is to form habits; for habit is relative to a stereotyped world; meantime, it is only the roughness of the eye that makes any two persons, things, situations, seem alike, while all melts under our feet, we may well catch at any exquisite passion, or any contribution to knowledge that seems by a lifted horizon, to set the spirit free for a moment, or any stirring, strange dyes, strange flowers and curious odours or work of the artist's hands, or the face of one's friend. Not to discriminate every moment some passionable attitude in those about us, and in the brilliance of their gifts some tragic dividing of forces on their ways is on this short day of frost and sun, to sleep before evening. With this sense of the splendour of our experience and of its awful brevity gathering all we are into one disperate effort to see and touch, we shall hardly have time to make theories about the things we see and touch. What we have to do is to be for ever curiously testing new opinions and courting new impressions, never aquiescing in a facile orthodoxy of Compte or of Hegel or of our own. Theories, or religious or philosophical ideas as points of view, instrument of criticism, may help us gather up what might otherwise pass unregarded by us. La philosophic C'estla microscope de la pensee. The theory or idea or system which requires of us the sacrifice of any part of this experience in consideration of some interest into which we cannot enter, or some abstract morality we have not identified with ourself or what is only conventional, has no real claim upon us."

पेटर के इस प्रभाववादी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में एक बहुत बड़ी आपत्ति उपस्थित होती है। उन्होंने अनुभूति की सत्ता को स्वतन्त्र और निराधार माना है, किन्तु अनुभूति को हम यथार्थ जीवन और उसके दैनिक व्यापारों से पूर्णरूपेण अलग नहीं कर सकते। इसी भाँति कुछ ऐसी अनुभूतियाँ होती हैं, जो अनायास क्रिया को प्रेरित करती हैं। यहाँ तक कि अनुभूति और क्रिया में अन्तर करना कठिन हो जाता है। तब हम अनुभूति की नितान्त पृथक् सत्ता कैसे मान सकते हैं।

इंगलैंड में स्वतन्त्र कलावाद एवं प्रभाववाद के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रवर्त्तक और समर्थक वाल्टर पेटर ही थे। यद्यपि अपने बाद के लेखों में उन्होंने आंशिक रूप में यथार्थ और नैतिकता के आग्रह को स्वीकार किया है, तब भी सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि सौन्दर्य और कला के स्वतन्त्र अस्तित्व तथा क्षण-क्षण मन में सौन्दर्य से उत्पन्न होनेवाली प्रतिक्रिया का जितना सुन्दर और प्रभावपूर्ण निरूपण उन्होंने किया है, उतना किसी अन्य लेखक ने नहीं। उनके लेखों के शैलीगत कलात्मक चमत्कार से उनके विचारों में और भी चारुता आ गई है। जैसा कि हम कह चुके हैं, ह्विस्लर, आस्कर वाइल्ड प्रभृति लेखक और विचारक सौन्दर्यवादी सम्प्रदाय के अन्य उल्लेख्य सदस्य थे। उनलोगों ने भी अपने निबन्धों और ग्रन्थों में प्रायः वही बातें कही हैं, जिनकी चर्चा हम वाल्टर पेटर के सम्बन्ध में कर आये हैं। उदाहरणार्थ, उनलोगों ने भी कला को नैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य इतर प्रभावों से मुक्त घोषित किया है और यह माना है कि सौन्दर्य, बिना किसी अन्य तत्त्व पर आश्रित हुए मानव-मन की एक विशिष्ट आकांक्षा की तृप्ति करता है। उनलोगों ने भी अनुभूति के क्षणिक स्वरूप को मान्यता प्रदान करते हुए उसको ही वास्तविक माना है। कला को पेटर के अन्य सहयोगी भी निसर्ग से अधिक मूल्यवान् मानते हैं और रूप को वस्तु की अपेक्षा वरीयता प्रदान करते हैं। यह सौन्दर्यनिष्ठ प्रभाववादी विचारधारा साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र में अपना प्रभाव प्रकट करने लगी। बीज-रूप में यह पद्धति हेजलिट आदि स्वच्छन्दतावादी आलोचकों के लेखों में विद्यमान है। किन्तु, उसका स्पष्ट प्रतिफलन अनातोले फ्रांस आदि के विचारों में हुआ। ये प्रभाववादी समीक्षक पूर्वनिर्धारित नियमों और सिद्धान्तों की पूर्ण अवहेलना करते थे और संवेदनशील पाठक के मन में तत्काल उत्पन्न होनेवाली प्रतिक्रिया को ही मूल्यांकन का एकमात्र आधार मानते थे। अँगरेजी के मूर्धन्य विद्वान् और जगद्विख्यात प्राध्यापक सेण्ट्सबरी ने भी मूलतः यही प्रभाववादी पद्धति अपनाई है। यही कारण है कि उन्होंने वाल्टर पेटर की भूरि-भूरि प्रशंसा की है तथा उनके विरुद्ध सम्भव आक्षेपों का जोरदार खण्डन किया है। इस प्रकार की आलोचना के सम्बन्ध में यह संशय बार-बार प्रकट किया गया है कि यदि वैयक्तिक प्रतिमान समीक्षा के एकमात्र आधार मान लिये जाते हैं, तो घोर अराजकता फैल सकती है। यदि प्रत्येक पाठक साहित्य को अपनी पृथक् रुचि के अनुसार परखता है, तो कोई सामान्य निर्णय सम्भव ही नहीं हो सकता। इसलिए किसी सामान्य निष्कर्ष के लिए स्वीकृत नियमों का सहारा लेना पड़ेगा। इस आपत्ति के उत्तर में कहा जाता है कि मानव-मन में कुछ ऐसी निहित एकता है, कुछ ऐसी अप्रत्यक्ष समानता है कि सुन्दर वस्तु सभी सुरुचि-सम्पन्न सहृदयों को अच्छी लगती है।

अतः वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं में भी तात्त्विक एकरूपता का मिलना स्वाभाविक है। प्रभाववादी समीक्षा की कुछ महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ हैं। सर्वप्रथम मन और उसपर पड़नेवाले प्रभाव को ही मूल्यांकन का प्रधान साधन तथा अनिवार्य आधार माना जाता है। इसका अर्थ यह है कि पाठक में भी वही सहृदयता एवं तीव्रानुभूति की क्षमता अपेक्षित होती है, जो कवि में। समान संवेदना के सूत्र में साहित्य के कर्त्ता और भोक्ता जब बँध जाते हैं, तभी सम्यक् रसास्वादन सम्भव होता है। इस प्रकार हम आगे चलकर इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जिस अनुभूति से काव्य की सृष्टि हुई है, उसका सबसे बड़ा पारखी कवि स्वयं है। अपनी प्रेरणा के बारे में वही अधिकारपूर्वक कह सकता है, दूसरे द्वारा उसके निरूपण में कुछ-न-कुछ कमी अवश्य रह जायगी। अतः कवियों ने काव्य-रचना तथा अपनी कृतियों के बारे में जो कुछ कहा है, वह विशेष विश्वास और आदर के योग्य है। एक तीसरा निष्कर्ष भी निकलता है, वह यह है कि समीक्षक तभी सफल हो सकता है, जब कवि के समान ही उसका मन प्रेरित हो और उसमें भी संवेदना की समान क्षमता हो, अर्थात् प्रत्येक सफल समीक्षक किसी-न-किसी अंश में कवि भी होता है। अँगरेज कवि पोप ने कहा है कि कवि और समालोचक दोनों एक ही स्रोत से आलोक प्राप्त करते हैं। मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा है कि रचना और आलोचना एक ही सर्जनात्मक शक्ति के दो रूप हैं तथा टी० एस० इलियट ने भी समीक्षक में कवि की प्रतिभा की अनिवार्यता पर कई स्थलों पर बल दिया है।

इस सौन्दर्य और कला के पुजारी प्रभाववादियों की प्रमुख मान्यताओं पर हमें एक बार फिर विचार कर लेना चाहिए। प्रमुख बात यह है कि वे एक्सपीरियन्स, अर्थात् अनुभूति को ही सर्वोपरि स्थान देते हैं। कवि और आलोचक दोनों के लिए अनुभूति ही सब कुछ है। ऊपर के उद्धरणों से इस बात का समर्थन भलीभाँति होता है। अनुभूति का विवेचन करते हुए पेटर तथा अन्य सौन्दर्यवादियों ने उसके क्षण-क्षण परिवर्त्तित और विलीन होनेवाले स्वरूप को भलीभाँति दरसाया है। अनुभूति सतत परिवर्त्तनशील, नितान्त वैयक्तिक और स्वभाव से ही अस्थिर होती है। हेराक्लिटस के क्षणवादी दर्शन का प्रभाव यहाँ प्रत्यक्ष है और मैरियस ने उसके प्रभाव को ग्रहण किया था, इसका उल्लेख है। यह क्षणवाद बीसवीं शताब्दी में और भी महत्त्वपूर्ण हो गया है तथा न केवल बर्गसाँ के विचारों से वह परिपुष्ट हुआ है, अपितु जेम्स जवायस आदि ने आलोकयुक्त क्षण, विशिष्ट क्षण आदि की बात कही है। क्षणिक अनुभूति का विलय स्वाभाविक है, किन्तु सौन्दर्यप्रेमी संवेदनशील व्यक्ति उसी महत्त्वपूर्ण क्षण को सुषमा और आलोक से भर देना चाहता है और ऐसा करने से वह विशिष्ट क्षण अनन्त प्रतीत होने लगता है। उसमें सुन्दरता और सार्थकता भर जाती है। कुछ ऐसी ही धारणा इन सौन्दर्यवादियों की थी। इस सम्बन्ध में हम ऊपर काफी कह चुके हैं, इसलिए अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि इन सौन्दर्यवादियों के मत में वस्तु की अपेक्षा रूप (फॉर्म) का अधिक महत्त्व है। आस्कर वाइल्ड का कथन है :

"Form is everything. It is the secret of life. Start with the worship of form, and there is no secret in art that will not be revealed to you."

रूप-तत्त्व पर यह अतिशय आग्रह कई प्रकार से प्रकट होता है। उसका उत्कृष्ट उदाहरण है गाटियर का निर्माण-कौशल, जो 'इनैमेल्स' और 'कैमियोज' में संगृहीत कविताओं में द्रष्टव्य है। प्रत्येक रचना का निर्माण उसी दक्षता से हुआ है, जो पच्चीकारी, चित्रकारी अथवा जरी के काम में परिलक्षित होती है। पेटर ने शैली-निर्माण में भी ऐसी ही सूक्ष्मकला, ऐसे ही विशिष्ट कौशल को आवश्यक माना है। संक्षेप में रूपतत्त्व का अर्थ था शिल्प-विधान अथवा निर्माण-पद्धति में विशेष कौशल। कविता में छन्द और अन्त्यानुप्रास के कौशलपूर्ण प्रयोग से सुन्दरता आती है। उसमें संगीत के तत्त्व नियोजित होते हैं। कविता में चित्रमयता का समावेश भी किया जाता है। प्रीरैफैलाइट-सम्प्रदाय के कवियों ने चित्रकला और काव्य को एक-दूसरे के बहुत निकट पहुँचा दिया और मलार्मे प्रभृति प्रतीकवादियों ने संगीत और काव्य का व्यवधान बहुत-कुछ मिटा दिया। ये सभी प्रयास रूपवादी (फॉर्मलिस्ट) थे और सौन्दर्यवादी आन्दोलन के फलस्वरूप ही वे सम्भव हुए। फॉर्मलिज्म अथवा रूपवाद ने वर्त्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक बीस-तीस वर्षों में कला के क्षेत्र में अपना आधिपत्य जमा लिया था, किन्तु अब उसके विरुद्ध सर्वत्र विद्रोह के लक्षण दिखाई देते हैं। यह रूपवादी आन्दोलन 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का ही नवीन रूप है। तात्त्विक दृष्टि से रूप और वस्तु को पृथक् नहीं कर सकते। उत्कृष्ट कला में दोनों का सहज एकीकरण होता है। रूप वस्तु पर आरोपित नहीं होता, वरन् उसी का प्रकाशन-मात्र है। इस प्रकार के रूप और वस्तु की अभिन्नता को उत्कृष्टता का प्रधान लक्षण मानना चाहिए, यह धारणा सर्वमान्य है। प्रो० ब्रैडले ने इस एकता पर सम्यक् प्रकाश डाला है और १९वीं शताब्दी के जर्मन दार्शनिकों के गहन चिन्तन में इसका उत्स मिलता है।

बादलेयर के सम्बन्ध में हम कह आये हैं कि वे कलात्मक सौन्दर्य को प्राकृतिक सौन्दर्य की अपेक्षा अधिक आकर्षक एवं सन्तोषप्रद मानते थे। यही विश्वास सौन्दर्यवादी चिन्तन में आदि से अन्त तक व्याप्त मिलता है। स्वच्छन्दतावाद के अनुयायियों ने प्राकृतिक उपकरणों तथा सर-सरिता, वन-पर्वत आदि की शोभा को अपने काव्य का विषय बनाया है। किन्तु, साथ-ही-साथ उनके साहित्यिक चिन्तन में सर्जनात्मक कल्पना तथा उसकी क्रिया का महत्त्व अनिवार्य रूप से स्वीकार किया गया। फलतः प्रकृति का वही रूप उत्कृष्ट माना गया, जिसे कल्पना प्रस्तुत करती है। कोरे यथार्थ-निरूपण के लिए काव्य में कोई स्थान नहीं है, यह धारणा अधिकाधिक बलवती होती गई और आगे चलकर इसी स्वच्छन्दतावादी विचार-परम्परा ने सौन्दर्यवाद का रूप ग्रहण किया। सौन्दर्यवादियों ने अधिक स्पष्टता से यह घोषित किया कि प्रकृति स्वयं उच्चतम कोटि के सौन्दर्य का सर्जन नहीं कर सकती। वह ऐसा करने में असमर्थ है। उसमें परिष्कार और व्यवस्था की कमी है और कुरूपता के अंश निरन्तर सौन्दर्य की पूर्णता में बाधा उत्पन्न करते रहते हैं। कला ही उच्चतम सौन्दर्य को प्रस्तुत करने की क्षमता रखती है, चाहे वह जड़ पदार्थों का सौन्दर्य हो अथवा जीवित नर-नारियों का रूपगत आकर्षण हो। एक उत्तम चित्र में बँधा हुआ प्रकृति का रूप उसके सामान्य रूप से कहीं अधिक आकर्षक प्रतीत होता है और रमणी का रूप-सौष्ठव कलात्मक सजावट के बाद ही निखरता है। प्रकृति की अशक्यता तथा कला की

सौन्दर्य-सर्जन की क्षमता को सौन्दर्यवादियों ने जोरदार शब्दों में व्यक्त किया है। ह्विस्लर का कथन है :

"That nature is always right is an assertion artistically as untrue as it is one whose truth is universally taken for granted. Nature is very rarely right, to such an extent even, that it might almost be said that nature is usually wrong ; that is to say the condition of things that shall bring about the perfection of harmony worthy of a picture is rare,"

आस्कर वाइल्ड ने भी प्रायः यही बात कही है :

"My own experience is that the more we study Art, the less we care for Nature. What Art really reveals to us is Nature's lack of design, her curious crudities, her extraordinary monotony, her absolutely unfinished condition."

यह स्पष्ट है कि प्रकृति और कला-सम्बन्धी यह सौन्दर्यवादी मत समकालीन यथार्थवादी मत के बिलकुल विपरीत था। मार्क्स तथा अन्य भौतिकवादी विचारकों ने यह मत प्रकट किया था कि प्रकृति और समाज में स्वतः पर्याप्त व्यवस्था विद्यमान रहती है और कलाकार उसीको सचाई के साथ निरूपित करता है। सौन्दर्यवादी कलात्मक रूप-विधान के अभाव में प्रकृति के सामान्य रूप को नगण्य और आकर्षण-रहित मानते हैं। इस प्रकार इन दोनों सिद्धान्तों में सीधा विरोध है, यद्यपि वे एक ही युग में प्रचलित हुए। यह विरोध आज भी मिटा नहीं है। यथार्थवादी, विशेषकर मार्क्सवादी समीक्षक, रूपवादियों की कटु आलोचना करते हैं। वे उन्हें गैरजिम्मेदार ठहराते हैं; क्योंकि कला की ऐकान्तिक उपासना और उसके वैयक्तिक रसास्वादन से लेखक के सामाजिक उत्तरदायित्व की पूर्त्ति नहीं होती। हम यहाँ इस वाद-विवाद के बारे में अधिक नहीं कहेंगे, केवल उसका उल्लेख-मात्र कर देना अभिप्रेत है। नैतिकता का प्रश्न सौन्दर्यवाद के प्रसंग में विशेष महत्त्व रखता है। जिस युग में पेटर, आस्कर वाइल्ड प्रभृति ने सौन्दर्यवादी एवं प्रभाववादी मत की प्रतिस्थापना की, वह युग कार्लाइल, मैथ्यू आर्नल्ड और रस्किन का था। इन मनीषियों ने नैतिकता के महत्त्व पर अत्यधिक बल दिया। प्लेटो ने कविता को अनैतिक सिद्ध किया था। उनके तर्क को नया मोड़ देकर रस्किन ने अपने लेखों और भाषणों में उच्च स्वर से यह घोषणा की कि उच्चतम कला वही है, जिसमें जीवन के उच्चतम नैतिक मूल्य निबद्ध हों। अतः उत्कृष्ट कला से नैतिकता को प्रोत्साहन मिलता है। सौन्दर्यवादियों ने नितान्त नैतिकता-निरपेक्ष दृष्टिकोण अपनाया। अत्यन्त प्राचीन काल से झगड़ा चला आया था कि कला का उद्देश्य आनन्द है अथवा नैतिक उत्थान। सौन्दर्यवादियों ने बिना किसी संकोच के आनन्द को ही कला का एकमात्र ध्येय अथवा उद्देश्य माना। कला से आनन्द की सिद्धि होती है। इससे अधिक वे कला से कुछ नहीं चाहते थे। मार्क्सवादियों के असन्तोष का यह भी एक बहुत बड़ा कारण है। उनको यह रुचिकर नहीं है कि कला इतनी व्यक्तिनिष्ठ और विशुद्ध रूप से

आनन्दवादी हो जाय। किन्तु चाहे जितनी आलोचना की जाय, यह तो मानना ही पड़ेगा कि सौन्दर्यवादियों का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण है और उनके कला-दर्शन का मूल चिन्तन और अनुभूति की गहराई में स्थित है।

सौन्दर्यवादी कला-दर्शन एवं काव्य-सिद्धान्त में मुख्यरूपेण प्रभाव-ग्रहण की प्रक्रिया का ही विवेचन हुआ है। सहृदय का संवेदनशील मन सौन्दर्य के प्रभाव को किस प्रकार प्रतिक्षण अंगीकार करता है तथा उससे आनन्द और आह्लाद की सृष्टि कैसे होती है, यही कलावादियों का विवेच्य विषय है। जब हम भारतीय साहित्य-दर्शन पर दृष्टिपात करते हैं, तब पता चलता है कि यूरोप की भाँति यहाँ भी साहित्य के दो प्रमुख प्रयोजन माने गये हैं—उपदेश एवं आनन्द, यद्यपि अनेक आचार्यों ने काव्य से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति को सम्भव माना है। इसी प्रकार अर्थलाभ, यश, कीर्त्ति आदि भी काव्य के फल माने गये हैं। इस सम्बन्ध में मम्मट का कथन प्रसिद्ध है :

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।।

काव्य-प्रयोजन का सर्वाधिक विस्तृत विवेचन रूपकों के सन्दर्भ में भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में मिलता है। भरत मुनि के मतानुसार नाट्य-कृतियों से प्रायः सब कुछ मिल सकता है। यदि हम इन विस्तृत और सामान्य विवेचनों को अलग कर दें, तो काव्य के दो ही विशिष्ट प्रयोजन बताये गये हैं। कुछ लोगों ने उपदेश को ही प्रधानता दी है। उदाहरणार्थ, हम केवल महिमभट्ट का मत यहाँ उद्धृत कर रहे हैं :

**कविव्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी काव्यमुच्यते। तच्चाभिनेयानभिनेयार्थत्वेन द्विविधम्। सामान्येनोभयमपि च तच्छास्त्रवद्विधिनिषेधविषय-व्युत्पत्तिफलम्। केवलं व्युत्पाद्यजनजाड्याजाड्यतारतम्यापेक्षया काव्यनाट्यशास्त्ररूपोऽय-मुपायमात्रभेदः न फलभेदः।**—अर्थात्, काव्य कवि का व्यापार है। यह व्यापार विभावादि की सम्यक् योजना ही है, जिसका रस से अव्यभिचरित सम्बन्ध है। यह काव्य अभिनेय एवं अनभिनेय अर्थ की दृष्टि से दो प्रकार का होता है। सामान्यतः काव्य अपने इन दोनों रूपों में शास्त्र की भाँति कृत्य की विधि और अकृत्य का निषेध करता है, करणीय-अकरणीय की व्युत्पत्ति प्रदान करता है। काम दोनों का एक ही है, फल दोनों का अभिन्न ही है। अन्तर केवल यह है कि शास्त्र का व्युत्पाद्य पुरुष जड़ नहीं होता और काव्य का जड़ भी हो सकता है। सारांश यह है कि उपायमात्र का अन्तर है, फल का नहीं।

अन्य आचार्य इस हद तक जाने को तैयार नहीं हैं और कीर्त्ति एवं प्रीति दोनों को ही काव्य का ध्येय मानते हैं। व्यावहारिक लाभ और नैतिक प्रशिक्षण के साथ-साथ आनन्द को भी वे काव्य-प्रयोजन के अन्तर्गत स्थान देते हैं। यह तो मानना ही पड़ेगा कि भारतीय काव्यशास्त्र में इन्हीं व्यावहारिक और नैतिक उद्देश्यों का अधिक महत्त्व है।

तब भी ऐसे आचार्य भी हैं, जिनका दृष्टिकोण मुख्यतः आनन्दवादी है। आनन्दवाद की अजस्र धारा उपनिषदों के काल से आज तक भारतीय वाङ्मय में बहती चली आई है।

उपनिषदों के वाक्यों में उस आनन्द की झलक मिलती है, जो सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है और जो पारलौकिक परमसत्ता का विशिष्ट गुण है। भक्त कवियों की कृतियों में वही आनन्द व्यंजित हुआ है और प्रसाद ने 'कामायनी' में उसी आनन्दवाद का नवीन निरूपण किया है। जब हम भारतीय साहित्य-मीमांसा पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, तब ज्ञात होता है कि रसवादियों और ध्वनिवादियों ने काव्य का एकमात्र लक्ष्य और साध्य आनन्द को ही माना है। विभाव, अनुभाव और संचारियों के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है और रसोद्रेक के साथ अलौकिक आनन्द की उपलब्धि होती है। इस आनन्द का स्वरूप लौकिक मनोरंजन और सुख से कहीं ऊँचा है। लौकिक अनुभवों का जबकि निर्वैयक्तिकीकरण एवं साधारणीकरण होता है तब सुख-दुःख का भेद मिट जाता है, और विशुद्ध आनन्द की अनुभूति होती है। रसवादियों का यह आनन्द ब्रह्मानन्द-सहोदर है। अतः आनन्द के आध्यात्मिक स्वरूप से इसका तादात्म्य है। ध्वनिवादियों ने भी रस को ही मान्यता प्रदान की है, भेद केवल व्याख्या में है। ध्वनिवादी आचार्यों ने आनन्दरूप रस की सुन्दर व्याख्या की है और उसका क्षेत्र केवल दृश्यकाव्य को ही नहीं, वरन् समस्त काव्य को माना है। आनन्दवर्द्धन तथा अभिनवगुप्त के मत इस प्रसंग में विशेष उल्लेखनीय हैं। अभिनवगुप्त ने निम्नलिखित उद्धरण में श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण तथा काव्य के प्रयोजनों में भेद बताते हुए काव्य की रसोत्पत्ति की क्षमता और आनन्द प्रदान करने की शक्ति को ही उसका प्रधान लक्षण माना है :

**इह प्रभुसम्मितेभ्यः श्रुतिस्मृतिप्रभृतिभ्यः कर्त्तव्यमिदमित्याज्ञामात्रपरमार्थेभ्यः शास्त्रेभ्यः येन व्युत्पन्ना नचाप्यस्येदं वृत्तममुष्मात्कर्मण इत्येवं युक्तियुक्तकर्मफलसम्बन्धं प्रकटनकारिभ्यः मित्रसम्मितेभ्यः इतिहासशास्त्रेभ्यः लब्धव्युत्पत्तयः अथ चावश्यं व्युत्पाद्याः प्रजार्थसम्पादनयोग्यताक्रान्ताः राजपुत्रप्रायास्तेषां हृदयानुप्रवेशमुखेन चतुर्वर्गोपायव्युत्पत्तिराधेया। हृदयानुप्रवेशश्च रसास्वादमय एव। स च रसश्चतुर्वर्गोपायव्युत्पत्तिनान्तरीयकविभावादिसंयोगप्रसादोपनत इत्येवं रसोचितविभावाद्युपनिबद्धरसास्वादवैवश्यमेव व्युत्पत्तौ प्रयोजकमिति प्रीतिरेव व्युत्पत्तेः प्रयोजिकाः। प्रीत्यात्मा च रसस्तदेवनाट्यं नाट्यमेव वेद इत्यस्मदुपाध्यायः। न चैते प्रीतिव्युत्पत्ती भिन्नरूपे एव द्वयोरप्येकविषयत्वात्। विभावादिसंयोग एव हि सत्यतः प्रीतेर्निदानमिति सकृदवोचत्स्म। विभावादीनां तद्रसोचितानां यथास्वसमवेदनं फलपर्यन्तीभूततया व्युत्पत्तिरित्युच्यते।**

ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश में कई ऐसे कथन मिलते हैं, जिनसे काव्य के आनन्दवादी प्रयोजन का समर्थन होता है।

किन्तु, इस भारतीय आनन्दवाद और यूरोपीय कलावादियों के दृष्टिकोण में जो अन्तर है, उसे भी समझ लेना चाहिए। फ्रांसीसी और अँगरेज सौन्दर्यवादियों ने मन पर पड़नेवाले प्रभाव का क्षणिक और अत्यन्त परिवर्त्तनशील बताया है। हम इस बात को विस्तार से कह आये हैं और तत्सम्बन्धी उद्धरण भी दिये गये हैं। सौन्दर्य का मन पर सीधा प्रभाव पड़ता है, किन्तु ऐसा प्रभाव स्थायी नहीं होता और निरन्तर विलीन होता

रहता है। रसानुभूति से प्राप्त आनन्द इतना क्षणिक नहीं होता। रसास्वाद की अवस्था अपेक्षाकृत स्थायी होती है। अतः यूरोपीय क्षणवाद और उसपर आधृत कला-सिद्धान्तों से उसकी तुलना नहीं हो सकती। ऐसे ही यह अन्तर भी प्रत्यक्ष है कि रस किसी तत्काल प्रभाव से उत्पन्न नहीं होता, वरन् एक सुनिश्चित व्यवस्था का फल होता है। रस के विभिन्न विधायक तत्त्व जब सम्यक् रीति से नियोजित होते हैं, तभी रस का आविर्भाव होता है। अतः यह प्रक्रिया न तो तत्काल सम्पन्न होनेवाली है और न उतनी सरल है, जितनी यूरोपीय कलावादियों के प्रभाव-ग्रहण की प्रक्रिया। भारतीय रसवाद और यूरोपीय कलावाद में यह तात्त्विक भेद है। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि भारतीय वाङ्मय में यूरोपीय 'कला कला के लिए' अथवा 'काव्य काव्य के लिए' जैसी कोई वस्तु नहीं है।

## द्वादश अध्याय

# पुरावृत्त, स्वप्न, बिम्ब एवं प्रतीक

यूरोपीय वाङ्मय में Myth (मिथ) शब्द प्रायः पच्चीस सौ वर्षों से प्रयुक्त होता आया है। अरस्तू के काव्यशास्त्र में यह कथा का पर्यायवाची माना गया है, किन्तु आधुनिक युग में इसका अर्थ-विस्तार चमत्कारपूर्ण रीति से हुआ है। फलतः इसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया है और इससे अनेक तत्त्वों और विशेषताओं का संकेत होता है। इसी बात को रेनेवेलेक महोदय ने इन शब्दों में व्यक्त किया है :

"But in a wider sense, myth comes to mean any anonymously composed story telling of origins and destinies, the explanations a society offers its young of why the world is and why we do as we do, its pedagogic images of the nature and destiny of man."

टी० एस० इलियट महोदय ने ठीक ही कहा है कि मानवशास्त्र, मनोविज्ञान तथा फ्रेजर की प्रसिद्ध पुस्तक 'गोल्डेन बाउ' ने साहित्य के लिए एक अत्यन्त नवीन क्षेत्र खोल दिया है। कवियों और विद्वानों ने 'मिथ' में निहित अनन्त सम्भावनाओं का उद्घाटन अपने-अपने ढंग से किया है तथा आधुनिक आलोचनाशास्त्र भी मिथ के नवीन स्वरूप को आधार मानकर नई दिशा में अग्रसर हुआ है। 'मिथ' शब्द के नवीन अर्थ-वैभव को व्यक्त करनेवाला कोई सन्तोषप्रद शब्द हिन्दी में नहीं है। देवकथा, पुराणकथा आदि केवल संकुचित अर्थ रखनेवाले हैं और मिथ के समस्त आधुनिक अर्थ-संकेत को ग्रहण नहीं करते। ऐसी दशा में बाध्य होकर इस विवेचन में हमने मिथ के समानार्थी के रूप में 'पुरावृत्त' शब्द को अपनाया है। हम नहीं कह सकते कि पुरावृत्त मूलतः सम्पूर्ण अर्थ का बोध कराने में सक्षम है, किन्तु विषय-निरूपण के लिए हम यह मान लेते हैं कि उसमें उन सभी अर्थों और संकेतों का संग्रह है, जो आधुनिक काल में मिथ से सम्बद्ध माने जाते हैं। संक्षेप में, सुविधा के लिए पुरावृत्त को हम मिथ का समुचित पर्यायवाची मानकर आगे बढ़ते हैं।

अत्यन्त प्राचीन काल से पुरावृत्त और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध चला आया है। वेदों, पुराणों तथा कथाओं में अनेक ऐसे पुरावृत्त मिलते हैं, जिनका साहित्यिक मूल्य है। सच तो यह है कि वैदिक कथाओं से अद्यतन काल तक रचित अनेक कथा-काव्यों में पुरावृत्त निबद्ध है। उसके साहित्यिक प्रयोग की अटूट शृंखला मिलती है। ऐसे ही होमर के महाकाव्य पुरावृत्त पर आधृत हैं और उनके बाद लिखा जानेवाला प्राचीन यूनानी साहित्य पुरावृत्त का अक्षय भाण्डार है। यूरोपीय साहित्य में अनेक स्रोतों से पुरावृत्त प्रविष्ट हुए हैं, जिनमें से कुछ का उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे। नवजागरण-युग के बाद यूरोप में तर्क और दर्शन शक्ति ग्रहण करने लगे और फलतः कल्पना और पुरावृत्त का महत्त्व कुछ

दिनों के लिए घट गया। १९वीं शताब्दी के स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन ने पुरावृत्त के महत्त्व को पुनः स्थापित किया। अनेक यशस्वी कवियों ने अपनी कृतियों में उनको प्रयुक्त किया और कला-मर्मज्ञों ने उनके स्वभाव और महत्ता पर प्रकाश डाला। इस प्रकार, पुरावृत्त की ओर लोक-अभिरुचि उन्मुख हुई। तत्पश्चात् आधुनिक अनुसन्धानों ने पुरावृत्त-सम्बन्धी भावनाओं में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। उनकी अपूर्व शक्ति तथा असीम सम्भावनाओं की ओर न केवल विद्वानों और आलोचकों का, अपितु कवियों और लेखकों का ध्यान भी आकृष्ट हुआ। अतः हम देखते हैं कि कृतित्व और समीक्षा—दोनों के लिए पुरावृत्त एवं तत्सम्बन्धी समस्याओं का ज्ञान अत्यन्त वांछनीय हो गया है।

पुरावृत्त का जन्म आदिमकाल में हुआ। ऐतिहासिक युग से कहीं पूर्व प्रकृति की गोद में पलनेवाले आदिम मानव ने प्राकृतिक प्रभावों के वशीभूत होकर अपनी भावनाओं को पुरावृत्त में प्रकट किया। प्राकृतिक सौन्दर्य से जब उसका मन विभोर हुआ, प्राकृतिक शक्तियों के सम्मुख जब उसके मन में श्रद्धा अथवा भय का संचार हुआ, जब प्रकृति के कोप से प्रताड़ित और त्रस्त होकर उसने त्राण और मंगल की कामना की, तब पुरावृत्त उसके भावों और उसकी प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम बना। ऐसे ही जब प्राचीन मानव ने उन देवताओं की कल्पना की, जो असीम शक्ति से सम्पन्न थे एवं विनाश अथवा कल्याण की अपूर्व क्षमता रखते थे, तब उसने अपनी श्रद्धा, उपासना और याचना पुरावृत्त में कथा एवं वर्णन के रूप में प्रकाशित कीं। धर्म, यज्ञ, आराधना सभी से पुरावृत्त का सम्बन्ध है। 'रिच्युअल' अर्थात् यज्ञ और पुरावृत्त तो एक ही प्रक्रिया के दो विभिन्न रूप हैं। यज्ञ में उन विचारों और भावनाओं का प्रकाशन कर्मकाण्ड द्वारा होता है, जो पुरावृत्त में कथा-रूप में निबद्ध होते हैं। पुराने इतिहास के अंश भी पुरावृत्त में घुल-मिल गये हैं, अतः उनका पृथक् करना कठिन हो गया है। पुरावृत्त में अनेक तत्त्वों का निरूपण प्रतीकात्मक शैली में होता है, जैसे ऋतुओं से सम्बद्ध पुरावृत्त में सर्जन और विनाश का क्रम परिलक्षित होता है। इसी भाँति कामवासना, उत्पत्ति और मृत्यु की क्रमिक शृंखला का बोध अनेक ऐसी कथाओं से होता है, जो अनेक देशों के पुरावृत्त में समान रूप में मिलती हैं। कतिपय विद्वानों का मत है कि पुरावृत्त आदिमयुगीन भाषा तथा साहित्य है, उसका रूप भावनाओं और विश्वासों द्वारा निर्धारित होता है। उसमें मानव-आकांक्षाओं एवं प्रवृत्तियों का संघात मिलता है, अतः उसमें चित्रमयता, रंगीनी एवं काव्य का सन्निवेश रहता है। तर्क और विज्ञान की प्रगति के साथ मानव-भावनाएँ निरन्तर अधिकाधिक सूक्ष्म एवं अमूर्त्त बनती जाती हैं, अतएव विज्ञान के युग में पुरावृत्त शीर्ण और निर्जीव होने लगता है। किन्तु, आधुनिक मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि यद्यपि मानव-जाति सभ्य हो गई है, तब भी आदिम अवस्था की विशेषताएँ अब भी उसमें विद्यमान हैं। जाग्रत् अवस्था में हम आदिम विशेषताओं से चाहे जितनी दूर दिखाई दें, स्वप्न में वे सभी वासनाएँ सचेष्ट हो उठती हैं, जिनका प्रत्यक्ष प्रदर्शन आदिम समाज में होता था। अस्तु यह स्वाभाविक है कि विज्ञान और तर्क के द्वारा आच्छादित होने पर भी पुरावृत्त पुनः महत्त्व प्राप्त करेगा। यही बात आज देखने में आ रही है। चिन्तन के क्षेत्र में विको से फ्रेजर तक पुरावृत्त के

महत्त्व पर अनेक विद्वानों ने प्रकाश डाला है। जैसा हम कह चुके हैं, कविता और आलोचना दोनों के क्षेत्र में पुरावृत्त का महत्त्व आज पूर्णरूपेण स्वीकार किया जा रहा है। साहित्य में अनेक उत्कृष्ट रचनाएँ पिछले ५० वर्षों में पुरावृत्त के आधार पर निर्मित हुई हैं और समीक्षा के क्षेत्र में पुरावृत्त को महत्त्व देनेवाले विचारकों का एक ऐसा समुदाय तैयार हो गया है, जिसे एक विशिष्ट विद्वान् ने Myth critics की संज्ञा प्रदान की है।

मिथ, अर्थात् पुरावृत्त की कतिपय अनिवार्य विशेषताओं पर विचार कर लेना समीचीन होगा। पुरावृत्त में कथा का अंश अनिवार्यरूपेण प्रस्तुत रहता है। बिना कथा के हम उसकी कल्पना नहीं कर सकते। वह केवल वर्णन अथवा प्रतीक-मात्र रह जायगा। पुरावृत्त अज्ञात स्रोत से प्राप्त होता है, अर्थात् उसके प्रणेता का पता नहीं रहता। यदि ऐसे पुरावृत्त भी हैं, जिनके कर्त्ता के बारे में कुछ अनुमान हो सकता है, तो भी निश्चयात्मकता का अभाव रहता है और मूलतः पुरावृत्त का कर्त्ता अज्ञात ही बना रहता है। इतिहास और पुरावृत्त में यही मौलिक अन्तर है। पुरावृत्त और केवल कथा में यह भेद होता है कि जहाँ कथा में घटनाक्रम पर विशेष आग्रह होता है, वहीं पुरावृत्त में भावात्मक एवं कल्पनात्मक क्षमता का ही प्राधान्य रहता है। पुरावृत्त के नायक केवल मानव मात्र नहीं होते, वरन् देवताओं तथा अलौकिक पात्रों का उसमें सदैव सन्निवेश होता है। देवता और मानव एक ही स्तर पर अपना कार्य करते हैं और दोनों का अन्तर बहुत-कुछ मिट जाता है। देवताओं का पुरावृत्त में इतना अधिक महत्त्व है कि कुछ विद्वानों ने इसी आधार पर उनकी परिभाषा बना डाली है। उदाहरणार्थ, बुल्फिंच महोदय द्वारा दी हुई निम्नलिखित परिभाषा को देखिए : "an account of the deeds of a god or divine being, usually expressed in terms of primitive thought. In essence it is an attempt to explain the relations of man to the physical world, and has, for those who recount it, predominantly religious value, or it may pretend to explain the existence of some social organization, a custom or the peculiarities of an environment." उपर्युक्त परिभाषा के अन्त में पुरावृत्त की सामाजिकता का उल्लेख है। जातीय जीवन से उसका सीधा सम्बन्ध आदि-काल से चला आया है। व्यक्ति की ही नहीं, अपितु समूह और जाति की रागात्मक एवं कल्पनात्मक चेष्टाएँ पुरावृत्त में अभिव्यक्त होती हैं।

पुरावृत्त का आविर्भाव मूलतः आदिम मानव-समाज की प्रकृति तथा उसके उपादानों के प्रति उत्पन्न होनेवाली रागात्मक प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। इसलिए उसमें कौतूहल, भय, श्रद्धा तथा प्रेम की अभिव्यक्ति हुई। इसके अतिरिक्त अधिकांश कथाओं में गम्भीर अर्थ भी किसी-न-किसी अंश में छिपा रहता था, यद्यपि वह अर्थ अब कहीं-कहीं विस्मृत हो गया है और केवल वर्णन-मात्र अवशेष है। अनेक कथाओं में निहित तात्पर्य अब भी सरलता से समझ में आ जाता है। पुरावृत्त-कथा में जिन प्रतीक-चिह्नों का प्रयोग हुआ है, उनका मूल्य समझने पर अर्थ स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए, कई कथाओं में सर्प अथवा उसी प्रकार के अन्य जीवों की चर्चा आती है, जो पाप एवं वासना के द्योतक हैं।

Fertility Myth की चर्चा इधर निरन्तर हो रही है। फ्रेजर, टी० एस्० इलिएट आदि ने उधर हमारा ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया है, किन्तु अनेक देशों में इस प्रकार के पुरावृत्त की दीर्घकालीन परम्परा चली आई है। ऐसे ही पाप और उससे उत्पन्न परिणामों की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति कई कथाओं में हुई है। उदाहरणार्थ, बाइबिल में आनेवाली 'केन' की कथा को हम ले सकते हैं। केन ने ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार किया और अपने अनुज एबेल की हत्या उसके हाथों हुई। अभिशप्त होकर केन भटकता फिरा। भटकाने-वाले यहूदी की कथा भी इसी से मिलती-जुलती है। उसने ईश्वर के प्रिय पुत्र का अपमान किया था, अतः वह पीड़ा और दुःख को भोगता हुआ इधर-उधर फिरता रहा। पश्चात्ताप से पाप किस प्रकार मिटता है और दैवी अनुग्रह की प्राप्ति कैसे होती है, पुरावृत्त में इसका सुन्दर निरूपण हुआ है। कॉलरिज की 'The Rime of the Ancient Mariner' नामक कविता में इसका अच्छा उदाहरण मिलता है। टी० एस्० इलियट ने 'The Waste Land' में पाप के भीषण परिणामों और उनसे मुक्ति का अत्यन्त चमत्कारपूर्ण चित्रण किया है। प्राचीन यूनानी पुरावृत्त-कथाओं में प्रायः सदैव गूढ़ अर्थ छिपा रहता है। परसीफोन नामक सुन्दरी को प्लूटो पाताल-लोक में छह मास तक निवास करने के लिए बाध्य करता है, किन्तु शेष छह महीने में परसीफोन का निवास पृथ्वी पर होता है। स्पष्ट है कि ऋतु-परिवर्त्तन की प्रक्रिया की ओर इस कथा में संकेत किया गया है। प्रमीथियस ने जीएस से अग्नि प्राप्त करके उसे मनुष्यों को दिया और इस कार्य के लिए उसने असह्य पीड़ा सही। प्रमीथियस ऐसे नायकों का प्रतिनिधित्व करता है, जो मानव-कल्याण के लिए आत्मोत्सर्ग करते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि पुरावृत्त-कथाओं से रागात्मक परितुष्टि के अतिरिक्त गम्भीर तथ्यों का पता भी लगता है।

हम ऊपर कह आये हैं कि वीको ने पुरावृत्त की नई व्याख्या प्रस्तुत की और इस प्रकार उसका महत्त्व-वर्द्धन किया। १९वीं शताब्दी के अनेक यूरोपीय कवियों ने पुरावृत्त को काव्य का विषय बनाया अथवा काव्य-रचना में उससे सहायता ली। यह तो स्पष्ट ही है कि पुरावृत्त स्वयं काव्य नहीं है, वह केवल किसी जाति अथवा समुदाय की रागात्मक चेष्टाओं का कथा-रूप में प्रकाशन-मात्र है। किन्तु, पुरावृत्त में साहित्य को सामग्री प्रदान करने की अपूर्व क्षमता है। इस बात का अनुभव १९वीं शताब्दी के अनगिनत कवियों ने भलीभाँति किया। साथ-ही-साथ विद्वानों ने पुरावृत्त-सम्बन्धी अनेक रहस्यों का समुचित उद्घाटन किया। मैक्समूलर ने अध्ययन और अनुसन्धान द्वारा इस बात का पता लगाया कि विभिन्न देशों में बसनेवाली आर्य-जातियों के परम्परागत पुरावृत्त में आश्चर्यजनक समानता है। फ्रायड ने स्वप्न, पुरावृत्त और कविता को निकटस्थ सिद्ध किया। उनके मता-नुसार कामवासना से तीनों का सीधा सम्बन्ध है और तीनों में प्रयुक्त प्रतीक उसी वासना से उद्भूत होते हैं। कार्लयुंग ने सामूहिक अचेतन के महत्त्व को प्रतिपादित किया और उसी के आधार पर पुरावृत्त की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की, वैसे तो इन मनोवैज्ञानिकों के पूर्व यूरोपीय प्रतीकवादियों ने भी पुरावृत्त के महत्त्व को स्वीकार किया था। वर्त्तमान युग में मानव-समाजशास्त्र से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री एकत्र हुई है और उसका वैज्ञानिक

अध्ययन भी किया गया है। फलतः पुरावृत्त के स्वभाव, अर्थ एवं महत्त्व पर नवीन प्रकाश पड़ा है और साहित्य से उसका क्या सम्बन्ध है, इस प्रश्न पर नये सिरे से विचार होने लगा है।

हम कह चुके हैं कि पुरावृत्त का जन्म आदिम मानव और प्रकृति के साहचर्य के फलस्वरूप हुआ। उसमें आदिम मानव-समाज की भावनाएँ अभिव्यक्त हुईं और उनको स्वरूप मिला। पुरावृत्त, इन्द्रजाल, याज्ञिक क्रियाओं तथा धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राचीन मानव-जाति ने अपनी कल्पना, अपने अनुराग, अपने भय आदि को साकार प्रतीकों और रूपकों द्वारा पुरावृत्त-कथाओं में निबद्ध किया। जो कुछ कथा में कहा गया, उसी के क्रियात्मक रूप को यज्ञ (रिच्युअल) कहते हैं। इन्हीं से मिलता-जुलता इन्द्रजाल (मैजिक) था, जिसका प्राचीन मानव-समाज में विशेष प्रचलन था। इन्द्रजाल अथवा जादू-टोने में मनुष्य अपनी भावनाओं द्वारा वाह्य स्थूल पदार्थों को अनुप्राणित एवं प्रभावित करने की चेष्टा करता था। इस प्रकार, कभी वह कष्ट-निवारण और कभी वरदान-प्राप्ति का प्रयत्न करता था। जड़ पदार्थ भी सजीव एवं शक्ति-सम्पन्न मान लिये जाते थे। अवतारवाद इसी विकास-क्रम का अगला चरण है। अवतारवाद से कुछ और आगे बढ़कर ऐसे धार्मिक सिद्धान्त प्रकट हुए, जिनमें अमूर्त्त भावनाओं और दार्शनिक सिद्धान्तों को ही अधिक महत्त्व मिला। आधुनिक काल के मानव-शास्त्र के विज्ञ पण्डितों ने उपर्युक्त विकास-क्रम पर सम्यक् प्रकाश डाला है। विद्वानों के अध्ययन से यह भी सिद्ध हुआ है कि पुरावृत्त-कथाएँ व्यवस्थाहीन किंवदन्तियाँ-मात्र नहीं हैं, अपितु उनमें सुस्पष्ट रूप-विधान (पैटर्न) मिलता है और वे मानव-चिन्तन एवं अनुभूति पर आधृत हैं। आइ० ए० रिचर्ड्स महोदय का कथन है : "The saner and greater mythologies are not fancies ; they are the utterance of the whole soul of man and as such, inexhaustible to meditation....They are hard realities in projection, their symbolic recognition, co-ordination and acceptance. Through such mythologies our will is collected, our power purified, our growth controlled."

पुरावृत्त का विस्तार समस्त संसार में हुआ। इतिहास के प्रारम्भ से कहीं पहले सर्वत्र मानव की कल्पना और रागात्मक प्रवृत्ति जाग्रत् एवं साकार होकर कथा के रूप में प्रकट होने लगी। फलतः संसार के विभिन्न देशों में पुरावृत्त की अपनी निजी परम्परा मिलती है, यद्यपि अनेक कारणों से दूरस्थ देशों की पुरावृत्त-कथाओं में भी कुछ-न-कुछ समानता अवश्य मिलती है। इन समानताओं को ही लेकर विद्वानों ने अनेक नवीन मत और सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। भारतवर्ष में पुरावृत्त का समृद्ध भाण्डार उपलब्ध है। वेदों में विभिन्न प्राकृतिक उपादानों और शक्तियों को सजीव और सक्रिय रूप में निरूपित किया गया है तथा उनमें अनेक कथाएँ भी संकलित हैं। इस प्रकार, वैदिक पुरावृत्त का अपना पृथक् अस्तित्व है। परिमाण और महत्त्व में पौराणिक पुरावृत्त कहीं अधिक वैशिष्ट्य-युक्त है। पुराण में इतिहास का अंश कितना है, यह कहना कठिन है, किन्तु यह तो निर्विवाद है कि उसमें पुरावृत्त का अंश कम

अथवा अधिक मात्रा में प्रायः सर्वत्र विद्यमान है। वेदों में उषा, सन्ध्या, रात्रि आदि की अत्यन्त सुन्दर एवं रागात्मक तत्त्वों से अनुरंजित अभिव्यक्ति हुई है और पुराणों में भी अनेक आकर्षक स्थल हैं। हमारे अनेक उपाख्यान पुरावृत्त के ही अंग हैं, जैसे समुद्र-मन्थन, इन्द्र तथा देवों और दानवों के साथ उनका संघर्ष, यम से सम्बद्ध कथाएँ, उर्वशी, मेनका आदि की कथाएँ इत्यादि। अरब और फारस के पुरावृत्त भी एकत्र किये गये हैं और इसी भाँति एशिया-महाद्वीप के सभी प्रमुख देशों की आदिमयुगीन कथाएँ परम्परा से चली आई हैं। यूरोप में पुरावृत्त की पाँच-छह प्रमुख शाखाएँ हैं। सर्वाधिक महत्त्व यूनानी और रोमन पुरावृत्त का है; क्योंकि यूरोपीय साहित्य और कला में निरन्तर इसका उपयोग होता चला आया है। ईसाई धर्म के प्रचार के बाद ऐसे पुरावृत्त का जन्म और विकास हुआ, जिसका सीधा सम्बन्ध बाइबिल और ईसा मसीह के जीवन-वृत्तान्त से है। ऊपर हमने केन तथा भ्रमणशील यहूदी की कथाओं का जिक्र किया है। वे बाइबिल से निकली हुई पुरावृत्त-कथाओं के उदाहरण हैं। ईसा मसीह की सूली और मृत्यु के बाद उनका नवोत्थान भी कुछ विद्वानों द्वारा फर्टिलिटी मिथ का ही परिवर्त्तित और धार्मिक रूप माना गया है। तीसरे प्रकार का यूरोपीय पुरावृत्त मध्ययुग से सम्बद्ध है। उस काल के साहसपूर्ण कार्यों तथा धार्मिक विश्वासों का इन कथाओं से अच्छा पता चलता है। होलीग्रेल तथा उसकी खोज से सम्बद्ध अनेक कथाएँ मध्ययुगीन पुरावृत्त का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। केल्टिक पुरावृत्त का सामान्य वातावरण मध्ययुगीन पुरावृत्त में उपलब्ध वातावरण से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। ट्रिस्टन और आइजोल्ट अथवा डीयरड्रे की प्रसिद्ध प्रेम-कथाओं में साहस, प्रेम और विषाद का जो अनुपम सम्मिश्रण मिलता है, वह केल्टिक पुरावृत्त की प्रमुख विशेषता है। फिनलैण्ड, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, आइसलैण्ड आदि में जो विशिष्ट पुरावृत्त-कथाएँ प्रचलित थीं, उन्हें नॉर्स पुरावृत्त कहते हैं। प्रकृति का जो कठोर और आतंक उत्पन्न करनेवाला स्वरूप उन उत्तरीय प्रदेशों में मिलता है, उसकी अमिट छाप नॉर्स (Norse) कथाओं में सहज ही दिखाई देती है। यूरोप के अतिरिक्त अमेरिकी महाद्वीप का भी अपना निजी पुरावृत्त है।

विज्ञान और तर्क की प्रगति के साथ पुरावृत्त विघटित और लुप्त हो जायगा, ऐसी धारणा स्वाभाविक है। किन्तु, मानव-कल्पना शाश्वत है और इसलिए पुरावृत्त ने वर्त्तमान युग में अभिनव शक्ति प्राप्त की है और काव्य से उसके सम्बन्ध पर नवीन प्रकाश पड़ा है। फ्रायड ने चमत्कारपूर्ण रीति से पुरावृत्त, स्वप्न और कविता के घनिष्ठ सम्बन्ध को अपने कई लेखों में दरसाया है। पुरावृत्त आदिम मानव-समाज का दिवास्वप्न था। उसमें सामूहिक आकांक्षाएँ और प्रतिक्रियाएँ मुखरित हुई थीं। स्वप्न में भी हमारे अचेतन मन में छिपी हुई वासनाएँ उठकर ऊपर आती हैं और क्षण-भर के लिए फलीभूत होती हुई प्रतीत होती हैं। कवि भी स्वप्नद्रष्टा होता है; क्योंकि जागरितावस्था में ही संसार को वह अपने ढंग से देखता है। आह्लाद और प्रेरणा से सम्पृक्त उसका मन सामान्य वस्तुओं को नवीन रूप प्रदान करता है और साधारण संसार स्वप्नलोक-जैसा दिखाई पड़ता है। फ्रायड ने स्वप्न का विश्लेषण करके उसकी संघटना में कई स्तरों का निर्देश किया है। कवि का जाग्रत्

स्वप्न फ्रायड के मतानुसार सुप्तावस्था के स्वप्नों के उच्चतम स्तर से समानता रखता है। कविता और स्वप्न में एक बहुत बड़ी समानता यह है कि दोनों में चित्र अथवा बिम्ब बनते रहते हैं। स्वप्न के बिम्ब कहीं अधिक क्षणिक होते हैं। क्षण-भर के लिए वे अत्यन्त स्पष्ट हो सकते हैं, किन्तु तब भी वे निरन्तर आपस में मिलते और विलीन होते रहते हैं। कविता में व्यवहृत बिम्ब स्थायित्व प्राप्त करते हैं और भाषा में बँधकर मूर्त्त रूप ग्रहण कर लेते हैं। जहाँ तक पुरावृत्त का प्रश्न है, हम उसे स्वीकृत अर्थ में साहित्य नहीं कह सकते हैं। किन्तु, चिरन्तन काल से कविता को उससे शक्ति और समृद्धि मिलती रही है। काव्य तो रूप के साँचे में ढला होता है, चाहे वह रूप बिखरा हुआ हो अथवा अपेक्षाकृत स्पष्ट। पुरावृत्त केवल जनसाधारण के विश्वास और जनश्रुति में रहने और संचरित होनेवाली वस्तु है। किन्तु, इस भेद के होते हुए भी कविता उसकी प्रेरणा से चमत्कार और सौष्ठव प्राप्त करती है। ब्लेक, कॉलरिज, शेली, मारिस, येट्स, टी० एस्० इलिएट आदि की कविताएँ इस बात के साक्षी हैं। ऐसे ही वर्त्तमान शताब्दी में कई ऐसे उपन्यास और नाटक हैं, जिनका आकर्षण पुरावृत्त के सफल नियोजन के कारण उत्पन्न होता है। काव्य में पुरावृत्त की अनिवार्य उपयोगिता के विषय में हर्बर्ट रीड महोदय ने लिखा है : "In a certain sense, then, the myth, and more intimately the image, makes the poem. Its vivid eidetic energy acts like a catalyst among the suspended verbal molecules and precipitates just those which clothe the image in the brightest sheath of words."

हर्बर्ट रीड ने स्वप्न-लेखन और स्वतःलेखन (Automatism) के बारे में कई स्थलों पर लिखा है। स्वतःलेखन की प्रक्रिया से उद्भूत रचनाओं में पुरावृत्त, स्वप्न, और कविता का भेद प्रायः मिट जाता है। कॉलरिज की प्रसिद्ध रचना 'कुबला खाँ' को हम उदाहरणार्थ ले सकते हैं। अफीम की मादकता से कवि की मनःस्थिति स्वप्निल हो गई थी, अतः उसमें कुछ स्पष्ट और कुछ धुँधले चित्र आपस में मिल-जुलकर एक विचित्र वातावरण उत्पन्न करते हैं। पुरावृत्त में मिलनेवाले व्यक्तियों और स्थानों के नाम दिये गये हैं, जिनसे बीते हुए युगों की स्मृतियाँ जागरित होती हैं। अन्तिम पंक्तियों में कवि के भावावेश का जो चित्र दिया गया है, कदाचित् वैसी ही मानसिक अवस्था में आदिम मानव ने विभोर होकर पुरावृत्त को जन्म दिया था। जैसे स्वप्न में कभी अत्यन्त स्पष्ट और फिर धूमिल चित्र (Images) बनते और बिगड़ते रहते हैं, ठीक वैसे ही चित्र कॉलरिज की इस प्रसिद्ध कविता में क्रमशः अवतीर्ण होते हैं। रीड महोदय ने स्वतःलेखन की जो परिभाषा दी है, उसके अन्तर्गत वे सभी रचनाएँ आ जाती हैं, जिनका निर्माण प्रेरणा के वशीभूत होकर तत्काल होता है। उनके शब्द हैं : "But by automatism in the present context we mean a state of mind in which expression is immediate and instinctive—where there is no time-gap between the image and its verbal equivalent." अँगरेज कवि ब्लेक की उत्कृष्ट रचनाएँ स्वतःलेखन के उपयुक्त उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। स्वयं हर्बर्ट रीड ने कई कविताएँ तत्काल प्रेरणा के क्षणों में लिखी हैं

और उन्होंने स्वप्न-लेखन के भी कई उदाहरण पाठकों के सामने पेश किये हैं। उक्त कविताओं की रचना मूलतः स्वप्न में ही हुई थी और जगने पर वे तुरन्त लिपिबद्ध की गई थीं अथवा उनका सम्पूर्ण चिंतन स्वप्न में हुआ था और कवि ने जाग्रत् अवस्था में केवल उन चित्रों को भाषा और छन्द का रूप दे दिया। स्वतःलिखित और स्वप्न-लिखित रचनाएँ पुरावृत्त के अत्यन्त निकट होती हैं; क्योंकि उनमें कृत्रिम अलंकरण आदि का अभाव रहता है और वे बिम्ब और प्रतीक का प्रयोग अनवरत रीति से करती हैं। उनके शब्द, लय और वातावरण से भी पुरावृत्त से मिलता-जुलता प्रभाव उत्पन्न होता है।

पुरावृत्त में प्रतीकों का विशेष महत्त्व होता है। कथा, पात्र एवं पदार्थ—सभी प्रतीक का कार्य करते हैं। फर्टिलिटी मिथ्स, अर्थात् उर्वरता एवं उपज से सम्बद्ध कथाएँ अनेक देशों में मिलती हैं। पतझड़ और जाड़े में पेड़-पौधे अपनी श्री खोकर नग्न और निर्जीव दिखाई देते हैं, पृथ्वी में दबे हुए बीज अंकुरित नहीं होते और चारों ओर वातावरण वीरान और रिक्त दिखाई देता है। वसन्त आते ही पृथ्वी की उर्वरता बढ़ जाती है और चतुर्दिक् नई छटा दिखाई पड़ने लगती है। इसी भाँति ग्रीष्म में जलती हुई धरती पर बादल वर्षा का जल गिराकर जीवन का नया सन्देश देते हैं। जैसा कि हम कह चुके हैं, इलिएट के प्रसिद्ध काव्य 'दि वेस्टलैण्ड' में कुछ ऐसी ही कथाओं का उपयोग किया गया है और येट्स ने प्राचीन तत्त्वों को मिलाकर जिस नवीन पुरावृत्त का निर्माण किया है, उसका भी अभिप्राय कुछ ऐसा ही है। यूनान के प्राचीन पुरावृत्त में देवी-देवताओं एवं वीर योद्धाओं की जो कथाएँ मिलती हैं, उन सबका कुछ-न-कुछ प्रतीकात्मक अर्थ है। देवी-देवताओं की कल्पना भी प्रतीक के रूप में ही की गई है, जैसे डाइनिसस जीवन की मस्ती का प्रतीक है, अपोलो विवेक और संयम का, वीनस प्रेम का, और मिनर्वा ज्ञान का प्रतिनिधित्व करती हैं। भारतवर्ष में भी सरस्वती, लक्ष्मी आदि का प्रतीकात्मक महत्त्व है, यद्यपि सामान्य जनता के लिए उनकी पूजा ही प्रमुखता रखती है। महाभारत के पात्र प्रतीक के रूप में ग्रहण किये जा सकते हैं। कौरवों और पाण्डवों का युद्ध न्याय और अन्याय के बीच का द्वन्द्व है, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार राम-रावण का युद्ध पुण्य और पाप के बीच भीषण संघर्ष है। पुरावृत्त में प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग अनन्त काल से होता चला आया है, किन्तु फ्रायड ने उनकी नई व्याख्या की है। स्वप्न में प्रकट होने-वाले प्रतीकों और पुरावृत्त में व्यवहृत प्रतीकों का तादात्म्य सरलतापूर्वक समझ में आ जाता है। फ्रायड के मतानुसार पुरावृत्त और स्वप्न दोनों में कामवासना और मृत्यु-सम्बन्धी प्रतीकों का प्राचुर्य रहता है। कामवासना का सम्बन्ध प्रजनन और जीवन की रक्षा से है। मृत्यु विनाश का कारण है। अनेक प्रतीकों द्वारा इन दोनों पक्षों के निरन्तर चलनेवाले संघर्ष की अभिव्यक्ति हुई है। उदाहरण के लिए, हम सर्प अथवा नाग, ड्रेगन, गॉर्गन, सर्पेण्ट आदि की कथाएँ ले सकते हैं। ये सभी पाप और मृत्यु के मूर्त्त और जीवित प्रतीक हैं। इनका विरोधी नायक इरॉस अथवा कामवासना का प्रतीक होता है। भारतीय साहित्य में शेषनाग के फण पर विष्णु का शयन करना, कृष्ण द्वारा नाग का दमन किया

जाना तथा अन्य कथाओं में नागों की पराजय—सभी मृत्यु पर जीवन के विजय की ओर संकेत करते हैं। यूरोपीय पुरावृत्त तो ऐसी कथाओं से भरा-पड़ा है। जेसन, कैड्मस और कई अन्य वीर योद्धाओं ने ड्रेगन का वध किया था। नॉर्स माइथोलॉजी में नागवध की अनेक कथाएँ हैं। फ्रायड ने स्वप्न और पुरावृत्त में प्रकट होनेवाले प्रतीकों के विवेचन के साथ-ही-साथ इस बात का भी उल्लेख किया है कि उनका प्रवेश विभिन्न युगों और देशों के साहित्य में बिना किसी रुकावट के हुआ है। अतः प्रतीकात्मकता के आधार पर हम कह सकते हैं कि पुरावृत्त, स्वप्न और कविता एक ही कोटि के अन्तर्गत हैं।

पुरावृत्त, स्वप्न और कविता को एक ही सूत्र में बाँधने का कार्य कार्लयुंग ने श्लाघनीय कुशलता से किया है। फ्रायड की धारणा थी कि स्वप्न में अनायास अचेतन मन अपने को प्रकट करने लगता है, अतः कवि के रचनात्मक कार्य से वह किसी अंश में भिन्न सिद्ध होता है। पुरावृत्त के सम्बन्ध में भी फ्रायड का स्वप्न-दर्शन कुछ ऐसा ही निष्कर्ष प्रस्तुत करता है; क्योंकि आदिम जातियों की प्राचीन कथाएँ भी जाग्रत् स्वप्न के अतिरिक्त कुछ नहीं थीं। कार्लयुंग ने फ्रायड की स्थापनाओं को अस्वीकार करते हुए यह प्रतिपादित किया कि स्वप्नावस्था में हमारा अचेतन मन सक्रिय बना रहता है और हमारे स्वप्न प्रयोजनयुक्त होते हैं। फलतः स्वप्नों में व्यवस्था और अर्थ का सन्निवेश रहता है। इस भाँति स्वप्न और कविता में कोई तात्त्विक भेद नहीं होता। दोनों में समान सामग्री और एक ही प्रकार की व्यवस्था देखी जाती है। चित्रों के प्रस्तुत करने का ढंग, उनका संघटन, स्वप्न और कविता में प्रायः एक ही प्रकार से होता है। जैसा सम्बन्ध स्वप्न और कविता में है, लगभग वैसा ही सम्बन्ध पुरावृत्त और कविता में भी मानना पड़ेगा। ऊपर हमने यह मत व्यक्त किया है कि पुरावृत्त में सामान्यतः गम्भीर अर्थ छिपा रहता है। अपने मत के समर्थन में हमने आइ० ए० रिचर्ड्स महोदय की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। युंग के विचारों से भी उपर्युक्त मत की पुष्टि होती है। युंग की एक और बहुत बड़ी देन है। उन्होंने कविता, स्वप्न और पुरावृत्त को सामूहिक अचेतन मन से सम्बद्ध कर दिया है। पुरावृत्त और कविता में मिलनेवाले अनेक पात्र और विषय Archetypal होते हैं, अर्थात् उनका पूर्व रूप अथवा आदर्श रूप सामूहिक अचेतन में छिपा हुआ विद्यमान रहता है। कवि उसका आवाहन करता है और पुरावृत्त में वे रूप स्वतः चेतना में उभरकर आ जाते हैं। हम वहाँ केवल एक उदाहरण देंगे। स्वप्न, काव्य और पुरावृत्त में समान रूप से एक ऐसी परम सुन्दरी का चित्र सामने आता है, जो पूर्व-परिचित मालूम होती है। हेलेन, क्लियोपैट्रा, शकुन्तला, उर्वशी आदि से हम सुपरिचित हैं। यूरोपीय पुरावृत्त की प्रायः सभी शाखाओं में उन्हीं के समान आकर्षक स्त्री-पात्रों का सर्जन हुआ है। आधुनिक साहित्य से भी ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। इस भाँति हम देखते हैं कि कतिपय विशिष्ट विषयों और पात्रों की दृष्टि से पुरावृत्त कविता के अत्यन्त निकट है। युंग का महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि आलोचना का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है तथा पुरावृत्त और स्वप्न के सम्यक् विश्लेषण और अध्ययन से वह नवीन साधनों से सम्पन्न हुआ है तथा उसकी सम्भावनाएँ अधिक विस्तृत हो गई हैं।

प्रतीक के अतिरिक्त पुरावृत्त, स्वप्न और कविता में बिम्ब अर्थात् Image के कारण भी समानता परिलक्षित होती है। प्रतीक और बिम्ब का अन्तर सर्वस्वीकृत है। प्रतीक में सूक्ष्म अर्थ और प्रभाव की नियोजना रहती है तथा उसके सम्पूर्ण अभिप्राय की व्याख्या अन्य शब्दों में नहीं की जा सकती। प्रतीक में जो अस्पष्टता होती है, वही उसके चमत्कार का कारण भी बन जाती है। बिम्ब का सीधा सम्बन्ध अभिव्यक्ति और मानस-पटल पर उभरनेवाले चित्रों से है। वर्त्तमान शताब्दी में बिम्बवादी कवि साफ और आकर्षक चित्रों को अंकित करने में ही अपनी सफलता मानते हैं। इमेजरी, अर्थात् बिम्ब-विधान की दृष्टि से कविता दो प्रकार की मानी गई है—Metaphorical एवं Mythical। मिल्टन की कविता प्रथम कोटि की और ब्लेक की कविता दूसरी कोटि की है। पुरावृत्त में बहुत ही सुन्दर और सुस्पष्ट चित्र मिलते हैं; क्योंकि आदिम मानव में तीव्र अनुभूति की क्षमता थी और कल्पना तथा भावना द्वारा प्रसूत मानसिक चित्र अत्यन्त स्पष्ट होकर आविर्भूत होते थे। हम यह नहीं कह सकते कि सभी चित्र समान रूप से परिष्कृत और बहुरंगी होते थे, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि पुरावृत्त में विराट् रूपों और सुन्दर दृश्यों की कल्पना की गई थी। सूर्य के घोड़े रथ को लेकर दिशाओं में दौड़ते थे, चन्द्रमा डायना के रूप में मृगया करता था, नील सागर से अनेक देवी और देवता अपने विशिष्ट रूपों में निकलकर क्रीडा करते थे, नियन्त्रण के लिए वायु को पर्वत की कन्दराओं में बन्द कर दिया जाता था। ये सभी चित्र पुरावृत्त में अनुपम विशालता और प्रभावोत्पादकता के साथ मिलते हैं। किन्तु, पुरावृत्त में स्पष्ट चित्रों की पीठिका कौतूहल, विस्मय, भय अथवा आह्लाद द्वारा तैयार होती है। कल्पना और भावना की तीव्रता के कारण सीमा-रेखाएँ कभी-कभी धूमिल होने लगती हैं। जैसी चित्र-व्यवस्था पुरावृत्त में अक्सर मिलती है, वैसी ही स्वप्न में भी उपलब्ध होती है। स्वप्न में भी उभरे हुए स्पष्ट बिम्बों के साथ अस्पष्ट और विघटनशील चित्रों का मेल मिलता है। यही व्यवस्था मिथिकल अर्थात् पुरावृत्तात्मक काव्य में मिलती है। ब्लेक की रचनाओं अथवा कॉलरिज की 'क्रिस्टाबिल' नामक कविता के निरीक्षण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। जेम्स ज्वायस का 'युलिसीज' नामक उपन्यास पुरावृत्तात्मक साहित्य का उत्कृष्ट नमूना है और उसमें जो चित्र मिलते हैं, वे अत्यन्त रोचक एवं सार्थक हैं।

मिथ और लिजेण्ड (Myth and Legend) में विभेद करना अत्यन्त कठिन है, केवल थोड़ा-सा अन्तर यह है कि मिथ में कल्पना का अंश अपेक्षाकृत अधिक होता है और लिजेण्ड की यथार्थता में परम्परागत विश्वास चला आया है। इस भेद की अधिक चर्चा न करके हमें अपना ध्यान पुरावृत्त और साहित्य के सम्बन्ध पर केन्द्रित करना है। जब हम विश्व-साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं तब सहज ही यह ज्ञात हो जाता है कि साहित्य पुरावृत्त का कितना ऋणी है। यूरोपीय साहित्य के आदिनिर्माता होमर के दोनों महाकाव्य पुरावृत्त पर आधृत हैं। 'इलियड' में ऐतिहासिकता कुछ अधिक है, किन्तु 'ऑडिसी' तो पुरावृत्त को ही लेकर निर्मित हुआ है। एस्किलस, सोफोक्लीज, और यूरीपिडीज के प्रसिद्ध दुःखान्त नाटक यूनान के प्रचलित पुरावृत्त-कथाओं को कलात्मक रूप में प्रस्तुत करते हैं। प्रमीथिस की

कथा, एगामेमनान्, क्लाइमेन्स्ट्रा और ओरेस्टीज की कथा, इडिपस की कथा, एलेक्ट्रा की कथा—ये सभी यूनानी नाट्य-प्रणेताओं की अमर कृतियों में निबद्ध हैं। ऐसे ही आधुनिक काल में शेक्सपियर ने हैमलेट और लियर-सम्बन्धी पुराकथाओं को सामग्री बनाकर अपने सुविख्यात दुःखान्त नाटकों का सर्जन किया है और फास्टस-सम्बन्धी पुराकथा को मार्लो और गेटे ने साहित्यिक रूप दिया। यह स्मरणीय है कि उपर्युक्त सभी कृतियों में **नियति** का प्रभाव प्रदर्शित किया गया है तथा पाप और उसके परिणाम की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। यही दोनों मौलिक प्रश्न तत्सम्बन्धी पुराकथाओं में भी विशेष महत्त्व रखते हैं। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ से आज-पर्यन्त यूरोपीय साहित्य में पुरावृत्त का कितना विस्तृत और आकर्षक प्रयोग हुआ है, इसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं।

भारतीय साहित्य में प्राचीन काल से पुरावृत्त का समावेश होता आया है। उदाहरणार्थ हम अपने प्राचीन महाकाव्यों को ले सकते हैं। रामायण और महाभारत में इतिहास के साथ पुरावृत्त का सम्मिश्रण हुआ है। न केवल अनेक कथाएँ और उपकथाएँ पुरावृत्त से गृहीत हैं, वरन् अभिप्राय, प्रयोजन और वातावरण—सभी पुरावृत्त का अनुसरण करते हैं। कालिदास की अधिकांश रचनाएँ पुरावृत्त पर आधृत हैं, जैसे कुमारसम्भव, विक्रमोर्वशीय आदि। रघुवंश में ऐतिहासिकता का अधिक समावेश हुआ है, किन्तु अन्य सभी कृतियों का मूल पुरावृत्त में मिलता है। प्राचीन संस्कृत-साहित्य से अनेक ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनमें प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में काव्य ने पुरावृत्त को आत्मसात् किया है। बौद्ध-साहित्य का अपना पुरावृत्त है, जो कथा और काव्य में निबद्ध मिलता है।

हिन्दी-साहित्य में पुरावृत्त-कथाओं की सफल नियोजना हुई है। हम उदाहरण के लिए यहाँ केवल दो-एक रचनाओं का ही उल्लेख करेंगे। जायसी का पद्मावत रूपक-काव्य है, किन्तु उसकी कथा पुरावृत्त की सभी विशेषताओं से समन्वित है। रतनसेन, पद्मिनी, नागमती तथा अन्य पात्र प्रतीक बनकर कथा में प्रविष्ट होते हैं। सिंहलद्वीप कोई भौगोलिक सत्ता नहीं रखता। सर्वत्र कल्पना तथा भावना का साम्राज्य है। काव्य का गूढार्थ भी पुरावृत्त के अनुरूप है। जो बात 'पद्मावत' के सम्बन्ध में हम कह रहे हैं, वही अन्य प्रेमाख्यानों के सम्बन्ध में भी ठीक है। प्रायः सभी पुरावृत्त की परिपाटी पर व्यवस्थित हैं। पुरावृत्त पर आधृत वर्त्तमान शताब्दी की सबसे महान् कृति है 'प्रसाद' की 'कामायनी'। इसमें मनु, श्रद्धा, इडा आदि प्राचीन वैदिक एवं उत्तरवैदिक पुरावृत्त से लिये गये हैं और रूप-विधान एवं प्रतीक-योजना की दृष्टि से 'कामायनी' उत्कृष्टतम पुरावृत्त-काव्य की कोटि में स्थान पाने योग्य है। आज के हिन्दी-मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में भी पुरावृत्त का पुट मिलता है। कदाचित् फ्रायड और युंग की नई खोजों से प्रभावित होकर हमारे उपन्यासकार पुरावृत्त की ओर अधिकाधिक झुक रहे हैं।

वर्त्तमान शताब्दी में मानवशास्त्र तथा मनोविज्ञान की खोजों ने पुरावृत्त के स्वभाव और स्वरूप पर नूतन प्रकाश डाला है। इस रहस्योद्घाटन ने साहित्यिक समीक्षा को एक नई दिशा में मोड़ दिया है। फ्रायड और युंग की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थापनाओं ने कविता और स्वप्न, स्वप्न और पुरावृत्त एवं पुरावृत्त और कविता के निकट सम्बन्ध को भलीभाँति

उद्घाटित किया है। युंग ने सामूहिक अचेतन तथा आदर्शरूप (आर्किटाइप) के महत्त्व को हमारे सामने प्रस्तुत करके कविता और पुरावृत्त की एकरूपता को सिद्ध कर दिया है। अब प्रायः सभी यह मानते हैं कि यद्यपि हम पुरावृत्त को आज के स्वीकृत अर्थ में साहित्य नहीं कह सकते तथापि दोनों में न केवल घनिष्ठ सम्बन्ध है, वरन् दोनों अनेक बातों में समानता रखते हैं। इस नवीन ज्ञान से रचना और समीक्षा दोनों गहराई तक प्रभावित हुई हैं।

विचारकों एवं आलोचकों का एक दल पुरावृत्त और कविता में प्रतीकों की प्रधानता पर विशेष बल देता है। पुरावृत्त में प्रतीकों द्वारा तीव्र अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति सरलतापूर्वक देखी जा सकती है। भावनाओं को प्रतीकों द्वारा मूर्त्त रूप दिया गया है और इस प्रकार उनका सहज और सीधा प्रकाशन हुआ है। प्रतीकों द्वारा इस प्रकार का रूप-विधान भाषा, विशेषकर साहित्यिक भाषा का कलेवर तैयार करता है। पिछले कुछ वर्षों में भाषा के प्रतीकत्व पर पर्याप्त चिन्तन हुआ है और इस भाँति पुरावृत्त और भाषा का पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित हुआ है। कविता में भी प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग होता है। यह बात पिछले डेढ़ सौ वर्षों में अच्छी तरह प्रमाणित हो गई है। स्वच्छन्दतावादी और प्रतीकवादी कवियों की कृतियों में प्रतीकों का समूह और उनकी कलापूर्ण नियोजना मिलती है। कैसिरर प्रभृत्ति विचारकों ने पुरावृत्त और भाषा में प्रतीकों की उपादेयता का विवेचन किया है। श्रीमती लैङ्गर की धारणा है कि कविता में हमारी आन्तरिक भावनाएँ रूप ग्रहण करती हैं। अनुभूति और प्रतीकों द्वारा उसके प्रकाशन में कोई व्यवधान नहीं पड़ता। आदिम युगों में पुरावृत्त के निर्माताओं ने भी अपनी तीव्र और सहज अनुभूति को कथा और प्रतीक के माध्यम से प्रेषित किया था।

अन्य विचारकों ने मिथ और कविता को आर्किटाइप अर्थात् आदर्श रूप से सम्बद्ध माना है। अतः आलोचक का प्रमुख कर्त्तव्य आदर्श रूप का निर्धारण और उससे कथा एवं काव्य का सम्बन्ध-निरूपण है। कविता विकास-क्रम में सरलता से जटिलता की ओर अग्रसर होती गई है, किन्तु कुछ ऐसे विषय और चित्र तथा प्रतीक हैं, जो प्रत्येक युग में कविता की प्रत्येक अवस्था में मिलते हैं। नार्थ्रप फ्राई ने अनेक उदाहरण दिये हैं और अपना यह मन्तव्य प्रतिपादित किया है कि आलोचना का सरोकार केवल काव्य के रूप का विश्लेषण-मात्र नहीं है, उसे तो उस आर्किटाइप अथवा आदर्श रूप की खोज करनी है, जिसमें कविता का मूल निबद्ध है। आलोचना के अनेक कार्य हैं, जैसे पाठ-भेद का अध्ययन, इतिहास, समाज-शास्त्र, एवं दर्शन-शास्त्र द्वारा निर्मित पीठिका का विवेचन आदि। किन्तु अन्ततोगत्वा आलोचक मानव-शास्त्र के विज्ञ पण्डित के रूप में अपना कार्य करता है और इसलिए नार्थ्रप फ्राई ने उसे 'लिटरेरी एन्थ्रोपॉलॉजिस्ट' (Literary anthropologist) की संज्ञा दी है। समीक्षक पुरावृत्त, लोककथा तथा रिच्युअल, अर्थात् यज्ञ और पूजा की विधियों का अध्ययन करता हुआ कविता तक पहुँचता है और इन सभी में जो समान तत्त्व हैं, उनकी खोज करता है।

नार्थ्रप फ्राई के मत में सबसे बड़ी कमी यह है कि उसमें कविता के मूल्यों का कोई जिक्र नहीं है, अर्थात् कविता अच्छी है या बुरी, सजीव है अथवा निर्जीव, इसका विचार नहीं किया जाता ; आलोचक केवल उसके विषय और उसकी उत्पत्ति के प्रश्न में ही उलझकर रह जाता है। रिचर्ड चेज के विचारों से इस कमी की पूर्त्ति होती है; क्योंकि उनके मतानुसार समस्त उत्कृष्ट कविता मिथिकल होती है, अर्थात् उसमें पुरावृत्त की विशेषताएँ मिलती हैं। ये विशेषताएँ मुख्य रूप से अनुभूति की तीव्रता तथा सजीवता के लक्षणों से सम्बद्ध हैं। चेज महोदय ने बताया है कि कविता और पुरावृत्त दोनों की उत्पत्ति समान रूप से हुई है, दोनों प्रतीकों का प्रयोग करते हैं ; भय, श्रद्धा आदि मन में उत्पन्न करते हैं तथा भावनाओं को संयति और परिष्कृत करते हैं। संक्षेप में चेज मिथ और कविता को रेचन का साधन मानते हैं। किन्तु, 'रेचन' की उन्होंने नये ढंग से व्याख्या की है। हमारे वैयक्तिक और सामूहिक अचेतन में अत्यन्त भयावह जीव छिपे रहते हैं, जैसे किसी घने जंगल में। जिस भाँति जंगल के जानवरों को खदेड़कर बाहर निकाला जाता है और उन्हें पिंजड़े में बन्द कर दिया जाता है, वैसे ही मन में छिपे हुए उग्र और भयावह तत्त्वों को बाहर करके आदिम मानव ने उन्हें पुरावृत्त में बन्दी बना दिया था। बाद को धर्म ने वही कार्य किया, जो पहले पुरावृत्त द्वारा सम्पन्न होता था, अर्थात् धार्मिक प्रभाव में मानव के भयंकर और कुरूप विचार और भाव अपना रूप बदलकर अन्तर्निविष्ट हो गये। धर्म के विघटन के साथ-साथ हमारे मन के हिंस्र पशु जब अपने पिंजड़े से फिर बाहर निकले, तब उन्हें फिर से सौन्दर्यानुभूति और कला के पिंजड़े में बन्द किया गया : "Ghosts such as haunt the hero in Henry Jame's, 'The Beast in the Jungle' are terrible and destructive just because they are inadequately projected by their victims....We must do with 'the beast' what James himself did : Flush it from the Jungle so that it may be captured in the texture of aesthetic experience and bent to our will."

लेस्ली फीड्लर एक अन्य विचारशील Myth critic, अर्थात् पुरावृत्त का समर्थन करनेवाले आलोचक हैं। फ्राई की भाँति वे भी यह मानते हैं कि साहित्य का एक ही प्रमुख एवं प्रतिष्ठित विषय है, आर्किटाइप। कवि उसी को अपने ढंग से निरूपित करता है। कवि के मानस और जीवन को हम नगण्य नहीं मान सकते; क्योंकि उसी के अनुसार कवि की अभिव्यक्ति का रूप तैयार होता है। इसीलिए कहा गया है कि कवि आदर्श रूप पर अपना हस्ताक्षर अंकित कर देता है। कवि के मन में चिरन्तन आदर्श और वैयक्तिक विचार और भाव एकीकृत होकर पुरावृत्त अथवा कविता के रूप में प्रकट होते हैं।

विचारकों के जिन मतों का सारांश हमने ऊपर दिया है, उनमें सामान्य त्रुटि यह है कि वे साहित्यिक मूल्यांकन से विमुख प्रतीत होते हैं। परम्परा से साहित्यिक समीक्षा का मुख्य उद्देश्य सफल और असफल, अधिक और कम मूल्यवान् कृतियों में विभेद करना रहा है और आज भी हम उस उद्देश्य को भुला नहीं सकते। मूलतः समीक्षा किसी कृति

की विशेषताओं तथा उसके गुण-दोष का विवेचन है, किन्तु मिथ-क्रिटिक्स के ध्यान से यह बात ओझल हो जाती है। इस सम्बन्ध में मिस मॉड बाडकिन के विचार कहीं अधिक सन्तोषप्रद हैं। उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि कतिपय Archetypal Patterns, अर्थात् मौलिक चित्र पुरावृत्त और कविता में निरन्तर विद्यमान रहे हैं। उदाहरण के लिए, हम गुफाओं, पाप-भावना से प्रेरित भ्रमणशील व्यक्तियों आदि के बार-बार आनेवाले चित्रों का उल्लेख कर सकते हैं। इस तरह के अनेक मौलिक चित्र ढूँढ़ निकाले गये हैं, जिनमें से कुछ की चर्चा हम ऊपर कर आये हैं। हम ऐसा नहीं कह सकते कि विभिन्न युगों में स्वेच्छापूर्वक पुरावृत्तकारों और कवियों ने उन चित्रों को समाविष्ट किया। किन्तु वे अध्ययन द्वारा प्राप्त होते हैं, यह निर्विवाद है। युंग तथा उनके अनुयायियों की स्थापना से इन मौलिक चित्रों के सतत प्रयोग का रहस्य खुल जाता है। साहित्य-समीक्षा द्वारा हम न केवल उनके स्वरूप को ग्रहण करते हैं, अपितु उनकी सार्थकता, उनके औचित्य आदि का पता भी लगाते हैं। न केवल वर्त्तमान युग की कृतियों का अध्ययन इस आधार पर किया जाता है, वरन् प्राचीन पुरावृत्त और काव्य का विश्लेषण भी निःसंकोच हो सकता है। प्राचीन युग में मौलिक चित्रों का ज्ञान नहीं था, इसका अर्थ यह नहीं कि हम प्राचीन साहित्य में उनकी खोज न करें। हमारे सामूहिक अचेतन मन में वे सदैव विद्यमान रहे हैं, यद्यपि इस बात का पता हमें अभी कुछ दिन पहले लगा है।

निश्चय ही मिथ-सम्बन्धी आधुनिक अध्ययन और चिन्तन ने साहित्य एवं साहित्यिक समीक्षा की नवीन सम्भावनाओं के लिए द्वार खोल दिया है। न केवल सामग्री-चयन में, वरन् शैली और वातावरण-निर्माण में भी पुरावृत्त ने नवीन सुविधाएँ उपलब्ध कर दी हैं और फलतः आलोचना की एक नवीन पद्धति विकसित हो रही है। इस नवीन दृष्टिकोण में चत्मत्कारपूर्ण नवीनता है, किन्तु यह मानना कठिन है कि वह परम्परागत परिपाटी को हटाकर उसके स्थान पर प्रतिष्ठित हो सकेगा। साहित्यिक समीक्षा का मूल उद्देश्य है—किसी रचना का वास्तविक मूल्यांकन। कवि की भाँति ही समीक्षक भी भावुक होता है और अपनी अन्तर्दृष्टि से कला के सारभूत तत्त्वों तक पहुँचता है तथा उसके गुण और दोष की व्याख्या करता है। वह परख और आनन्दोपलब्धि में सहृदय की सहायता करता है। निर्माण और प्रेषण की सम्मिलित प्रक्रिया पर प्रकाश डालनेवाला सहृदय, साहित्य-प्रेमी का मित्र, आलोचक, समाज का एक आवश्यक अंग होता है; क्योंकि वह संस्कृति के निर्माण में योग देता है। हम ऊपर देख आये हैं कि मिथ-क्रिटिक्स का प्रयोजन मुख्य रूप से मानव-शास्त्र और मनोविज्ञान से है, मूल्यांकन तो उनके लिए गौण महत्त्व रखता है। कैसिरर और लैंगर ने प्रतीकात्मक रूप की खोज की है, फ्राई सामूहिक अचेतन में निहित मूल वासना तक पहुँचना आलोचक का चरम लक्ष्य मानते हैं, चेज ने कतिपय सौन्दर्यपरक तत्त्वों की चर्चा अवश्य की है, किन्तु उनकी प्रमुख व्याख्या वासनाओं के रेचन से सम्बद्ध है। युंग, फीड्लर, कुमारी बाड्किन आदि का विशेष आग्रह 'आर्किटाइप', अर्थात् मूल चित्रों पर है। इस भाँति हम देखते हैं कि पुरावृत्तमूलक नवीन समीक्षा में सदैव विषयान्तर-दोष आ जाता है। जब कभी मूल्यांकन का प्रयास परिलक्षित होने लगता है, तब उसमें विशेष

सार्थकता आ जाती है, किन्तु ऐसे अवसर कम आते हैं। सामान्यतः यह नवीन समीक्षा-साधनों और बाह्य उपकरणों पर विचार करके ही सन्तुष्ट हो जाती है। केन्द्रीय प्रश्नों पर सम्यक् ध्यान न देने से तथा कलागत मूल्यों की उपेक्षा के कारण नवीन पुरावृत्तमूलक समीक्षा को वह मान्यता नहीं मिल सकती, जो उसके प्रवर्त्तक और समर्थक उसके लिए अपेक्षित मानते हैं।

◎

## त्रयोदश अध्याय

# तीन आधुनिक विचारकों के सिद्धान्त

## (अ) बेनिडिटो क्रोचे

आदर्शवादी सौन्दर्यदर्शन की चरम परिणति क्रोचे के विचारों में मिलती है। काण्ट ने मन तथा वाह्य जगत् के तादात्म्य और समन्वय की बात कही थी, किन्तु उसने इन्द्रियगोचर जगत् की सम्पूर्ण अवहेलना न की थी। हेगेल ने यद्यपि प्रत्यय और रूप के पारस्परिक सम्बन्ध को ही मुख्य रूप से उद्घाटित किया, किन्तु प्रकृति, अर्थात् वाह्य जगत् की पूरी उपेक्षा उसने कदापि नहीं की। उन्नीसवीं शताब्दी में अत्यधिक व्यापक महत्त्व प्राप्त करनेवाले कल्पना-सिद्धान्त पर काण्ट और शेलिंग के विचारों की गहरी छाप है। क्रियाशील शक्ति, कल्पना, मानसिक व्यापार के रूप में ही प्रकट होती है, किन्तु उसके बाद वाह्य जगत् और स्थूल तत्त्वों पर व्यवस्था आरोपित होती है। इन सबसे आगे बढ़कर क्रोचे ने मानसिक क्रियाओं को ही एकमात्र मान्यता प्रदान की और वाह्य उपकरणों को केवल गौण साधन के रूप में ग्रहण किया। क्रोचे ने मानसिक व्यापारों की दो कोटियाँ मानी हैं—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक। व्यावहारिक प्रक्रिया इच्छाशक्ति पर निर्भर रहती है, किन्तु मन की सैद्धान्तिक क्रिया इच्छाशक्ति से नितान्त स्वतन्त्र रहकर अपना कार्य करती है। सैद्धान्तिक मानसिक क्रियाओं को क्रोचे ने दो कोटियों में विभक्त किया है, इण्ट्यूटिव और कन्सेप्चुअल, अर्थात् सहज ज्ञान पर आधृत एवं सम्बन्धसूचक प्रत्ययों पर आधृत। सौन्दर्यदर्शन का सम्बन्ध प्रथम प्रथम कोटि से और तर्कशास्त्र का दूसरी कोटि से है। हमारा मुख्य प्रयोजन इण्ट्यूशन, सहज ज्ञान अथवा स्वयंप्रकाश्य से है। अतः हम क्रोचे के सौन्दर्य-दर्शन की ही चर्चा यहाँ करेंगे। इस प्रसंग में यह भी कह देना आवश्यक है कि क्रोचे ने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को अस्वीकार किया; क्योंकि मार्क्स ने स्थूल भौतिक जगत् को ही सब कुछ मानकर मानसिक क्रियाओं को विलकुल नगण्य सिद्ध किया था। मार्क्स के लिए भौतिक जगत् ही सब कुछ था, किन्तु इसके विपरीत क्रोचे के लिए मन और उसके व्यापार ही एकमात्र महत्त्व रखनेवाले तत्त्व हैं।

क्रोचे के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र में उनका वास्तविक महत्त्व है अथवा नहीं। उनका प्रयोजन सौन्दर्य और कला की मूलभूत विशेषताओं से था, और वस्तुतः वे दार्शनिक थे, समीक्षक नहीं। उनका अभिव्यंजनावाद-सिद्धान्त सभी कलाओं के लिए समान रूप से महत्त्व रखता है और उसके विस्तार के अन्तर्गत काव्य के अतिरिक्त अन्य सभी ललित कलाएँ आ जाती हैं। ऐसी दशा में हम क्रोचे को काव्य-समीक्षकों की श्रेणी में प्रमुख स्थान नहीं दे सकते। तब भी उनके लेखों से साहित्य की आत्मा पहचानने में यथेष्ट सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ, रोमाण्टिक साहित्यदर्शन के सम्यक् ज्ञान और मूल्यांकन के लिए यही पर्याप्त नहीं है कि हम कॉलरिज और शेली के विचारों को जान लें,

वरन् यह भी अपेक्षित है कि क्रोचे की विविध स्थापनाओं का अध्ययन भली भाँति करें। मूलतः क्रोचे रोमाण्टिक सिद्धान्त का ही प्रतिपादन और समर्थन करते हैं, यद्यपि उनके प्रमाण और तर्क नवीन हैं। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का समीक्षा पर सीधा प्रभाव भी पड़ा है। अमेरिकी विचारक स्पिनगार्न ने जिस 'नवीन' समीक्षा के बारे में कुछ विस्तार से लिखा है, वह क्रोचे की देन है। ऑलिवर एल्टन नामक सुविख्यात अँगरेज प्रोफेसर और लेखक के अनेक आलोचनात्मक निबन्धों पर क्रोचे की छाप है। क्रोचे ने स्वयं अनेक सुविख्यात कवियों और उपन्यास-लेखकों का मूल्यांकन प्रस्तुत किया है और इटली में न केवल पिराण्डेलो जैसे साहित्य-प्रणेता वरन् अनेक आलोचक भी क्रोचे के प्रभाव के अन्तर्गत दिखाई देते हैं।

क्रोचे के सौन्दर्य-दर्शन में केन्द्रीय तत्त्व है इण्ट्युशन, सहज प्रकाश्य। पूर्ववर्त्ती दार्शनिक चिन्तन में स्वयंप्रकाश्य को पर्याप्त मान्यता नहीं मिली थी। इसी त्रुटि को मिटाने के लिए क्रोचे ने अपना मत प्रतिपादित किया। उनका निश्चित मत है कि स्वयंप्रकाश्य अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है, जो बुद्धि के अधिकार के बाहर है। उन्होंने इस भ्रान्त धारणा का खण्डन किया है कि बिना बुद्धि (कन्सेप्ट) के स्वयंप्रकाश्य सम्भव नहीं होता। सच तो यह है कि बौद्धिक तत्त्व भी स्वयंप्रकाश्य में घुल-मिलकर उसी का रूप ग्रहण करते हैं। यदि किसी दुःखान्त नाटक में कोई पात्र गम्भीर चिन्तनयुक्त कथन करता है, तो ऐसे दार्शनिक विचार भी वास्तव में काव्यात्मक गुणों से अनुरंजित हो जाते हैं। क्रोचे ने सहजप्रकाश्य और प्रत्यक्ष ज्ञान में भी भेद किया है। जो यथार्थ वस्तुएँ हमारे सामने हैं, उनका सहज ज्ञान होता है, किन्तु हमारे मन में ऐसी वस्तुओं और दृश्यों का भी चित्र उभरता है, जो हमारे सामने प्रत्यक्ष नहीं हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि स्वयंप्रकाश्य प्रत्यक्ष दर्शन तक ही सीमित नहीं है। आगे चलकर यह भी बतलाया गया है कि स्वयंप्रकाश्य दिक् और काल की परिधि में निबद्ध नहीं रहता, वरन् उनसे स्वतन्त्र है।

स्वयंप्रकाश्य की ऊपरी सीमा पर स्थित बुद्धि और तर्क स्थान पाते हैं। उसकी निचली सीमा पर संवेदनाएँ निवास करती हैं। संवेदनाएँ अस्थिर एवं अरूप होती हैं और हम उन्हें स्वयंप्रकाश्य की आवश्यक सामग्री-मात्र मान सकते हैं। स्वयंप्रकाश्य और अभिव्यंजना में रूप प्रमुख रूप से विद्यमान रहता है, इसलिए संवेदना एवं स्वयंप्रकाश्य तथा उसके निखरे हुए रूप, अभिव्यञ्जना, में सुनिश्चित भेद है। संवेदनाओं के अधिक जटिल एवं संयुक्त रूप को भी स्वयंप्रकाश्य से भिन्न मानना पड़ेगा ; क्योंकि जटिलता और पारस्परिक संयोग-मात्र से उनमें स्वयंप्रकाश्य के गुण नहीं आ जाते। संवेदनाओं के निरूपण को हम स्वयं-प्रकाश्य तभी मानेंगे जब उनसे समुचित इमेज, अर्थात् मूर्त्ति या बिम्ब की सृष्टि होती है। ऐसा न होने पर निरूपण असफल और वैशिष्ट्य रहित होता है।

क्रोचे ने स्वयंप्रकाश्य के रूप-निर्धारण में पहले तो सम्भावित भ्रम का निराकरण किया है और यह बताया है कि स्वयंप्रकाश्य किन मानसिक क्रियाओं से भिन्न है। तत्पश्चात् उन्होंने स्वयंप्रकाश्य एवं अभिव्यंजना की एकरूपता को प्रतिपादित किया है। मूलतः दोनों एक ही हैं और समुचित अभिव्यंजना ही कृतित्व का मूल एवं उद्देश्य है। इस सम्बन्ध में क्रोचे ने लिखा है :

"Every true intuition of representation is also expression. That which does not objectify itself in expression is not intuition or representation, but sensation and mere natural fact. The spirit only intuites in making, forming, expressing He who separates intuition from expression never succeeds in reuniting them."

स्वयंप्रकाश्य के उद्भासित होने और उसके रूप से मन को आलोकित होने को अभिव्यञ्जना कहते हैं। सामान्य भाषा में अभिव्यञ्जना से प्रयोजन होता है—शब्दों द्वारा अभिव्यक्ति से। कला में शब्दों के अतिरिक्त अभिव्यक्ति के अन्य माध्यम भी होते हैं। अभिव्यञ्जना-सिद्धान्त की महत्त्वपूर्ण स्थापना है कि बाह्य प्रकाशन अथवा प्रेषण के बिना ही अभिव्यञ्जना की सम्पूर्ण प्रक्रिया सम्पन्न हो जाती है। दैनिक जीवन में स्वयंप्रकाश्य और अभिव्यंजना के छोटे-बड़े उदाहरण निरन्तर मिला करते हैं। कलाकार के स्वयंप्रकाश्य अधिक विस्तृत, समृद्ध एवं सुस्पष्ट होते हैं। बिना इस प्रकार की मानसिक अभिव्यञ्जना के महान् कला-कृतियाँ सम्भव नहीं होतीं और न सौन्दर्य की सृष्टि ही होती है। यदि हमारी कल्पना प्रखर है और हमारा सहजज्ञान समर्थ है, तभी हम उच्चकोटि के कवि, चित्रकार अथवा मूर्त्तिकार बन सकते हैं।

क्रोचे ने अपनी सौन्दर्यशास्त्र-विषयक पुस्तक के महत्त्वपूर्ण प्रथम अध्याय के अन्त में अपने निष्कर्षों को संक्षेप में निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत किया है :

"....We may thus add this to the various verbal descriptions of intuition, noted at the beginning : intuitive knowledge is expressive knowledge. Independent and autonomous in respect to intellectual function, indifferent to later empirical discriminations, to reality and to unreality, to formations and apperception of space and time, which are also later ; intuition or representation is distinguished as form from what is felt and suffered, from the flux or wave of sensation, or from psychic matter; and this form, this taking possession, is expression. To intuite is to express ; and nothing else (nothing more, but nothing less) than to express."

क्रोचे ने स्वयंप्रकाश्य, अभिव्यञ्जना और कला की एकता पर विशेष बल दिया है। स्वयंप्रकाश्य ही अभिव्यञ्जित होकर कला के रूप में प्रस्फुटित होता है। अभिव्यञ्जना और कला दोनों में ही रूप का प्राधान्य होता है। अरूप में रूप की सृष्टि को ही अभिव्यञ्जना एवं कला कहते हैं। इस भाँति यह सिद्ध होता है कि स्वयंप्रकाश्य कला का अनिवार्य कारण है, अर्थात् स्वयंप्रकाश्य के बिना कला की कल्पना नहीं हो सकती। क्रोचे ने अन्य विचारकों के इस मत का खण्डन किया है कि कला के लिए विशिष्ट प्रकार के स्वयंप्रकाश्य आवश्यक होते हैं अथवा स्वयंप्रकाश्य में असाधारण तीव्रता होने पर ही कला का सूत्रपात होता है। क्रोचे ने स्वयंप्रकाश्यों में विभेद नहीं किया है और न यही माना है कि उनमें कुछ दूसरों की

अपेक्षा कलात्मक निर्माण के अधिक उपयुक्त उपादान होते हैं। भेद केवल व्यापकता और समृद्धि में होता है; क्योंकि जो अधिक साधन-सम्पन्न और सुस्पष्ट स्वयंप्रकाश्य होते हैं, उन्हीं पर कला आधृत रहती है। क्रोचे ने कला को रूप माना है और इस भाँति वह प्राचीन रूप-वादियों की परम्परा में है। प्लाटिनस ने सामान्य रूप और विशिष्ट रूप में भेद किया है। किसी प्रस्तर-खण्ड में कुछ-न-कुछ रूप तो होता ही है, किन्तु उसपर जब कोई विशिष्ट रूप अंकित कर दिया जाता है, तब उसकी रूपवत्ता अधिक स्पष्ट होकर कलात्मक बन जाती है। रूप की कुछ ऐसी ही कल्पना क्रोचे ने भी की है। हमारी संवेदनाएँ वस्तु अथवा सामग्री का काम करती हैं, किन्तु अभिव्यंजना से रूप का जनन होता है। क्रोचे अभिव्यंजना-प्रसूत कलात्मक रूप को न तो संवेदनाओं पर निर्भर मानते हैं और न उसे संवेदना अथवा वस्तु से सम्बद्ध मानते हैं, जैसे फिल्टर से छानने पर जो शुद्ध जल प्राप्त होता है, वह अशुद्ध जल से भिन्नता और अभिन्नता दोनों रखता है, वैसे ही अभिव्यंजना और उससे प्राप्त रूप वस्तु से भिन्न हैं। क्रोचे ने रूप की स्वतन्त्र सत्ता को सिद्ध करने लिए अनेक प्रमाण दिये हैं। रूप को उन्होंने अनुकरणात्मक निरूपण, भावना आदि से नितान्त भिन्न माना है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कला की यह व्याख्या नितान्त मौलिक है।

क्रोचे ने सहजज्ञान अथवा अभिव्यंजना के स्वायत्त्व को अनेक प्रमाणों और तर्कों द्वारा सिद्ध किया है। कला की वास्तविक अभिव्यक्ति मन में होती है, अतः वह अपने में पूर्ण और स्वतन्त्र है। इस भाँति अभिव्यंजनावाद और प्रभाववाद में कुछ समानता दिखाई देती है। प्रभाववादी भी सौन्दर्यानुभूति की पृथक् और आत्मनिर्भर सत्ता को विशेष महत्त्व देते हैं। प्रश्न यह उठता है कि अभिव्यंजनावाद में कलागत वाह्य प्रकाशन और प्रेषण का क्या स्थान है। निस्सन्देह, क्रोचे ने उन्हें कला का अनिवार्य गुण नहीं, सहायक साधन-मात्र माना है। सामाजिक उपभोग एवं सहृदय-संवेद्य होने के लिए कला को वाह्य प्रकाशन का आश्रय लेना पड़ता है, किन्तु वाह्य-निरूपण की समस्त प्रक्रिया ज्ञान की अपेक्षा इच्छाशक्ति से निकटतर सम्बन्ध रखती है। हम इच्छा करते हैं कि जो कला मस्तिष्क में पूर्णत्व को प्राप्त कर चुकी है, वह दूसरों के आनन्द-उपभोग, अथवा नैतिक परिष्कार के लिए उपलब्ध हो। व्यावहारिक दृष्टि से जबतक अभिव्यंजना अपने मूर्त्त रूप में प्रकट होकर प्रेषित नहीं होती, तबतक सहृदय अथवा आलोचक के मन में अभिव्यंजना की पुनरावृत्ति नहीं होगी। इसी दृष्टि से अभिव्यंजनावाद में वाह्य-निरूपण को गौण रूप में स्वीकार किया गया है। क्रोचे ने इसके लिए कला का मुख्य द्वार बन्द कर दिया है, किन्तु वातायन से उसका प्रवेश रोका नहीं जा सकता। वाह्य-प्रकाशन एवं उसके निमित्त आवश्यक व्यावहारिक नियमों के ज्ञान के सम्बन्ध में क्रोचे का मत निम्नलिखित है :

"The fact of the production of physical beauty implies as has already been remarked, a vigilant will, which persists in not allowing certain visions, intuitions or representations to be lost. Such a will must be able to act with the utmost rapidity and as it were instinctively, and may also need long and laborious deliberations. In any case, thus and

thus only does the practical activity enter into relations with the aesthetic, that is to say, no longer as its simple accompaniment, but as a really distinct moment of it. We cannot will or not will to externalize it, or rather, to preserve and communicate to others, or not, the externalization produced.

This volitional fact of externalization is preceded by a complex of various kinds of knowledge. These are known as technique, like all knowledge which precedes a practical activity. Thus we talk of an artistic technique in the same metaphorical and elliptic manner that we talk of the physically beautiful."

इस उद्धरण से क्रोचे के अभिव्यंजनावाद-सिद्धान्त की एक प्रमुख विशेषता का पता चलता है। बाह्य प्रकाशन की व्यावहारिक उपयोगिता को तो माना गया है, किन्तु कला के मौलिक स्वरूप में उसका कोई स्थान नहीं है। अभिव्यंजना ज्ञानरूप है और बाह्य प्रकाशन कर्मरूप। विना ज्ञान के कर्म असम्भव है, किन्तु ज्ञान का अस्तित्व कर्म पर आश्रित नहीं रहता। वह अपने में ही परिपूर्ण है। इस महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन से कई गम्भीर निष्कर्ष निकलते हैं। पहली बात यह है कि अभिव्यंजना- सिद्धान्त की स्वीकृति के उपरान्त ऐसी समस्त आलोचना, जो शिल्प-विधान एवं शैलीगत विशेषताओं पर आधृत है, अनावश्यक प्रतीत होने लगती है। युगों से शास्त्रज्ञ समीक्षक काव्य में अलंकारों, शब्दशक्तियों, छन्द, लय आदि की खोज करते आये हैं और यही उपकरण उनके मूल्यांकन के आधार रहे हैं। क्रोचे ने इस प्राचीन परिपाटी का परित्याग किया है। ऐसे ही साहित्यिक वर्गीकरण को भी क्रोचे ने अमान्य घोषित किया है। अभिव्यंजना को अखण्ड मानते हुए उन्होंने कला के क्लासिकल, रोमाण्टिक, प्राचीन, मध्ययुगीन, आधुनिक आदि भेदों को निरर्थक और अनावश्यक बताया है। अभिव्यंजना के विस्तार में भेद हो सकता है और उसकी सफलता में भी मात्रा-भेद मान सकते हैं, किन्तु रूप को कोटियों, विधाओं और शैलियों में वर्गीकृत करके बाँध देना क्रोचे के मतानुसार न तो न्यायसंगत है, न वांछनीय।

कला की उपयोगिता और उसके नैतिक प्रभाव के सम्बन्ध में प्राचीन युगों से आज-तक विभिन्न प्रकार के मत प्रकट किये गये हैं। क्रोचे ने इस प्रश्न पर महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं। उनका कथन है कि उपयोगिता और सदाचार का सम्बन्ध बाह्य प्रकाशन से है, कलात्मक सौन्दर्य अथवा अभिव्यंजना से नहीं। प्रोपेगैण्डा भी बाह्य प्रकाशन का ही विकृत रूप है। ऐसे विज्ञापन में प्रयोजन साफ-साफ दिखाई देता है। जहाँ वह इतना स्पष्ट नहीं रहता, वहाँ भी बाह्य प्रकाशन का आर्थिक, नैतिक अथवा मनोरंजन से सम्बन्धित कोई-न-कोई उद्देश्य अवश्य छिपा रहता है। कला जब सिद्धान्त के क्षेत्र से आगे बढ़ती हुई व्यवहार के क्षेत्र में पदार्पण करती है, तभी उसके सामने प्रयोजन आदि के प्रश्न प्रस्तुत होते हैं। अन्यथा अभिव्यंजना, सौन्दर्य अथवा कला का एक ही प्रयोजन है, मन में सहज ज्ञान को आलोकित अथवा अभिव्यंजित करना। उससे जो सन्तोष और आनन्द मिलता

है, उसका मूल्य हम उपयोगिता अथवा नैतिकता की कसौटी पर कसकर निर्धारित नहीं कर सकते।

स्वयंप्रकाश्य अभिव्यंजना आत्मस्वरूप है। वह अन्तरात्मा की क्रिया और सौन्दर्य का हेतु है। इसी केन्द्रीय तथ्य को ध्यान में रखकर सुन्दर और असुन्दर का भेद किया गया है। प्रतिक्षण मन में उठनेवाले आवेग, हमारी संवेदनाएँ, हमारे मन पर पड़नेवाले क्षणिक प्रभाव—ये सभी स्वयं प्रकाश्य द्वारा रूप ग्रहण करते हैं। सुन्दर वही है, जिसमें अभिव्यंजना द्वारा हमारी संवेदनाएँ सफलतापूर्वक रूपायित हुई हैं। रूप जितना ही सुन्दर और सुस्पष्ट होकर अभिव्यंजित हुआ है, वह उतना ही सुन्दर प्रतीत होता है। इसके विपरीत अभिव्यंजना की असफलता को ही कुरूपता कहते हैं। इन्द्रियगोचर जगत् में जो सुन्दर अथवा असुन्दर है, उसके अनुकरण-मात्र से कला में सुन्दरता अथवा असुन्दरता की सृष्टि नहीं होती। जो सामान्य अर्थ में सुन्दर है, वह भी सफल अभिव्यंजना द्वारा कला में सुन्दर बन जाता है। दूसरी ओर भौतिक अर्थ में सुन्दर पदार्थ मानसिक अभिव्यक्ति की त्रुटि के कारण असुन्दर बनकर प्रकट होता है। क्रोचे ने स्वयंप्रकाश्य अथवा सहजज्ञान के सरल और जटिल—ये दो भेद भी माने हैं। दैनिक जीवन में हम निरन्तर सहजज्ञान से काम लेते हैं, किन्तु ऐसा सहजज्ञान क्षणिक और अल्प महत्त्ववाला होता है। जब चित्रकार, मूर्त्तिकार अथवा कवि कोई उच्चकोटि की रचना करता है, तब उसका आधारभूत स्वयंप्रकाश्य विस्तृत एवं समृद्ध होता है। कला का उद्देश्य भी क्रोचे ने अभिव्यंजना के आधार पर ही निर्धारित किया है। उनके लिए अर्थवादी, नैतिकतावादी एवं भावनावादी उद्देश्य असन्तोषप्रद एवं त्याज्य हैं। नैतिक एवं आर्थिक प्रश्नों का सम्बन्ध व्यावहारिकता से है, ज्ञान से नहीं। भावना (फीलिंग) इन्द्रियगोचर बाह्य तत्त्वों पर निर्भर रहती है। कोई वस्तु देखते ही सुन्दर प्रतीत होती है, कोई नाम तत्काल सुनने में मधुर प्रतीत होता है। ऐसी अनुभूति से भावनाएँ जाग्रत् एवं परितुष्ट होती हैं। क्रोचे इस प्रकार के तात्कालिक प्रभाव और तज्जनित आनन्दानुभूति को कलात्मक आनन्द से भिन्न मानते हैं। ऐसे आनन्द का उत्स वस्तु (कण्टेण्ट) में मिलता है, किन्तु कलात्मक आनन्द रूपजन्य होता है। यह स्मरण रखने की बात है कि क्रोचे के सिद्धान्त में सम्यक् अभिव्यंजना ही कला है तथा सम्यक् रूप और सम्यक् अभिव्यंजना अभेद्य हैं। इस भाँति हम इस निष्कर्ष तक पहुँचते हैं कि क्रोचे के मतानुसार कलात्मक आनन्द उस विशिष्ट प्रकार के आनन्द को कहेंगे, जिसका आविर्भाव सम्यक् सहजज्ञान के प्रकट और अभिव्यंजित होने के कारण होता है। यह आनन्द उस सामान्य आनन्द से भिन्न है, जिसकी चर्चा कला के उद्देश्य के प्रसंग में प्राचीन काल से होती चली आई है।

क्रोचे ने सामान्य भावना को अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में अत्यन्त अल्प महत्त्व दिया है और ऐसे सभी मतों का खण्डन किया है, जो उसे कला का अनिवार्य ध्येय और साध्य मानते हैं। किन्तु, भावना का विस्तार सर्वतोमुखी है, उसकी व्याप्ति इतनी विस्तृत है कि कला की व्याख्या में हम उसे बिलकुल अलग नहीं छोड़ सकते। यही नहीं, अर्थ और नीति, दर्शन और विज्ञान में भी उसका समावेश हो जाता है। फलतः क्रोचे को भी अपने वाद के निबन्धों और

भाषणों में उसकी सत्ता आंशिक रूप में माननी ही पड़ी। इसीलिए उन्होंने लिरिकल स्पिरिट को ही कला का आत्मतत्त्व और केन्द्र-बिन्दु माना है। उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि सभी कविता लिरिकल होती है एवं प्रबन्धकाव्य भी लिरिक का ही प्रसार-मात्र है। अपनी व्यावहारिक समीक्षा में क्रोचे ने नाटकों और महाकाव्यों तक में मुक्तक (लिरिक) के गुणों की ही खोज की है। नीचे हम क्रोचे के ऑक्सफोर्ड-भाषण 'द डिफेन्स ऑफ पोइट्री' से जो उद्धरण दे रहे हैं, उससे क्रोचे की परिवर्त्तित विचारधारा का पता चलेगा :

"The thoughts and actions and emotions of life, when sublimated to the subject-matter of poetry, are no longer the thought that judges, the action effectually carried out, the good and evil, or the joy and pain actually done or suffered. They are all now simply passions and feelings immediately assuaged and calmed, and transfigured in imagery. That is magic of poetry : the union of calm and tumult, of passionate impulse with the controlling mind which controls by contemplating. It is triumph of contemplation, but a triumph still shaken by past battle, with its foot upon a living though vanquished foe. Poetic genius chooses a strait path in which passion is calmed and calm is passionate : a path that has no one side merely natural feeling and on the other the reflection of criticism which is twice removed from nature; a path from which minor talents find it but too easy to slip into an art either convulsed and distorted by passion, or void of passion and guided by principles of the understanding. Then they are called 'romantic' or classical."

क्रोचे ने कला-दर्शन को आदर्शवाद की चरम सीमा तक पहुँचा दिया है। उसमें भौतिकता, व्यावहारिकता और विशुद्ध बौद्धिकता के लिए स्थान नहीं है। ज्ञान की ऐसी सैद्धान्तिक प्रक्रिया को, जिसमें संवेदनाएँ स्वयंप्रकाश्य के रूप में विशिष्ट रूप ग्रहण करती हैं, कला कहते हैं। समस्त प्रक्रिया कलाकार के मन में ही सम्पन्न होती है। अतः वही उसका एकमात्र भोक्ता और समीक्षक हो सकता है। कला-निर्माण एवं रसास्वादन, रचना और आलोचना, सभी एक हो जाते हैं। कला के इस ऐकान्तिक स्वरूप को यदि हम अक्षरशः मान लें, तो एक विचित्र परिस्थिति सामने आ जाती है। उसी से बचने के लिए क्रोचे ने बाह्य प्रकाशन की आवश्यकता को मान्यता प्रदान की है। बाह्य प्रकाशन से प्रेषण का कार्य होता है और अन्ततोगत्वा रसिक अथवा आलोचक के मन में अभिव्यंजना का प्रतिरूप उत्पन्न होता है। स्वयंप्रकाश्य उसी प्रकार निखरकर और रूपायित होकर आलोचक के मन में उभर आता है, जैसे प्रणेता के मन में। अतएव, मूल्यांकन सम्भव हो जाता है। क्रोचे और उनके अनुयायियों ने इस मत को बार-बार दुहराया है कि समीक्षा का एक ही प्रतिमान है, कला में सफल अभिव्यंजना हुई है अथवा नहीं। समीक्षा का यह रूप उतना ही आदर्शवादी और आत्मनिष्ठ है जितना क्रोचे द्वारा निरूपित कला का रूप।

ऐसी समीक्षा में पूर्वनिश्चित नियमों और भेद-प्रभेदों के लिए कोई स्थान नहीं। न तो महाकाव्य और न नाटक के परम्परागत नियम उपयोगिता रखते हैं। जैसा स्पिन्गर्न महोदय का कथन है—'रंगशालाओं की कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि नाट्य-कृतियों का अभिनय वास्तव में मन की रंगशाला में होता है।'

क्रोचे के सौन्दर्यदर्शन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उसमें सौन्दर्य और कला की कल्पना को अनेक इतर तत्त्वों से पृथक् कर दिया गया है। उसने एक ओर तो भौतिकवाद और यथार्थवाद को चुनौती दी है और दूसरी ओर कामवासना और कला को एक सूत्र में बाँधनेवाले नवीन मनोविज्ञान को परित्याज्य घोषित किया है। नैतिकता और व्यावहारिकता को कला की परिधि से बाहर रखकर क्रोचे ने बौद्धिकता को भी कलातत्त्व से पृथक् कर दिया। यद्यपि मनोविज्ञान के पण्डित सहजज्ञान और बौद्धिक प्रत्ययों के अनिवार्य भेद को मानने में संकोच करते हैं, तथापि क्रोचे ने ऐसे अनेक स्वयंप्रकाश्यों का उदाहरण दिया है, जिनमें बौद्धिकता का अंश नहीं मिलता है। इस भाँति स्वयंप्रकाश्य अभिव्यंजना का स्वायत्त्व सिद्ध होता है। क्रोचे ने सभी शैलियों, विधाओं, परम्पराओं आदि के भेद को असिद्ध करते हुए कला-समीक्षा को स्वतन्त्र और आत्मनिष्ठ बना दिया है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि क्रोचे के कला-दर्शन में प्रमुख आग्रहकर्त्ता, अर्थात् कवि, चित्रकार आदि पर है और बाह्य प्रकाशन का माध्यम उतना ही गौण है, जितना सहृदय और समीक्षा का। इसी भाँति क्रोचे ने उन सभी बाह्य प्रभावों को अल्प मान्यता प्रदान की है जो सामान्य स्वीकृति से कला का रूप निर्धारित करते हैं। सामाजिक, ऐतिहासिक, नैतिक, आर्थिक प्रभावों आदि को उन्होंने केवल सीमित मात्रा में महत्त्व प्रदान किया है। इतिहास को वे विधायक तत्त्व मानते हैं, किन्तु उस प्रभाव की व्याख्या उन्होंने अपने ढंग से की है। उपर्युक्त कारणों से क्रोचे का सिद्धान्त प्रभाववाद के अत्यन्त निकट पहुँच गया है। क्लासिकल नियमों और उपनियमों की अवहेलना में क्रोचे इतने सचेष्ट दिखाई देते हैं कि वे अनायास रोमाण्टिक दुर्बलताओं के शिकार बन जाते हैं। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र में क्रोचे के सिद्धान्तों की केवल सीमित उपादेयता है; क्योंकि क्रोचे का दृष्टिकोण नकारात्मक अधिक और स्वीकारात्मक कम है। उन्होंने युगों से चली आनेवाली कोटियों एवं मान्यताओं को अग्राह्य बताया है, किन्तु स्वयं उनके सिद्धान्त में कई ऐसी बातें हैं, जिनसे पूरा सन्तोष नहीं होता। उदाहरणार्थ, बाह्य-प्रकाशन की उपेक्षा और बाह्य रूपविधान की अस्वीकृति, कल्पना का परित्याग आदि पाठकों को खटकनेवाली बातें हैं।

छायावाद-काल में हिन्दी-जगत् के अन्तर्गत क्रोचे और अभिव्यंजनावाद की काफी चर्चा हुई। छायावाद को समझने का जो प्रयास हुआ, उसमें आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने एक विशिष्ट विचारधारा का अनुसरण किया। उनका मत है, यूरोपीय कल्पनावाद, प्रभाववाद एवं अभिव्यंजनावाद के सहारे ही हम छायावाद के वास्तविक स्वरूप को ग्रहण कर सकते हैं। ये तीनों कला-सिद्धान्त मानसिक क्रियाओं को ही प्रमुख महत्त्व प्रदान करते हैं, अतः दर्शन की आदर्श वादी परम्परा में आते हैं। छायावाद की स्वानुभूतिमूलक कविता

के मूल्यांकन का यह स्तुत्य प्रयास था। कल्पनावाद का प्रभाव तो छायावादी काव्य पर निश्चय ही पड़ा; क्योंकि इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि छायावादी कवियों ने अँगरेज रोमाण्टिक कवियों से बहुत-कुछ सीखा। प्रभाववाद और प्रतीकवाद का भी प्रभाव उनकी कविता पर पड़ा, इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अभिव्यंजनावाद का निश्चित प्रभाव देखने में नहीं आता, यद्यपि छायावादी कविता में मानस-पटल पर उभरनेवाले बिम्बों और चित्रों का सर्वत्र बाहुल्य है। किन्तु, इन उपकरणों और विशेषताओं को हम दूसरे ही आधार पर समझ सकते हैं, उनकी स्वीकृति के लिए अभिव्यंजनावाद की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

आचार्य शुक्ल ने अभिव्यंजनावाद और वक्रोक्ति की समानता पर विशेष बल दिया है। उनका कथन है—"और कलाओं को छोड़कर यदि हम काव्य को ही लें, तो उस अभिव्यंजनावाद' को 'वाग्वैचित्र्यवाद' ही कह सकते हैं और इसे अपने यहाँ के पुराने 'वक्रोक्तिवाद' का विलायती उत्थान मान सकते हैं। इन्हीं दोनों वादों की दृष्टि से यह कहा जाने लगा कि समालोचना के क्षेत्र से अब लक्षण, नियम, रीति, काव्यभेद, गुणदोष, छन्दो-व्यवस्था आदि का विचार उठ गया।" इस उद्धरण के दूसरे वाक्य में स्पिन्गर्न महोदय के उस प्रसिद्ध निबन्ध का हवाला है, जिसे हम अभिव्यंजनावादी समीक्षा का घोषणापत्र कह सकते हैं। उसकी चर्चा करते हुए हम ऊपर लिख आये हैं कि स्पिन्गर्न महोदय ने 'अभिव्यंजनावाद' के आधार पर मानसिक क्रियाओं को ही आलोचना का मूलाधार और अन्तिम प्रतिमान माना है, तथा बाह्य निरूपण, शैली, नियमन आदि की पूर्ण उपेक्षा की है। वक्रोक्ति में भी कथन का चमत्कार ही काव्य का परम हेतु माना गया है और उसके आगे अन्य सभी साधन और उद्देश्य गौण सिद्ध किये गये हैं। इस भाँति 'अभिव्यंजना-वाद' और 'वक्रोक्तिवाद' में थोड़ी-सी समानता अवश्य है, किन्तु यह केवल बाहरी साम्य है, सैद्धान्तिक नहीं। उद्धरण के प्रथम वाक्य में आचार्य शुक्ल ने 'अभिव्यंजनावाद' और 'वक्रोक्तिवाद' में केवल देशभेद माना है, अन्यथा वे एक हैं। इस मत को स्वीकार करना कठिन है; क्योंकि वक्रोक्ति तो बाह्य प्रकाशन का ही एक विशिष्ट रूप है। उसमें अर्थ की सत्ता रहती है, किन्तु कथन-शैली का चमत्कार ही उक्ति की सफलता अथवा असफलता का निर्णायक आधार होता है। कुन्तक की प्रसिद्ध परिभाषा निम्नलिखित है :

**वक्रोक्तिः, प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी, वैदग्ध्यभङ्गी-भणितिः। वैदग्ध्यं विदग्धभावः, कविकर्म कौशलं, तस्य भङ्गीविच्छित्तिः, तया भणितिः। विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।**

अनुवाद :

(प्रश्न) वह (शब्द, अर्थ दोनों का एक ही अलंकार) कौन-सा है ? (उत्तर कहते हैं) वक्रोक्ति ही शब्द तथा अर्थ दोनों का एकमात्र अलंकार है। प्रसिद्ध कथन से भिन्न प्रकार की विचित्र वर्णन-शैली ही वक्रोक्ति है। वैदग्ध्य, अर्थात् चतुरतापूर्ण कवि-कर्म (काव्य-निर्माण) का कौशल उसकी भंगी, शैली या शोभा उससे भणिति, अर्थात् (वर्णन) कथन करना। विचित्र (असाधारण) प्रकार की वर्णन-शैली ही वक्रोक्ति कहलाती है।

उपर्युक्त परिभाषा में शैली एवं उक्ति-चमत्कार पर जो आग्रह है, उसी को ध्यान में रखकर शुक्लजी ने 'वाग्वैचित्र्यवाद' प्रयुक्त किया है। यदि अभिव्यंजना, अर्थात् एक्सप्रेशन को हम सामान्य अर्थ में लें, तो शुक्लजी के कथन में कुछ सार अवश्य मिलता है। वक्रोक्ति, एक्सप्रेशन की विशेषता का ही नाम है, किन्तु क्रोचे ने तो अभिव्यंजना से कुछ दूसरा ही अभिप्राय व्यक्त किया है। अभिव्यंजना, क्रोचे के मत से, विशिष्ट स्वयंप्रकाश्य ज्ञान को कहते हैं। यद्यपि शब्दों की उपयोगिता के बारे में क्रोचे ने कुछ विचार व्यक्त किये हैं, तथापि शब्द और उसकी विभिन्न शक्तियाँ, रूपक, अलंकार आदि सभी स्वयंप्रकाश्य की परिधि से बाहर रह जाते हैं। बिम्ब और प्रतीक अपेक्षाकृत अधिक निकट सिद्ध होते हैं। इस भाँति शुक्लजी के कथन की तह में भ्रम दिखाई देता है, जो अभिव्यंजना, एक्सप्रेशन के नवीन और प्राचीन अर्थों में भेद न करने से उत्पन्न हुआ है।

शुक्लजी ने अपने निबन्ध 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद-सिद्धान्त की आलोचना की है। रस-सिद्धान्त में विभावन-व्यापार द्वारा आलम्बन साधारणीकृत हो जाता है, अतः एक और अनेक का भेद मिट जाता है। क्रोचे द्वारा प्रतिपादित अभिव्यंजना की क्रिया वस्तु-निरपेक्ष एवं भावना-निरपेक्ष है और उसका ऐकान्तिक स्वरूप होता है। बाहरी दृष्टि से रस और 'अभिव्यंजनावाद' में थोड़ी-सी समानता दिखाई देती है, किन्तु भेद कहीं अधिक है। यद्यपि रस की सृष्टि मन में होती है तथापि उसके साधन भौतिक तत्त्व भी होते हैं और भावना से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। अभिव्यंजना स्वतन्त्र मानसिक क्रिया है और उसके लिए भावना और वस्तु-जगत् की आवश्यकता नहीं। एक अन्तर और है, अभिव्यंजनावाद में अपेक्षाकृत कलाकार का अधिक महत्त्व है, सहृदय का कम। रस सहृदय-संवेद्य होता है। सहृदय के मन की वासना जाग्रत् होती है, अतः उसका भी विशेष महत्त्व है।

### (आ) टी० एस्० इलियट

टी० एस्० इलियट अँगरेजी के आधुनिक कवियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। आलोचक और विचारक की हैसियत से भी उनका स्थान अत्यन्त उच्च है। सबसे बड़ी बात यह है कि उनके काव्य और चिन्तन में एकरूपता मिलती है, जिसके समझ लेने से उनकी कविता उतनी जटिल और अस्पष्ट नहीं लगती, जितनी वह सामान्य जनों को प्रतीत होती है। अपने आलोचनात्मक निबन्धों में टी० एस्० इलियट ने जिन काव्यगत विशेषताओं और सिद्धान्तों का उल्लेख किया है, उन्हीं को उन्होंने अपनी कविता में व्यवहारात्मक रूप दिया है। ऐसे ही उनके इतिहास और संस्कृति-सम्बन्धी विचार उनकी कविता और आलोचना से ध्वनित हुए हैं। उनकी आलोचना मुख्यरूप से गद्य में ही लिखी गई है, किन्तु यदाकदा उनके काव्य में भी सैद्धान्तिक महत्त्व रखनेवाले कथन मिलते हैं। यद्यपि उनकी गद्य-शैली कविता की अपेक्षा सरल है, तथापि गद्य और पद्य दोनों पर क्लासिकी, अर्थात् शास्त्रीय पूर्वाग्रहों की छाप है। गद्य में भी विचारों का वैसा ही संश्लिष्ट गुम्फन हुआ है जैसा कविता में।

१९वीं और २०वीं शताब्दी में सैद्धान्तिक समीक्षा के अन्तर्गत प्रकट होनेवाली अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों की चर्चा हम पिछले अध्यायों में कर आये हैं। जर्मन दार्शनिकों से प्रभावित होकर कॉलरिज ने कल्पना की स्वतन्त्र सत्ता तथा उसके व्यापक कार्य पर प्रकाश डाला। प्रभाववादियों ने मन पर सौन्दर्य के संस्पर्श से पड़नेवाले प्रभाव को ही सब कुछ मान लिया। क्रोचे ने एक ओर तो कला के क्षेत्र से कोरी भावना को निष्कासित किया और दूसरी ओर, वाह्य जगत् के स्थूल तत्त्वों को भी महत्त्वशील नहीं माना। स्वयंप्रकाश्य ज्ञान पर आधृत उनका कला-दर्शन मूलतः स्वच्छन्दतावादी है। टी० एस्० इलियट ने स्वच्छन्दतावाद के इस दीर्घकालीन आधिपत्य को अस्वीकार करते हुए क्लासिकल मत का प्रतिपादन किया। उन्होंने मन में उठनेवाले आवेगों को बिलकुल भुला तो नहीं दिया है, किन्तु कला के मूर्त्त रूप को ही विशेष महत्त्व दिया है। कला की पृथक् सत्ता पर टी० एस्० इलियट ने निरन्तर बल दिया है और कला को कलाकार का आत्मप्रकाशन-मात्र माननेवाले सभी सिद्धान्तों की उन्होंने विस्तृत आलोचना की है। काव्य में संघटन, सम्यक् नियोजना आदि पर इलियट महोदय का विशेष आग्रह है। इसलिए, मार्क्सवादी उन्हें फॉर्मलिस्ट कहकर उनकी भर्त्सना करते हैं। यद्यपि टी० एस्० इलियट ने इतिहास और परम्पराओं को काव्य का आधारभूत माना है, तथापि उनका दृष्टिकोण मार्क्सवादी तथा इतर यथार्थवादी समाजवादियों से भिन्न है। वे केवल आर्थिक और ऐतिहासिक तत्त्वों और प्रभावों को उनके स्थूल एवं अपरिष्कृत रूप में उतना महत्त्व नहीं देते, जितना किसी जाति अथवा समाज के सांस्कृतिक उत्तराधिकार को।

टी० एस्० इलियट ने विस्तृत एवं क्रमवद्ध रीति से किसी नवीन समीक्षा-सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया है। परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा-विषयक उनका प्रसिद्ध निबन्ध नवीन मान्यताओं की व्याख्या चमत्कारपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करता है। यह लेख अत्यन्त मौलिक है और सैद्धान्तिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व रखता है। इस निबन्ध के अतिरिक्त एक-दो लेख और हैं, जो सिद्धान्त-निरूपण की दृष्टि से लिखे गये हैं, किन्तु अधिकांश निबन्धों में व्यावहारिक समीक्षा के साथ घुल-मिलकर ही टी० एस्० इलियट के नवीन सिद्धान्त सामने आये हैं। उदाहरणार्थ शेक्सपियर के 'हैमलेट' के सम्बन्ध में लिखते हुए 'Objective correlative' (वस्तुमूलक प्रतिरूपता) की व्याख्या की गई है। दान्ते-विषयक निबन्ध में दर्शन और काव्य का पारस्परिक सम्बन्ध उद्घाटित किया गया है। एण्ड्रू मार्वेल तथा १७वीं शताब्दी के अन्य अँगरेज कवियों के सन्दर्भ में काव्य-शैली एवं काव्य-व्यवस्था के बारे में नितान्त नवीन बातें कही गई हैं। सामान्यतः हम कह सकते हैं कि टी० एस्० इलियट के प्रत्येक निबन्ध में कुछ-न-कुछ अपूर्व बात अवश्य कही गई है और यह भी ध्यान देने की बात है कि आलोचना के सिद्धान्त-पक्ष और व्यवहार-पक्ष को परस्पर निकट लाने में इस लेखक को अभूतपूर्व सफलता मिली है।

जब सन् १९३८ ई० में टी० एस्० इलियट ने यह घोषित किया कि साहित्य में उनका दृष्टिकोण मूलतः क्लासिकल है, तब पाठकों को काफी आश्चर्य हुआ। उनकी कविता में इतनी चमत्कारपूर्ण नवीनता है कि उसपर परम्परागत शास्त्रीय नियमों का आरोप करना

असम्भव प्रतीत होता है। अनेक बातों में उनकी कविता स्वच्छन्दतावाद की याद दिलाती है। किन्तु, इस धारणा का हमें परित्याग करना पड़ता है, जब हम यह समझ लेते हैं कि क्लासिकल से इलियट का क्या अभिप्राय है। क्लासिसिज्म न तो नैतिकतावाद है और न प्रभाववाद। टी० एस्० इलियट ने कई स्थानों पर मैथ्यू आर्नल्ड की कठोर आलोचना की है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इलियट को उनका नैतिकतावाद पसन्द नहीं है। प्रभाववादियों की भी उन्होंने आलोचना की है और क्षणिक प्रभावों को उन्होंने अविश्वसनीय सिद्ध किया है। इस बात में उनका सीधा मतभेद मिडिल्टन मरी से है, जो वर्त्तमान शताब्दी के प्रमुख सौन्दर्यवादी, प्रभाववादी एवं आनन्दवादी अँगरेज समीक्षक हैं। उनका हवाला देकर इलियट ने क्लासिसिज्म के बारे में निम्नलिखित मत व्यक्त किया है :

"With Mr. Murry's formulation of classicism and romanticism I cannot agree; the difference seems to me rather the difference between the complete and the fragmentary, the adult and the immature, the orderly and the chaotic."

'सफल समीक्षक', 'असफल समीक्षक', 'समीक्षा के उद्देश्य' आदि निबन्धों से इलियट के क्लासिकी दृष्टिकोण का ठीक-ठीक पता लग जाता है। उसके दो आधारभूत तत्त्व हैं—वैयक्तिक और विशिष्ट से ऊपर उठकर निर्वैयक्तिक और सामान्य की स्थापना तथा काव्य में मूर्त्तविधान। रोमाण्टिक काव्य अन्तर्मुखी और शिल्प-विधान में अनिश्चित एवं अस्पष्ट होता है। इसके विपरीत क्लासिकी काव्य में मानसिक प्रवृत्तियों का बाह्य निरूपण होता है। टी० एस्० इलियट ने काव्य में समुचित संघटन और उपयुक्त शिल्प-विधान पर विशेष बल दिया है। उन्होंने यहाँ तक कह डाला है कि रचना और आलोचना एक ही प्रक्रिया के दो रूप हैं और उत्कृष्ट कोटि का कवि कृतित्व के क्षणों में पग-पग पर समीक्षा भी करता जाता है। महाकवियों में समीक्षा की क्रिया निष्प्रयास और तत्काल सम्पन्न होती है, इसलिए उसपर दूसरों का ध्यान ही केन्द्रित नहीं होता। समीक्षा में इलियट ने तुलना और विश्लेषण को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया है और माना है कि समीक्षा का मुख्य उद्देश्य कृतियों की व्याख्या करके लोक-अभिरुचि को ठीक करना है :

"Criticism, on the other hand, must always profess an end in view, which, roughly speaking, appears to be the elucidation of works of art and the correction of taste."

टी० एस्० इलियट के आदर्श आलोचक हैं अरस्तू। इससे भी उनके क्लासिकी विश्वासों का ही पता चलता है। अन्य तीन विचारकों का ऋण भी इलियट ने स्वीकार किया है। उनमें सर्वप्रथम हैं, रेमीडी गोर्मो, जिनकी चर्चा हम पिछले अध्यायों में कई बार कर आये हैं। गोर्मो प्रभाववादियों के प्रथम आचार्य थे, किन्तु उनकी कतिपय रचनाओं में इतने सुस्पष्ट और उभरे हुए चित्र अंकित हुए हैं कि उनके आधार पर वर्त्तमान शताब्दी के नव-क्लासिकी मातानुयायी उनको अपना गुरु मान लें तो आश्चर्य की बात नहीं।

दूसरा प्रभाव, जिससे इलियट का क्लासिकी मत निर्धारित हुआ है, फ्रान्सीसी प्रतीकवादियों का है। इन प्रतीकवादियों में 'क्लासिसिज्म' का प्रतिफलन देखने के लिए नवीन दृष्टि अपेक्षित थी। इससे यह भी सिद्ध होता है कि टी० एस्० इलियट की क्लासिसिज्म-सम्बन्धी धारणा परम्परा से कुछ पृथक् है। इलियट पर पड़नेवाले प्रभावों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है टी० ई० हूल्में का प्रभाव। दोनों विचारकों के परम्परा-सम्बन्धी कथन बहुत-कुछ समान हैं, किन्तु इससे कहीं अधिक ध्यान देने योग्य है, मूर्त्त-अभिव्यक्ति-सम्बन्धी धारणा। इलियट के ऑब्जेक्टिव-कोरिलेटिव (वस्तुमूलक प्रतिरूपता) से मिलती-जुलती अनेक बातें हुल्में ने लिखी हैं। वे भावनाओं और विचारों को सुस्पष्ट और मूर्त्त-अभिव्यक्ति प्रदान करने के पक्षपाती थे। इसीलिए बिम्बवादी आन्दोलन का नेतृत्व उनके तथा एजरा पाउण्ड के हाथों में गया है। उनकी कविताओं में सफल बिम्बों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। इन्हीं प्राचीन और नवीन प्रभावों को आत्मसात् करके टी० एस्० इलियट ने अपने आधुनिक क्लासिसिज्म का निर्माण किया है।

उनके प्रसिद्ध निबन्ध (Tradition and the Individual Talent) ('परम्परा एवं वैयक्तिक प्रतिभा') में भी शास्त्रीय प्रवृत्तियों का ही प्रकाशन हुआ है। निश्चय ही यह लेख विशेष महत्त्व रखता है; क्योंकि इलियट के कतिपय सारभूत विचार इसमें मिलते हैं। संक्षेप में यह प्रतिपादित किया गया है कि कविता में कवि का व्यक्तित्व नहीं प्रकाशित होता, वरन् वह केवल माध्यम का काम करता है। परम्परा का स्थान काव्य-रचना में प्रमुख है और कवि की प्रतिभा केवल मध्यस्थ रूप में उसी को काव्य में प्रतिफलित होने में सहायता प्रदान करती है। कविता में व्यक्तित्व का प्रकाशन नहीं होता, वरन् निर्वैयक्तिकीकरण की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। यदि कोई अपनी ही संवेदनाओं अथवा अनुभूतियों में उलझकर उन्हीं को व्यक्त करने का प्रयास करता है, तो उसकी रचनाएँ नगण्य और अल्प मूल्य की होंगी। व्यक्ति की रागात्मक प्रवृत्तियाँ, उसके सुख-दुःख, राग-द्वेष सभी सार्थक और सार्वभौम बनते हैं, जब कवि परम्परागत सांस्कृतिक प्रभावों को अपने माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान करता है। कविता वैयक्तिक भावनाओं का प्रकाशन नहीं, वरन् ऐसी भावनाओं से पलायन है। स्पष्टतया यह स्थापना रोमाण्टिक व्यक्तिवाद के विरुद्ध गम्भीर घोषणा के रूप में स्वीकार की जा सकती है। आन्तरिक चेष्टाओं और क्रियाओं के स्थान पर इलियट ने परम्परा को महत्त्व दिया है, जिसमें इतिहास और संस्कृति के मौलिक तत्त्व अपने अभिनव रूप में निरन्तर सन्निविष्ट होते रहते हैं। इस भाँति बाह्य निरूपण की आवश्यकता पर पुनः बल दिया गया है।

उपर्युक्त निबन्ध की गम्भीरता को ध्यान में रखते हुए हम उसके कतिपय अंश उद्धृत करेंगे। लेखक ने पहले तो परम्परा की व्याख्या की है और फिर काव्य में निर्वैयक्तिकीकरण की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। हम इन दोनों ही विषयों पर कुछ विस्तार से कहेंगे और पाठकों की सुविधा के लिए आवश्यक उद्धरण भी प्रस्तुत करेंगे।

परम्परा के अन्तर्गत अतीत और वर्त्तमान का समन्वय होता है। उसकी अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती रहती है और अपनी प्रगति में जातीय जीवन, कला, दर्शन और

साहित्य के उत्कृष्ट अंशों को सन्निविष्ट करती जाती है। परम्परा कोरी पुनरावृत्ति से भिन्न है; क्योंकि प्रत्येक नवीन सफल रचना के उपरान्त समस्त प्राचीन कृतियों का पुनर्मूल्यांकन आवश्यक हो जाता है। मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन का क्रम चलता है, किन्तु तब भी प्रत्येक सभ्य जाति की अपनी विशिष्ट परम्परा होती है। बिना इस परम्परा के जाने और बिना उसको आधार बनाये कोई कवि सफलतापूर्वक अपना कार्य नहीं कर सकता। यदि परम्परा को भुलाकर केवल वह अपनी दुःख-दर्द की कथा लिखता है, तो वह अपने महत्तर उद्देश्य से च्युत हो जाता है। इन्हीं विचारों को टी० एस्० इलियट ने निम्नलिखित उद्धरण में तर्क और प्रमाण द्वारा व्यक्त किया है :

"Yet if the only form of tradition, of handing down, consisted in following the ways of the immediate generation before us in a blind or timid adherence to its successes, 'tradition' should positively be discouraged. We have seen many such simple currents soon lost in the sand; and novelty is better than repetition. Tradition is a matter of much wider significance. It cannot be inherited, and if you want it you must obtain it by greater labour. It involves in the first place, the historical sense, which we may call nearly indispensable to anyone who would continue to be a poet beyond his twentyfifth year; and the historical sense involves a perception, not only of the pastness of the past, but of its presence, the historical sense compels a man to write not merely with his own generation in his bones, but with a feeling that the whole of the literature of Europe from Homer and within it the whole of the literature of his own country has a simultaneous existence and composes a simultaneous order. This historical sense, which is the sense of the timeless as well as of the temporal and of the timeless and temporal together is what makes a writer traditional. And it is at the same time what makes a writer most acutely conscious of his place in time, of his own contemporaneity."

"No poet, no artist of any art, has his complete meaning alone. His significance, his appreciation is the appreciation of his relation to the dead poets and artists. You cannot value him alone; you must set him, for contrast and comparison, among the dead. I mean this as a principle of aesthetic, not merely historical, criticism. The necessity that he shall conform, that he shall cohere, is not onesided, what happens when a new work of art is created is something that happens simultaneously to all the works of art which preceded it. The existing monuments form an ideal order among themselves, which is modified by the

introduction of the new (the really new) work of art among them. The existing order is complete before the new work arrives; for order to persist after the supervention of novelty, the whole existing order must be, if ever so slightly, altered; and so the relations, proportions, values of work of art toward the whole are readjusted; and this is conformity between the old and the new. Whoever has approved this idea of order, of the form of European or English literature will not find it preposterous that the past should be altered by the present as much as the present is directed by the past. And the poet who is aware of this will be aware of great difficulties and responsibilities."

परम्परा का यही वह रूप है, जिसके अन्तर्गत काव्य-रचना होती है। कवि जब कुछ कहता है तब उसकी वाणी में मृत कवियों की वाणी भी साथ-साथ मुखर हो उठती है और वह केवल वर्त्तमान की नहीं, वरन् अतीत की बात भी कहता है। अनेक युगों और कलाकृतियों के संकलित और मिश्रित प्रभाव से परम्परा का रूप-निर्माण होता है। यह रूप शाश्वत भी है और सतत परिवर्त्तनशील भी। अब प्रश्न यह उठता है, इस परम्परा से कवि का क्या सम्बन्ध है? कवि परम्परा को ग्रहण, परिवर्त्तित और परिवर्द्धित करता है। परम्परा के प्रभाव को वह सप्रयास आत्मसात् करता है। यहाँ तक कि वह अपने व्यक्तित्व को समर्पित कर देता है और फलतः उसका विलय हो जाता है। टी० एस्० इलियट ने इस निर्वैयक्तिकता पर काफी बल दिया है। उन्होंने कहा है: "The progress of an artist is a continual self-sacrifice, a continual extinction of personality." रचना के समय कवि का निजी व्यक्तित्व लुप्त हो जाता है और वह केवल माध्यम के रूप में काम करता है। उसकी तुलना ऐसे पात्र (Receptacle) से की गई है, जिसमें अनेक भाव एवं संवेदनाएँ (Emotions और Feelings) चेतना के अन्य तत्त्वों के साथ घुल-मिलकर एकाकार हो जाती हैं। कवि माध्यम बनकर परम्परागत प्रभावों को कलात्मक रूप प्रदान करता है, किन्तु उसका अपना व्यक्तित्व अछूता बना रहता है। इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए इलियट ने कैटेलिस्ट का उदाहरण प्रस्तुत किया है। जब किसी कक्ष में ऑक्सिजन और सल्फर डायॉक्साइड प्लेटिनम के पतले तार के साथ रख दिये जाते हैं, तब उनके संयोग से सल्फरस एसिड उत्पन्न होती है। प्लेटिनम का तार केवल कैटेलिस्ट का कार्य करता है, अर्थात् उसके उपस्थित रहने से दोनों गैसों का विशिष्ट सम्मिश्रण होता है, किन्तु उस प्लेटिनम के तार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और न तो उसका अंश विलीन होकर सल्फरस एसिड में ही मिलता है। इसी अर्थ में कवि काव्य-रचना का माध्यम है। निबन्ध के अन्त में इलियट ने अपने निष्कर्ष निम्न-लिखित शब्दों में विज्ञापित किये हैं:

"To divert interest from the poet to the poetry is a laudable aim: for it would conduce to a juster estimation of actual poetry, good

and bad. There are many people who appreciate the expression of sincere emotion in verse, and there is a smaller number of people who can appreciate technical excellence. But very few know when there is an expression of significant emotion, emotion which has its life in the poem and not in the history of the poet. The emotion of art is impersonal. And the poet cannot reach this impersonality without surrendering himself wholly to the work to be done. And he is not likely to know what is to be done unless he lives in what is not merely the present, but the present moment of the past, unless he is conscious, not of what is dead, but of what is already living."

इलियट ने अनेक स्थलों पर आग्रहपूर्वक यह बात दुहराई है कि समीक्षा काव्यकृति की होती है, कवि की नहीं। अतः कवि की निजी भावनाएँ और मानसिक अवस्थाएँ विशेष महत्त्व नहीं रखतीं। गेटे और कॉलरिज जैसे महान् आलोचकों ने शेक्सपियर के हैमलेट की जो व्याख्या की है, वह असन्तोषप्रद है। इन कवि-आलोचकों ने अपनी ही भावनाओं को शेक्सपियर के नाटकों पर आरोपित किया है। उनके लिए हैमलेट का चरित्र ही सब कुछ बन गया है और उनका ध्यान सम्यक् रीति से नाटक पर केन्द्रित नहीं हुआ है। इलियट का स्वयं अपना मत है कि 'हैमलेट' शेक्सपियर की महत्तम कृति नहीं है, अपितु कलात्मक असफलता का सबसे बड़ा प्रमाण है। इसी असफलता के प्रसंग में 'वस्तुमूलक प्रतिरूपता' का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है। कवि अपनी संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के लिए वस्तुमूलक चिह्नों से काम लेता है। फलतः अमूर्त्त भावनाएँ मूर्त्त रूप में प्रकट होती हैं। इन मूर्त्त चिह्नों अथवा प्रतीकों से ठीक वही भावनाएँ जाग्रत् होती हैं, जो कवि के मन में जाग्रत् हुई थीं। काव्य की सफलता इसी बात में है कि भावनाओं और उनके मूर्त्त-विधान में पूर्ण सामंजस्य और एकरूपता हो। 'ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव' का निरूपण निम्नलिखित शब्दों में किया गया है :

"The only way of expressing emotion in the form of art is by finding an objective correlative; in other words, a set of objects, a situation, a chain of events which shall be the formulae of that particular emotion; such that when the external facts, which must terminate in sensory experience, are given, the emotion is immediately evoked. If you examine any of Shakespeare's more successful tragedies, you will find this exact equivalence; you will find that the state of mind of Lady Macbeth walking in her sleep has been communicated to you by a skilful accumulation of imagined sensory impressions; the words of Macbeth on hearing of his wife's death strike us as if, given the sequence of events, these words were automatically released by the last

event in the series. The artistic 'inevitability' lies in this complete adequacy of the external to the emotion; and this is precisely what is deficient in Hamlet."

टी० एस्० इलियट की प्रमुख स्थापनाओं में से एक यह भी है कि कवि की प्रतिभा विभिन्न अनुभवों, भावों और संवेदनाओं को व्यवस्थित करके रूप प्रदान करती है। हम ऊपर कह आये हैं कि इस प्रसंग में इलियट ने फीलिंग्स, अर्थात् संवेदनाओं को विशेष क्रियाशील माना है। फीलिंग, सेन्सिबिलिटी, अर्थात् संवेदना के संस्पर्श से इमोशन्स, अर्थात् भाव, एक्सपीरिएन्स, अर्थात् अनुभव एकरस और एकरूप हो जाते हैं। यह बात 'ट्रेडिशन ऐण्ड द इण्डीविज्युअल टैलेण्ट' नामक निबन्ध में कही गई है तथा 'मेटाफिजिकल पोएट्स' एवं 'एण्ड्रयू मार्वेल' शीर्षक निबन्धों में विस्तारपूर्वक दुहराई गई है। अभिप्राय यह है कि सामान्य जनों और कवियों में प्रमुख अन्तर यह है कि रूप और व्यवस्था उत्पन्न करने की जो क्षमता कवि में होती है, वह अन्य लोगों में नहीं। मानसिक संघटन का फल काव्यकृति में स्पष्टतया दिखलाई पड़ता है। इसके लिए व्यवस्था अनिवार्य है, और जिस कविता में व्यवस्था जितनी सुन्दर होगी, वह उतनी ही उत्कृष्ट मानी जायगी। टी० एस्० इलियट का मत है कि १७वीं शताब्दी के मेटाफिजिकल सम्प्रदाय के कवियों में यह वांछित व्यवस्था स्पष्टरूपेण द्रष्टव्य है। उनकी उत्तम रचनाओं में भाव और तर्क, अनुभव और संवेदना सभी अनुपम रीति से सुनियोजित मिलती हैं। शीघ्र ही यह समन्वय, यह संतुलित व्यवस्था मिटने लगी और ड्राइडेन अथवा मिल्टन में उसका अभाव है। इसी विघटन को टी० एस्० इलियट ने 'डिस्सोसिएशन ऑफ् सेन्सिबिलिटी' कहा है। उसका प्रभाव समान रूप से ग्रे, कॉलिन्स, रोमाण्टिक कवियों, टेनिसन, ब्राउनिंग आदि में देखा जाता है और उसी के कारण उपर्युक्त कवियों की रचनाएँ अपना बहुत-कुछ मूल्य खो देती हैं। 'एण्ड्रयू मार्वेल' विषयक निबन्ध में इलियट ने विट का जो रूप प्रतिपादित किया है, वह कल्पना से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। उसके अन्तर्गत फैन्सी और इमैजिनेशन का समावेश हो जाता है और कल्पना के समान ही उससे भी संश्लेषण, व्यवस्था एवं नवनिर्माण का कार्य सम्पादित होता है। विट में गंभीर और मनोविनोद उत्पन्न करनेवाले तत्त्व समन्वित हो जाते हैं। विट की यह व्याख्या सामान्य से कुछ भिन्न है और इलियट ने उसे विशेष व्यापकता और क्षमता प्रदान की है। यहाँ कहने का प्रयोजन यह है कि विट की इस व्याख्या से भी इसी बात का आभास मिलता है कि इलियट कवि की मनोगत अवस्था और काव्य की जीवन्त व्यवस्था को अतिशय महत्त्व देते हैं। कविता उनके लिए प्राणवान् वस्तु है और प्रत्येक सजीव प्राणी की भाँति उसमें भी रूपगत एकता अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। इस प्रसंग में निम्नलिखित उद्धरण विचारणीय है :

1. 'Tennyson and Browning are poets, and they think, but they do not feel their thought as immediately as the odour of a rose. A thought to Donne was an experience ; it modified his sensibility. When apoet's mind is perfectly equipped for its work, it is constantly amalga-

mating disparate experiences ; the ordinary man's experience is chaotic, irregular, fragmentary. The latter falls in love, or reads Spinoza, and these two experiences have nothing to do with each other, or with the noise of the typerwriter or the smell of cooking ; in the mind of the poet these experiences are always forming new wholes....In the seventeenth century a dissociation of sensibility set in, as is natural, was aggravated by the influence of the two most powerful poets of the century, Milton and Dryden."

2. "With our eye still on Marvell, we can say that wit is not erudition ; it is sometimes stifled by erudition ; as in much of Milton. It is not cynicism, though it has a kind of toughness which may be confused with cynicism by the tender-minded. It is confused with erudition because it belongs to an educated mind, rich in generations of experience, and it is confused with cynicism because it implies a constant inspection and criticism of experience. It involves, probably, a recognition, implicit in the expression of every experience, of other kinds of experience which are possible, which we find as clearly in the greatest as in poets like Marvell."

टी० एस्० इलियट और आई० ए० रिचर्ड्स में पर्याप्त विचार-साम्य मिलता है। आई० ए० रिचर्ड्स ने भी व्यवस्था की आवश्यकता पर बल दिया है। सच तो यह है कि उनके आलोचना-सिद्धान्त के केन्द्र में यही व्यवस्था की कल्पना विद्यमान है। इलियट और रिचर्ड्स के व्यवस्था-विषयक विचारों में थोड़ा-सा अन्तर यह दिखाई देता है कि इलियट का ध्यान मुख्यतः कवि और उसकी रचना पर केन्द्रित हुआ है और रिचर्ड्स का काव्य के सहृदय उपभोक्ता पर।

दान्ते और उनके सुविख्यात महाकाव्य के बारे में लिखते हुए इलियट ने दर्शन और कविता के पारस्परिक सम्बन्ध एवं काव्य में विश्वास के सम्बन्ध में गम्भीर विचार प्रकट किये हैं। 'डिवाइन कॉमेडी' में टॉमस एक्यूनॉस तथा अन्य मध्ययुगीन दार्शनिकों के मत और सिद्धान्त निबद्ध हैं। कुछ पाठक इन दार्शनिक अंशों के प्रति अन्यमनस्क बने रहते हैं; क्योंकि वे इन्हें कोरी दार्शनिक सामग्री के रूप में देखते हैं। इलियट ने यह विचार व्यक्त किया है कि कविता की व्यवस्था के अन्तर्गत आकर वे नया रूप और अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। अतः कविता के प्रसंग में दार्शनिक विश्वास का नहीं, अपितु काव्यात्मक स्वीकृति का प्रश्न सामने आता है। यह आवश्यक नहीं कि दार्शनिक तथ्यों और तर्कों में हमारा विश्वास दान्ते के अनुरूप हो। ऐसा हो जाने से कविता से कोई विशेष आनन्द हमें नहीं मिलेगा। आवश्यक केवल इतना है कि कविता की नियोजना के अन्तर्गत हम तथ्यों और तर्कों को उचित स्थान देकर उनको समझें। हम यह भी नहीं कह सकते कि कवि-रूप में दान्ते का

बिलकुल वही विश्वास था, जो दर्शन-प्रेमी के रूप में। ऐसा तारतम्य अनिवार्य भी नहीं था। यदि काव्यात्मक स्वीकृति उपलब्ध हो जाती है, तो वही पर्याप्त है और हम जैसा कह चुके हैं, ऐसी उपलब्धि संकलित और सुनिर्मित व्यवस्था के भीतर ही सम्भव होती है। इलियट ने विश्वास और अविश्वास के निरोध, 'सस्पेन्सन ऑफ् बिलीफ ऐण्ड डिस्बिलीफ' की बात कही है। इसका अर्थ है कि पाठक में एक विशेष मनोदशा का आविर्भाव होता है, जिससे प्रेरित होकर वह सामान्य आस्था एवं अनास्था के प्रश्न को बिलकुल अलग रख देता है और काव्य में आनेवाले तथ्यों और विचारों को नवीन स्वीकृति प्रदान करता है।

टी० एस्० इलियट ने अपने लेखों में पग-पग पर नये प्रश्न उठाये हैं और उनके चमत्कारपूर्ण उत्तर दिये हैं। साहित्य-सम्बन्धी शायद ही कोई ऐसा प्रश्न हो, जिसपर उन्होंने अपना मत न व्यक्त किया हो। उदाहरणार्थ, स्विनबर्न की कविता की व्याख्या में उन्होंने शब्द, अर्थ और संगीत के महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर नये सिरे से विचार किया है और अत्यन्त उपयुक्त उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। शब्द के स्वभाव, जीवन, प्रयोग—इन सभी बातों पर प्रकाश डाला गया है। छन्द, मुक्तछन्द, रूपक, काव्य में दुरूहता आदि विषयों पर टी० एस्० इलियट के बहुमूल्य विचार उपलब्ध हैं। विस्तार-भय से हम इन सभी विषयों पर यहाँ विचार नहीं कर सकते। इस ग्रन्थ में केवल प्रमुख सिद्धान्तों पर ही मुख्य रूप से ध्यान केन्द्रित किया गया है। किन्तु, यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इलियट की व्यावहारिक समीक्षा भी अत्यन्त उच्चकोटि की है। उसमें कविता की अन्तरात्मा तक पहुँचने का प्रयास है और काव्य-कृतियों के निर्माण और विकास पर विशेष ध्यान दिया गया है। इसीलिए एक विद्वान् ने इलियट की व्यावहारिक समीक्षा को 'निर्माणमूलक' कहकर उसकी विशेषता अभिव्यक्त की है।

इलियट ने सफल व्यवस्था और संघटन को अतिशय महत्त्व दिया है। यह बात काई नई नहीं है; क्योंकि प्लेटो और अरस्तू से आधुनिक काल तक के अनेक विद्वानों ने काव्य की व्यवस्थामूलक व्याख्या प्रस्तुत की है। रस की कल्पना भी मूलतः व्यवस्था पर ही आधृत है, किन्तु इस प्रसंग में विशेष विचारणीय है भारतीय आचार्यों का औचित्य-सिद्धान्त। औचित्य के विस्तार के अन्तर्गत प्रबन्धगत औचित्य आ जाता है। क्षेमेन्द्र, आनन्दवर्द्धन आदि ने इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये हैं। सम्यक् व्यवस्था अथवा संघटन प्रबन्धगत औचित्य का दूसरा नाम है। जब काव्य में अंग और अंगी का सुनियोजित सम्बन्ध परिलक्षित होता है, तभी प्रबन्धगत औचित्य का निर्वाह मानना चाहिए। शैली, अलंकार, पदयोजना आदि का औचित्य भी प्रबन्धमूलक औचित्य का सहायक होता है, किन्तु सर्वोपरि अपेक्षा होती है विभिन्न अवयवों के सजीव एकीकरण की। इस दृष्टि से औचित्यवाद तथा अनेक पाश्चात्त्य विचार-सरणियों में पर्याप्त समानता दिखाई देती है।

### (इ) आइ० ए० रिचर्ड्स

आधुनिक युग के मौलिक विचारकों में प्रोफेसर आई० ए० रिचर्ड्स का महत्त्वपूर्ण स्थान है। साहित्यिक चिन्तन को इन्होंने नवीन आधार प्रदान किया है और विज्ञान एवं

मनोविज्ञान की सहायता से कविता की सार्थकता तथा महत्ता के सम्बन्ध में नवीन और चमत्कारपूर्ण तर्क प्रस्तुत किये हैं। तब भी अनेक दृष्टियों से उनका प्राचीन परम्परा में स्थान है और प्रारम्भ में ही यह जान लेना आवश्यक है कि पूर्ववर्त्ती विचारकों से उनका क्या सम्बन्ध है। विज्ञान के बढ़ते हुए महत्त्व के कारण निरन्तर यह सन्देह प्रकट किया गया है कि अब कविता के लिए मानव-सभ्यता के अन्तर्गत कोई स्थान शेष नहीं रह गया है। टॉमस लव पीकॉक ने उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यह मत व्यक्त किया था और शेली ने अपने प्रभावपूर्ण निबन्ध 'द डिफेन्स ऑफ, पोएट्री' में उसके मत का खण्डन किया। भौतिकवादी दर्शन और विज्ञान की प्रगति के साथ कविता की उपयोगिता के सम्बन्ध में संशय बढ़ता ही गया और आइ० ए० रिचर्ड्स ने इसी संशय को मिटाने के लिए अपने काव्यशास्त्र का निर्माण किया है। जैसे कविता के विरुद्ध प्लेटो के आरोपों का उत्तर अरस्तू ने दिया, प्यूरिटन पादरियों के तर्कों का खण्डन सर फिलिप सिडनी ने किया, वैसे ही विज्ञान के हिमायती कविता के विरोधियों का उत्तर शेली, मैथ्यू आर्नाल्ड एवं आइ० ए० रिचर्ड्स ने विभिन्न दृष्टिकोणों से दिया है। आइ० ए० रिचर्ड्स की विशेषता यह है कि उन्होंने विज्ञान के आतंक को मिटाने के लिए वैज्ञानिक पद्धति और मनोविज्ञान का आश्रय लिया है। फलतः उनके द्वारा कविता का जो समर्थन हुआ है, वह अन्य विचारकों की अपेक्षा कहीं अधिक सुस्पष्ट और तर्कयुक्त है।

टी० एस्० इलियट ने स्थान-स्थान पर मैथ्यू आर्नाल्ड की कटु आलोचना की है, किन्तु आइ० ए० रिचर्ड्स और मैथ्यू आर्नाल्ड के सामान्य दृष्टिकोणों में यथेष्ट समानता दिखाई पड़ती है। दोनों के सामने एक ही समस्या थी, भौतिक प्रगति और विज्ञान के प्रसार के कारण मानव-समाज का जो नवीन रूप विकसित हो रहा है, उसमें कविता का क्या स्थान है। मैथ्यू आर्नाल्ड ने साधारण तर्क और प्रमाण द्वारा यह सिद्ध किया कि कविता से ही मानव-सभ्यता का त्राण सम्भव है; क्योंकि धर्म स्वार्थ और भौतिकवाद से अभिभूत हो चुका है। इस भाँति आर्नाल्ड ने कविता को मानव-सभ्यता की रक्षा का एकमात्र हेतु माना है। आइ० ए० रिचर्ड्स ने दूसरे ढंग से इसी मत को प्रतिपादित किया है। काव्य से मानसिक सन्तुलन बढ़ता है, केवल व्यक्ति में ही नहीं, अपितु समाज और जाति में भी। आधुनिक युग में जब प्राचीन परम्पराएँ और आस्थाएँ विनष्ट हो रही हैं तथा मूल्यों का विघटन हो रहा है, तब सभ्य समाज कविता के सहारे ही अपनी मानसिक व्यवस्था बनाये रख सकता है। कुछ बातों में आई० ए० रिचर्ड्स और कॉलरिज में भी समानता है। कॉलरिज ने मनोविज्ञान और आध्यात्मिक तत्त्वों को मिलाकर एक मौलिक सिद्धान्त की रचना की। मौलिकता कॉलरिज के काव्यशास्त्र का विशिष्ट गुण है। कॉलरिज के उपरान्त इंगलैण्ड में वैसी मौलिकता फिर आई० ए० रिचर्ड्स में ही मिलती है। मैथ्यू आर्नाल्ड, वाल्टर पेटर एवं टी० एस्० इलियट ने अनेक नई बातें कही हैं, किन्तु उनमें से किसी ने भी क्रमबद्ध रीति से नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया है। इसके विपरीत आई० ए० रिचर्ड्स का काव्यादर्श बहुत कुछ पूर्ण है। कॉलरिज की भाँति इन्होंने भी मनोविज्ञान, भाषाविज्ञान, अध्यात्म-दर्शन आदि को मिलाकर अपने नवीन

सिद्धान्तों की स्थापना की है। कॉलरिज की भाँति ही आई० ए० रिचर्ड्स, प्लेटो, निओ-प्लेटानिस्ट्स, लांजिनस आदि से प्रभावित हैं।

प्रायः अठारहवीं शती के प्रारम्भ से ही यूरोपीय चिन्तन-प्रणाली पर प्रसिद्ध दार्शनिक डेकार्ट के विचारों की गहरी छाप दिखाई पड़ती है। डेकार्ट ने विचारों (Ideas) की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करते हुए उनको जीवन के स्थूल तत्त्वों से एकदम भिन्न माना है। डेकार्ट का प्रभाव इतना व्यापक था कि यह भेद उसके उपरान्त बीसवीं शती के प्रारम्भिक वर्षों तक निरन्तर माना गया। जर्मन दार्शनिक काण्ट की धारणा भी डेकार्ट से मिलती-जुलती थी, अतएव उससे भी विचार और बाह्य उपकरणों में जो भेद डेकार्ट ने प्रतिपादित किया था, उसका समर्थन हुआ। इसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में प्लेटो के अनुयायियों और समर्थकों द्वारा भी डेकार्ट के दार्शनिक विचारों का ही समर्थन हुआ। फलतः साहित्य में विचारों की सत्ता, भाषा तथा द्रव्य (मैटर) से भिन्न मानी गई। काव्य में अलंकारों तथा छन्द के नाद-सौन्दर्य को केवल अलंकरण-मात्र समझा गया और उनका सम्बन्ध काव्य की आत्मा से किसी प्रकार भी नहीं माना गया। अर्थ यह है कि काव्य के अन्तर्गत विचार को ही प्रमुख स्थान दिया गया और यह समझ लिया गया कि विचारों तथा उनके प्रकाशन के माध्यम के बीच में कभी न भर सकनेवाली गहरी खाई होती है। विचार और जीवन के वास्तविक अनुभव, आशा-निराशा, दुःख-आह्लाद इत्यादि में भी कोई परस्पर सम्बन्ध है, ऐसी कल्पना न हो सकी। जब आई० ए० रिचर्ड्स ने अपना साहित्यिक चिन्तन तथा अनुसन्धान प्रारम्भ किया, तब ऐसी ही परिस्थिति थी, जिससे असन्तुष्ट होकर उन्होंने नये ढंग से सोचने का प्रयत्न किया तथा अपनी प्रतिभा के बल से अनेक प्रचलित धारणाओं को अप्रमाणित सिद्ध कर दिया।

अपने सिद्धान्तों की स्थापना के पूर्व रिचर्ड्स महोदय ने अनेक प्रचलित मतों और विश्वासों का खण्डन किया। उनके इस प्रकार के खण्डनात्मक तर्क **फाउण्डेशन्स ऑफ् एस्थेटिक्स** एवं **प्रिंसिपुल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म** में मिलते हैं। काण्ट के लेखों में इस मत का सूत्रपात हुआ कि सौन्दर्य मानव-मन के किसी विशिष्ट अंश को प्रभावित करता है अर्थात् उससे किसी विशिष्ट भावना का उद्बोधन और परितोष होता है। इस प्रकार के अन्य प्रभाववादी एवं आनन्दवादी मतों की विस्तृत तालिका रिचर्ड्स तथा उनके सहयोगियों ने 'फाउण्डेशन्स ऑफ एस्थेटिक्स' में प्रस्तुत की है। अपने सरलतम रूप में प्रभाववाद का अर्थ केवल इतना है कि सौन्दर्य से भावनाएँ जाग्रत् होती हैं। धीरे-धीरे भावनाओं के विशिष्ट गुण का निरूपण होने लगा। जॉर्ज सण्टायना ने अपने आनन्दवादी दृष्टिकोण की व्याख्या में सौन्दर्य और आनन्द के अनिवार्य सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है; उनका कथन है कि सौन्दर्य से आनन्दानुभूति होती है। सण्टायना की आलोचना में रिचर्ड्स ने यह आपत्ति पेश की है कि सभी आनन्दमूलक भावनाओं का सम्बन्ध सौन्दर्य से नहीं होता, अर्थात् आनन्द के अनेक स्रोत और प्रकार होते हैं। क्लाइवबेल, रोजर फ्राई आदि ने सौन्दर्य के अर्थगर्भित स्वरूप का उल्लेख करते हुए उससे एक विशेष प्रकार के आनन्द की उपलब्धि की बात कही है। इस प्रकार के आनन्द का रूप और स्वभाव न तो अभीतक निर्धारित हो सका है और न

मनोविज्ञान की सहायता से कविता की सार्थकता तथा महत्ता के सम्बन्ध में नवीन और चमत्कारपूर्ण तर्क प्रस्तुत किये हैं। तब भी अनेक दृष्टियों से उनका प्राचीन परम्परा में स्थान है और प्रारम्भ में ही यह जान लेना आवश्यक है कि पूर्ववर्ती विचारकों से उनका क्या सम्बन्ध है। विज्ञान के बढ़ते हुए महत्त्व के कारण निरन्तर यह सन्देह प्रकट किया गया है कि अब कविता के लिए मानव-सभ्यता के अन्तर्गत कोई स्थान शेष नहीं रह गया है। टॉमस लव पीकॉक ने उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यह मत व्यक्त किया था और शेली ने अपने प्रभावपूर्ण निबन्ध 'द डिफेन्स ऑफ, पोएट्री' में उसके मत का खण्डन किया। भौतिकवादी दर्शन और विज्ञान की प्रगति के साथ कविता की उपयोगिता के सम्बन्ध में संशय बढ़ता ही गया और आइ० ए० रिचर्ड्स ने इसी संशय को मिटाने के लिए अपने काव्यशास्त्र का निर्माण किया है। जैसे कविता के विरुद्ध प्लेटो के आरोपों का उत्तर अरस्तू ने दिया, प्यूरिटन पादरियों के तर्कों का खण्डन सर फिलिप सिडनी ने किया, वैसे ही विज्ञान के हिमायती कविता के विरोधियों का उत्तर शेली, मैथ्यू आर्नाल्ड एवं आइ० ए० रिचर्ड्स ने विभिन्न दृष्टिकोणों से दिया है। आइ० ए० रिचर्ड्स की विशेषता यह है कि उन्होंने विज्ञान के आतंक को मिटाने के लिए वैज्ञानिक पद्धति और मनोविज्ञान का आश्रय लिया है। फलतः उनके द्वारा कविता का जो समर्थन हुआ है, वह अन्य विचारकों की अपेक्षा कहीं अधिक सुस्पष्ट और तर्कयुक्त है।

टी० एस्० इलियट ने स्थान-स्थान पर मैथ्यू आर्नाल्ड की कटु आलोचना की है, किन्तु आइ० ए० रिचर्ड्स और मैथ्यू आर्नाल्ड के सामान्य दृष्टिकोणों में यथेष्ट समानता दिखाई पड़ती है। दोनों के सामने एक ही समस्या थी, भौतिक प्रगति और विज्ञान के प्रसार के कारण मानव-समाज का जो नवीन रूप विकसित हो रहा है, उसमें कविता का क्या स्थान है। मैथ्यू आर्नाल्ड ने साधारण तर्क और प्रमाण द्वारा यह सिद्ध किया कि कविता से ही मानव-सभ्यता का त्राण सम्भव है; क्योंकि धर्म स्वार्थ और भौतिकवाद से अभिभूत हो चुका है। इस भाँति आर्नाल्ड ने कविता को मानव-सभ्यता की रक्षा का एकमात्र हेतु माना है। आइ० ए० रिचर्ड्स ने दूसरे ढंग से इसी मत को प्रतिपादित किया है। काव्य से मानसिक सन्तुलन बढ़ता है, केवल व्यक्ति में ही नहीं, अपितु समाज और जाति में भी। आधुनिक युग में जब प्राचीन परम्पराएँ और आस्थाएँ विनष्ट हो रही हैं तथा मूल्यों का विघटन हो रहा है, तब सभ्य समाज कविता के सहारे ही अपनी मानसिक व्यवस्था बनाये रख सकता है। कुछ बातों में आई० ए० रिचर्ड्स और कॉलरिज में भी समानता है। कॉलरिज ने मनोविज्ञान और आध्यात्मिक तत्त्वों को मिलाकर एक मौलिक सिद्धान्त की रचना की। मौलिकता कॉलरिज के काव्यशास्त्र का विशिष्ट गुण है। कॉलरिज के उपरान्त इंगलैण्ड में वैसी मौलिकता फिर आई० ए० रिचर्ड्स में ही मिलती है। मैथ्यू आर्नाल्ड, वाल्टर पेटर एवं टी० एस्० इलियट ने अनेक नई बातें कही हैं, किन्तु उनमें से किसी ने भी क्रमबद्ध रीति से नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया है। इसके विपरीत आई० ए० रिचर्ड्स का काव्यादर्श बहुत कुछ पूर्ण है। कॉलरिज की भाँति इन्होंने भी मनोविज्ञान, भाषाविज्ञान, अध्यात्म-दर्शन आदि को मिलाकर अपने नवीन

सिद्धान्तों की स्थापना की है। कॉलरिज की भाँति ही आई० ए० रिचर्ड्स, प्लेटो, निओ-प्लेटानिस्ट्स, लांजिनस आदि से प्रभावित हैं।

प्रायः अठारहवीं शती के प्रारम्भ से ही यूरोपीय चिन्तन-प्रणाली पर प्रसिद्ध दार्शनिक डेकार्ट के विचारों की गहरी छाप दिखाई पड़ती है। डेकार्ट ने विचारों (Ideas) की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करते हुए उनको जीवन के स्थूल तत्त्वों से एकदम भिन्न माना है। डेकार्ट का प्रभाव इतना व्यापक था कि यह भेद उसके उपरान्त बीसवीं शती के प्रारम्भिक वर्षों तक निरन्तर माना गया। जर्मन दार्शनिक काण्ट की धारणा भी डेकार्ट से मिलती-जुलती थी, अतएव उससे भी विचार और बाह्य उपकरणों में जो भेद डेकार्ट ने प्रतिपादित किया था, उसका समर्थन हुआ। इसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में प्लेटो के अनुयायियों और समर्थकों द्वारा भी डेकार्ट के दार्शनिक विचारों का ही समर्थन हुआ। फलतः साहित्य में विचारों की सत्ता, भाषा तथा द्रव्य (मैटर) से भिन्न मानी गई। काव्य में अलंकारों तथा छन्द के नाद-सौन्दर्य को केवल अलंकरण-मात्र समझा गया और उनका सम्बन्ध काव्य की आत्मा से किसी प्रकार भी नहीं माना गया। अर्थ यह है कि काव्य के अन्तर्गत विचार को ही प्रमुख स्थान दिया गया और यह समझ लिया गया कि विचारों तथा उनके प्रकाशन के माध्यम के बीच में कभी न भर सकनेवाली गहरी खाई होती है। विचार और जीवन के वास्तविक अनुभव, आशा-निराशा, दुःख-आह्लाद इत्यादि में भी कोई परस्पर सम्बन्ध है, ऐसी कल्पना न हो सकी। जब आई० ए० रिचर्ड्स ने अपना साहित्यिक चिन्तन तथा अनुसन्धान प्रारम्भ किया, तब ऐसी ही परिस्थिति थी, जिससे असन्तुष्ट होकर उन्होंने नये ढंग से सोचने का प्रयत्न किया तथा अपनी प्रतिभा के बल से अनेक प्रचलित धारणाओं को अप्रमाणित सिद्ध कर दिया।

अपने सिद्धान्तों की स्थापना के पूर्व रिचर्ड्स महोदय ने अनेक प्रचलित मतों और विश्वासों का खण्डन किया। उनके इस प्रकार के खण्डनात्मक तर्क **फाउण्डेशन्स ऑफ् एस्थेटिक्स** एवं **प्रिंसिपुल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म** में मिलते हैं। काण्ट के लेखों में इस मत का सूत्रपात हुआ कि सौन्दर्य मानव-मन के किसी विशिष्ट अंश को प्रभावित करता है अर्थात् उससे किसी विशिष्ट भावना का उद्बोधन और परितोष होता है। इस प्रकार के अन्य प्रभाववादी एवं आनन्दवादी मतों की विस्तृत तालिका रिचर्ड्स तथा उनके सहयोगियों ने 'फाउण्डेशन्स ऑफ एस्थेटिक्स' में प्रस्तुत की है। अपने सरलतम रूप में प्रभाववाद का अर्थ केवल इतना है कि सौन्दर्य से भावनाएँ जाग्रत् होती हैं। धीरे-धीरे भावनाओं के विशिष्ट गुण का निरूपण होने लगा। जॉर्ज सण्टायना ने अपने आनन्दवादी दृष्टिकोण की व्याख्या में सौन्दर्य और आनन्द के अनिवार्य सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है; उनका कथन है कि सौन्दर्य से आनन्दानुभूति होती है। सण्टायना की आलोचना में रिचर्ड्स ने यह आपत्ति पेश की है कि सभी आनन्दमूलक भावनाओं का सम्बन्ध सौन्दर्य से नहीं होता, अर्थात् आनन्द के अनेक स्रोत और प्रकार होते हैं। क्लाइवबेल, रोजर फ्राई आदि ने सौन्दर्य के अर्थगर्भित स्वरूप का उल्लेख करते हुए उससे एक विशेष प्रकार के आनन्द की उपलब्धि की बात कही है। इस प्रकार के आनन्द का रूप और स्वभाव न तो अभीतक निर्धारित हो सका है और न

निकट भविष्य में उसके निर्धारित होने की कोई आशा ही है। वर्नन ली प्रभृति विचारकों ने सौन्दर्यानुभूति के प्रसंग में 'एम्पैथी', अर्थात् परानुभूति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इन विचारकों के मतानुसार सुन्दर पदार्थ के साथ हमारा तादात्म्य स्थापित होता है। इसीलिए हमें आनन्द का अनुभव होता है। उपर्युक्त आनन्दवादी मतों के विरुद्ध अत्यन्त तर्कपूर्ण रीति से रिचर्ड्स आदि ने अपनी आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। 'द प्रिंसिपुल्स ऑफ् लिटरेरी क्रिटिसिज्म' में इस धारणा का विस्तृत खण्डन मिलता है कि मानव-मन में कोई विशेष सौन्दर्यपरक भावना होती है और इसी कारण सौन्दर्य से हमें आनन्द मिलता है। इस प्रकार की भावना को रिचर्ड्स ने अस्वीकार करते हुए उसे छायाभास, अर्थात् Phantom Aesthetic State की संज्ञा दी है। न तो तर्क और न मनोविज्ञान द्वारा किसी स्वतन्त्र सौन्दर्य-भावना का अस्तित्व सिद्ध होता है। सौन्दर्यानुभूति का सम्बन्ध उन्हीं सामान्य भावनाओं से है, जिनका प्रकाशन और कार्य जीवन के सभी क्षेत्रों में दिखाई देता है। किसी विशिष्ट सौन्दर्य-भावना के सम्बन्ध में जो दीर्घकालीन भ्रम चला आया था, उसके कारण कला और समीक्षा के क्षेत्र में ऐकान्तिकता आ गई और अनेक त्रुटियों का जन्म हुआ। रिचर्ड्स ने उस भ्रम के निवारणार्थ जोरदार दलीलें पेश की हैं और इस बात पर विशेष बल दिया है कि सौन्दर्य, कला तथा जीवन का निकटतम एवं अनिवार्य सम्बन्ध है।

भ्रान्त धारणाओं की आलोचना के उपरान्त रिचर्ड्स ने अपने प्रमुख सिद्धान्त की स्थापना की है। अन्य विचारकों की भाँति उन्होंने भी यह माना है कि सौन्दर्य में मूल्य का समावेश मिलता है अर्थात् सुन्दर वही है, जो मूल्यवान् है। मतभेद तब उत्पन्न होता है, जब मूल्य की व्याख्या की जाती है। जिन आनन्दवादी विद्वानों का उल्लेख हम अभी कर आये हैं, उनमें अधिकांश यह मानते हैं कि सौन्दर्य एक विशिष्ट प्रकार का मूल्य है, जिसकी न परिभाषा हो सकती है और न व्याख्या। उसे हम 'Absolute Value' अर्थात् निरपेक्ष मूल्य मान लें, यही पर्याप्त है। रिचर्ड्स ने सौन्दर्य में जो मूल्य निहित है, उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए अपने अभिनव सिद्धान्त की स्थापना की है। उनका कथन है कि सौन्दर्य इसलिए मूल्यवान् है कि उससे विरोधी मनोवेगों में व्यवस्था और सन्तुलन उत्पन्न होता है। मानव-मन में निरन्तर आवेग उत्पन्न होते रहते हैं। उनमें से कुछ तो परस्पर सम्बद्ध और अनुकूल होते हैं, किन्तु कुछ अन्य विरोधी और प्रतिकूल कोटि के मनोवेग भी रहते हैं। सौन्दर्य के प्रभाव से इन सभी प्रकार के मनोवेगों में पारस्परिक सामंजस्य सम्भव होता है। मनोवेगों की सन्तुलित और व्यवस्थित अवस्था को आई० ए० रिचर्ड्स और उनके सहयोगियों ने Synaesthesis की संज्ञा दी है और उसके आधार पर सौन्दर्य की परिभाषा की है :

Not all impulses....are naturally harmonious, for conflict is possible and common. A complete systematization must take the form of such an adjustment as will preserve free play to every impulse, with entire

avoidance of frustration. In any equilibrium of this kind, however momentary, we are experiencing beauty."

सौन्दर्य से उत्पन्न साइनेस्थेसिस की यह आनन्दप्रद मनोदशा उस निष्क्रिय अवस्था से भिन्न है, जिसमें समान विरोधी प्रभावों के आकर्षण के कारण हम स्तब्ध और किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जाते हैं। ऐसे ही क्रोध आदि के प्रबल आवेग के कारण मन में जो दृढ़ता और एकरूपता आ जाती है, वह भी साइनेस्थेसिस से भिन्न है। उसमें अनेक मनोवेगों का समन्वित सन्तुलन नहीं रहता है, वरन् एक ही प्रबल मनोवेग अन्य मानसिक शक्तियों और क्रियाओं को अभिभूत कर लेता है।

अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दि प्रिन्सिपुल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' के सातवें अध्याय में प्रोफेसर रिचर्ड्स ने सौन्दर्य के मनोवैज्ञानिक मूल्य की विस्तृत विवेचना की है। यद्यपि 'साइनेस्थेसिस' शब्द का उन्होंने इस ग्रन्थ में प्रयोग नहीं किया है, तब भी उसी के आधार पर व्याख्या अग्रसर होती है। सर्वप्रथम मनोवेगों की दो विभिन्न कोटियों एपिटेन्सीज और एवर्सन, अर्थात् आकांक्षा एवं घृणा में भेद किया गया है। तत्पश्चात् उन आकांक्षाओं को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बताया गया है, जो कम-से-कम अन्य आकांक्षाओं को अवरुद्ध अथवा विनष्ट किये बिना अपना अस्तित्व कायम रखती हैं। इन दोनों प्रकार के मनोवेगों की व्यवस्था और उसकी आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है। वह व्यवस्था सर्वोत्कृष्ट होती है, जिसमें अधिक आकांक्षाएँ कम-से-कम प्रतिस्पर्धी आकांक्षाओं को दलित किये बिना नियोजित हो जाती हैं। वैयक्तिक जीवन में सुख और शान्ति बहुत-कुछ मनोवेगों की इसी व्यवस्था पर निर्भर रहती है तथा समाज में भी सभ्यता और शान्ति इसी पर आश्रित रहती है। व्यवस्था बिना हम जीवित नहीं रह सकते। प्रतिक्षण हमारे मनोवेग स्वतः व्यवस्थित होते रहते हैं। क्षणिक व्यवस्था के अतिरिक्त दीर्घकालीन व्यवस्था भी स्थायी सुख के लिए अपेक्षित होती है। व्यवस्था उत्पन्न करने के लिए हम किसी व्यावहारिक साधन की कल्पना नहीं कर सकते, किन्तु साहित्य और कला से विशेष सहायता मिलती है। कला और सौन्दर्य की यही सार्थकता है। इस प्रसंग में निम्नलिखित कथन विचारणीय है :

To guard against a possible misunderstanding it may be added that the organisation and systematization of which I have been speaking in this chapter are not primarily an affair of conscious planning or arrangement, as this is understood, for example, by a great business house or by a railway. We pass as a rule from a chaotic to a better organised state by ways which we know nothing about. Typically through the influence of other minds, literature and the arts are the chief means by which these influences are diffused. It should be unnecessary to insist upon the degree to which high civilization, in other words, free, varied and unwasteful life, depends upon them in a numerous society.

ध्यान रखने की बात है कि मानव-मनोवेगों में व्यवस्थित होने की क्षमता स्वतः विद्यमान रहती है। सौन्दर्य से उसे सहायता मिलती है और इस प्रकार जटिल और विस्तृत मनोवेगों की सम्यक् व्यवस्था सरल हो जाती है।

दैनिक जीवन की सामान्य मानसिक अवस्था तथा काव्य में निबद्ध मानसिक दशा में विशेष अन्तर यह है कि काव्यात्मक अभिव्यक्ति में हमारे मनोवेग और उनकी शाखाएँ-प्रशाखाएँ अपेक्षाकृत अधिक जटिल रूप में प्रकट होती हैं और उनकी व्यवस्था अधिक सन्तोषप्रद होती है। मानसिक क्रियाओं के क्रमशः अधिकाधिक जटिल होने को रिचर्ड्स प्रगति का लक्षण मानते हैं और काव्य का वैशिष्ट्य यह है कि साधारण जीवन की सरल मनःस्थिति की तुलना में उसमें कहीं अधिक मानसिक संकुलता (Complexity) मिलती है। मानव-मन की अनुरक्ति (Interest), उसकी उत्तजना आदि के समुचित निरूपण के लिए रिचर्ड्स ने अपने प्रसिद्ध निबन्ध साइंस ऐण्ड पोएट्री में निम्नलिखित उदाहरण दिया है :

"Suppose that we carry a magnetic compass about in the neighbourhood of powerful magnets. The needle waggles as we move and comes to rest pointing in a new direction whenever we stand still in a new position. Suppose that instead of a single compass we carry an arrangement of many magnetic needles, large and small, swung so that they influence one another, some able only to swing horizontally, others vertically, others hung freely. As we move, the perturbations in this system will be very complicated. But for every position in which we place it there will be a final position of rest or all the needles into which they will in the end settle down, a general poise for the whole system. But even a slight displacement may set the whole assemblage of needles busily readjusting themselves.

One further complication. Suppose that while all the needles influence one another, some of them respond only to some of the outer magnets among which the system is moving.

The mind is not unlike such a system if we imagine it to be incredibly complex. The needles are our interests, varying in their importance, that is in the degree to which any movement they make involves movement in the other needles. Each new disequilibrium, which a shift of position, a fresh situation, entails, corresponds to a need : and the wagglings which ensue as the system rearranges itself are our responses, the impulses through which we seek to meet the

need. Often the new poise is not found until long after the original disturbance. Thus states of strain can arise which last for years....."

काव्य के प्रभाव और प्रयोजन के सम्बन्ध में रिचर्ड्स द्वारा प्रतिपादित मनोवैज्ञानिक मूल्य का सिद्धान्त संक्षेप में इस प्रकार है : (१) कला अन्य मानव-व्यापारों से सम्बद्ध है, उनसे पृथक् अथवा भिन्न नहीं, (२) मानव-क्रियाओं में कला सर्वाधिक मूल्यवान् है, और (३) किसी मानव-क्रिया का मूल्य इस बात से निर्धारित होता है कि वह कहाँ तक मनोवेगों में सन्तुलन और सुव्यवस्था उत्पन्न करने में सक्षम है।

रिचर्ड्स के विचार इतने मौलिक एवं चमत्कारपूर्ण हैं कि उसे ग्रहण करने में कठिनाई होती है। सामान्य पाठकों की तो बात ही क्या, अनेक दार्शनिकों और साहित्यशास्त्रियों ने उनसे अपना मतभेद प्रकट किया है। उनके मूल्य-सिद्धान्त के सम्बन्ध में सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि स्नायुमण्डल एवं मस्तिष्क की क्रियाओं का जो चित्र उन्होंने खींचा है, वह अभीतक सर्वस्वीकृत नहीं हो पाया है। स्नायुमण्डल की क्रियाओं के बारे में तो अभी हमारी जानकारी अत्यन्त अल्प है और गेस्टाल्ट-मनोविज्ञान, जिसका सहारा रिचर्ड्स ने लिया है, अभीतक प्रयोगात्मक अवस्था में है। रिचर्ड्स के प्रभाववादी मूल्य-सिद्धान्त के विरुद्ध यह भी तर्क दिया जाता है कि उसमें वस्तु (Object) की सत्ता को पर्याप्त मान्यता नहीं मिली है। जब हम किसी सुन्दर वस्तु को देखते हैं तब हमारे मन पर पड़नेवाला प्रभाव तो महत्त्वपूर्ण है ही, किन्तु उस स्थूल पदार्थ को हम बिलकुल भुला नहीं सकते। रिचर्ड्स द्वारा प्रतिपादित काव्य-सिद्धान्त विशेषतः मूल्य से सम्बद्ध उनके विचार, अधिक व्यावहारिक उपयोगिता नहीं रखते। उनके आधार पर आलोचक अपना निर्णयात्मक कार्य सरलतापूर्वक नहीं कर पाता। रिचर्ड्स ने जब अपने सिद्धान्तों को काव्य के अतिरिक्त अन्य कलाओं पर व्यवहृत किया है, तब फल सन्तोषप्रद नहीं सिद्ध हुआ है। इन कारणों से उनका मूल्य-सिद्धान्त विवादग्रस्त विषय है। विरोध और आक्षेपों के होने पर भी रिचर्ड्स अपने सिद्धान्तों पर अडिग रहे हैं। यह तो निश्चित ही है कि मनोवेगों (Impulses) का जो उल्लेख रिचर्ड्स ने अनेक स्थलों पर किया है, वह यथेष्ट रूप में स्पष्ट नहीं है। न तो उनकी परिगणना और न उनके उदाहरण ही यथेष्ट हैं। बहुत-कुछ भ्रम और विरोध तो इसी कारण उत्पन्न हुआ है।

'दी प्रिंसिपुल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' के चौथे अध्याय के प्रारम्भ में ही रिचर्ड्स की महत्त्वपूर्ण सम्मति मिलती है कि आलोचना के दो आधार-स्तम्भ हैं—मूल्य और प्रेषण। अतः उन्होंने मूल्य के अतिरिक्त प्रेषण के सम्बन्ध में भी अपने विचार विस्तारपूर्वक व्यक्त किये हैं। उनके कटु आलोचक भी यह बात मानते हैं कि प्रेषण-सम्बन्धी उनके विचार अपेक्षाकृत निर्विवाद और सन्तोषप्रद हैं। सर्वप्रथम मूल्य और प्रेषण के अनिवार्य सम्बन्ध की व्याख्या की गई है। यह वाद-विवाद बहुत दिनों से चला आ रहा था कि कवि स्वान्तःसुखाय, आत्मप्रकाशन-मात्र के लिए लिखता है अथवा अपने भावों और विचारों के दूसरों तक परिवहन के निमित्त। इस विवाद में अधिक न पड़कर रिचर्ड्स ने स्पष्टतया और दृढतापूर्वक यह मत प्रकट किया है कि हमारे विचारों और भावनाओं का स्वरूप

बहुत-कुछ प्रेषण के प्रयोजन से निर्धारित होता है, यह प्रयोजन चाहे प्रत्यक्ष हो अथवा प्रच्छन्न। हम एक विशेष प्रकार से सोचते हैं और हमारे मन में एक विशेष प्रकार से प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं; क्योंकि हमारे मानस में यह भावना निहित रहती है कि हमारी मानसिक क्रियाओं से दूसरों का भी सरोकार है। रिचर्ड्स ने मूल्यों की प्रेषणीयता के समर्थन में अनेक प्रमाण दिये हैं। जैसे—

"When we find the artist constantly struggling towards impersonality towards a structure for his work which excludes his private, eccentric, momentary idiosyncrasis, and using always as its basis those elements which are most uniform in their effects upon impulses; when we find private works of art, works which satisfy the artist, but are incomprehensible to everybody else, so rare, and the publicity of the work so constantly and so intimately bound up with its appeal to the artist himself, it is difficult to believe that efficacy for communication is not a main part of the 'rightness' which the artist may suppose to be something quite different."

प्रेषण द्वारा कवि और पाठक के मन में समान मानसिक अवस्था उत्पन्न होती है। यही तारतम्य कला का वांछित उद्देश्य है, जो प्रेषणीयता के बिना सम्भव नहीं हो सकता। यह स्मरणीय है कि प्रेषण की क्रिया न तो सदैव सचेष्ट और न चेतन होती है, किन्तु तब भी उसके सम्पन्न होने में कोई बाधा नहीं उत्पन्न होती।

कविता में भाषा प्रेषण का माध्यम और साधन है। अतएव उसके स्वभाव और विभिन्न प्रयोगों पर रिचर्ड्स का गम्भीर चिन्तन स्वाभाविक है। भाषा के प्रयोग में उन्होंने मुख्यतः तथ्यात्मक प्रयोग (Referential) एवं रागात्मक (Emotive) प्रयोग में भेद किया है। तथ्यात्मक प्रयोग अथवा तथ्यात्मक अर्थ विशेष रूप से वैज्ञानिकों तथा तार्किक दार्शनिकों की भाषा में मिलता है। शब्द द्वारा किसी तथ्य की सूचना मिलती है, उसका यथार्थ बोध होता है, और ऐसे कथन की सत्यता की परीक्षा भी की जा सकती है। तथ्यात्मक कथनों में केवल दो बातों को महत्त्व मिलता है, तथ्यों को और उनके पारस्परिक सम्बन्धों को। जीवन के साधारण व्यापार में अधिकांश प्रयोग इसी प्रकार का होता है और विज्ञान तथा तर्क में तो चेष्टापूर्वक भावनाओं को अलग रखते हुए उसी प्रकार की तथ्यात्मक भाषा व्यवहार में लाई जाती है। दूसरी कोटि की भाषा में रागात्मक तत्त्वों की प्रमुखता रहती है। कभी-कभी रेफरेंस, अर्थात् तथ्य की सूचना बिलकुल नगण्य बनकर रह जाती है, जैसे संगीत अथवा संगीतमय काव्य में। जब तथ्य सन्निविष्ट रहते हैं, तब भी उनका महत्त्व केवल गौण रहता है। तथ्यों की जानकारी अथवा उनकी परीक्षा के लिए कोई कविता नहीं पढ़ता, अपितु जो चित्तवृत्तियाँ और भाव उद्बुद्ध होते हैं, उन्हीं से हम आकृष्ट होते हैं। तथ्य के विद्यमान रहने पर भी उनका प्रभाव न तो स्वतन्त्र रूप में परिलक्षित होता है और न उसका प्रमुख महत्त्व ही रहता है। जैसे विज्ञान की भाषा

तथ्यात्मक होती है, वैसे ही कविता की भाषा रागात्मक। यह विभेद महत्त्वपूर्ण है और इसकी परिगणना रिचर्ड्स की मौलिक स्थापनाओं में की जाती है। अपने विभिन्न ग्रन्थों में उन्होंने इसपर बल दिया है। कवि वैज्ञानिक की भाँति तथ्य अथवा सत्य की खोज नहीं करता, वह तो विशिष्ट चित्तवृत्तियों और रागात्मक अवस्थाओं का सर्जन करता है। कतिपय विचारकों ने इस भेद को अस्वीकार किया है; क्योंकि तथ्य और भावना का पृथक्करण केवल सैद्धान्तिक स्तर पर सम्भव है, व्यवहार में नहीं। तब भी इस सामान्य भेद की उपेक्षा नहीं की जा सकती। रिचर्ड्स ने अपनी नवीन पुस्तक 'स्पेकुलेटिव इन्स्ट्रूमेण्ट्स' में मैक्स ब्लैक के आक्षेपों का उत्तर देते हुए रागात्मक अर्थ को आग्रहपूर्वक दुहराया है।

अर्थ से क्या तात्पर्य है, इस प्रश्न पर विस्तार के साथ विचार करते हुए रिचर्ड्स ने भाषा के स्वभाव और कार्य का गम्भीर विवेचन किया है। भाषा ही भाव-प्रकाशन का माध्यम है। भाषा ऐसे प्रतीकों का एक समूह है, जो श्रोता अथवा पाठक के मन में ऐसी अवस्था उत्पन्न करते हैं, जो वक्ता के मन की अवस्था के ही अनुरूप होती है। इस प्रकार भाषा का प्रतीकत्व वक्ता और श्रोता के बीच एक अखण्ड मानसिक व्यापार का सूत्रपात करता है। प्रतीकों में तथ्यों की सूचना के साथ-ही-साथ वक्ता की मानसिक प्रवृत्तियों का संकलन भी मिलता है। भाषा के प्रभाव के अनेक स्तर हैं। सबसे निम्न स्तर में श्रोता या पाठक केवल नाद से अवगत होता है और उसी का प्रभाव उसके मन पर पड़ता है। ध्वनियों की परख और विभेद के साथ-ही-साथ श्रोता के मन में विविध प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं। इसके उपरान्त शब्दों के पहचानने की अवस्था आती है। इन शब्दों की सहायता से अत्यन्त सरल विचारों तथा साधारण तथ्यों का ही बोध कराया जा सकता है। विचार और जीवन के अनुभव अधिकाधिक जटिल होते जाते हैं, अतएव इनके प्रकाशन और ग्रहण के लिए अधिक जटिल प्रतीकों का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। अतः व्यक्तिवाचक संज्ञाओं तथा वर्णनात्मक वाक्यांशों इत्यादि से काम लिया जाता है। अभिप्राय समझने में व्याकरण सहायक होता है, किन्तु उससे भी अधिक सहारा मनोविज्ञान की जानकारी से मिल सकता है; क्योंकि मन में उत्पन्न तथा विलीन होनेवाले विचारों के परस्पर सम्बन्ध भाषा में निरन्तर लक्षित हुआ करते हैं। कुछ और ऊपर उठकर भाषा का वह स्तर आता है, जिसमें रूपकों का प्रयोग किया जाता है। रूपकों में दो या दो से अधिक पक्षों का समावेश साथ-ही-साथ होता है, अतएव उनके द्वारा हम थोड़े में ही बहुत-कुछ व्यक्त कर सकते हैं। श्रोता और वक्ता दोनों ही भाषा के इन विभिन्न स्तरों से परिचित होते हैं, अन्तर केवल यह है कि कवि के मन में शब्द, वाक्य, रूपक इत्यादि उत्पन्न होते हैं। श्रोता अथवा पाठक इनका ग्रहण बाहर से करता है। जब हम शब्दों के प्रतीकत्व के सम्बन्ध में विचार करते हैं, तब यह पता लगता है कि प्रत्येक प्रतीक में तथ्यों की सूचना के साथ-ही-साथ भाव, चेष्टाएँ, संकेत, अभिप्राय इत्यादि संचित रहते हैं। भाषा का कार्य पूर्णरूपेण तभी सफल माना जा सकता है, जब शब्दों के प्रतीक इन सभी विशेषताओं को लक्षित करने में समर्थ हों। शब्दों का कार्य अन्य शब्दों के साहचर्य से

ही सफल और सुचारु रूप से होता है, अतएव उनके परस्पर सम्बन्ध का विषय केवल रोचक ही नहीं, वरन् अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी है और इसके बारे में रिचर्ड्स के विचार ध्यान देने योग्य हैं।

भाषा जीवन में सामान्य रूप से और साहित्य में विशेष रूप से अर्थ-वहन का कार्य करती है। अर्थग्रहण द्वारा ही हम प्रभावित होते हैं, अतः अर्थ से क्या अभिप्राय है, यह प्रश्न प्रमुख रूप से सामने आता है। मोटे ढंग से रिचर्ड्स ने चार प्रकार के अर्थों का निर्देश किया है: १. (Sense) वस्तु-स्थिति की परिचयात्मिका शब्दशक्ति, २. (Feeling) भाव, अर्थात् विषय के प्रति लेखक अथवा वक्ता की चेष्टा, ३. (Tone) ध्वनि, अर्थात् श्रोता अथवा पाठक के प्रति लेखक की चेष्टा तथा ४. (Intention) लेखक अथवा वक्ता का अभिप्राय। इन चारों उपकरणों के मेल से ही भाषा का सम्पूर्ण अर्थ व्यक्त होता है, किसी एक ही अंग को लेकर चलने से भ्रम और अनर्थ की आशंका रहती है। प्रयोजन के अनुसार किसी विशेष प्रकार के अर्थ पर अधिक जोर दिया जाता है। उदाहरणार्थ, एक वैज्ञानिक का सबसे अधिक आग्रह यथातथ्य उल्लेख सं० १ पर होगा। वह सं० २ को अलग रखने का प्रयत्न करेगा। सं० ३ के सम्बन्ध मे वह अपने विचार ज्ञाताओं के विचारार्थ प्रेषित करेगा और उसका अभिप्राय होगा तथ्य का निरूपण। इसी भाँति जनता का प्रभावित करने की इच्छा के वशीभूत वक्ता सं० ३ और सं० २ को अधिक महत्त्व देगा, यद्यपि वह सं० १ को एकदम भुला नहीं सकता। साहित्य में साधारणतः सं० २ और ३ को अधिक महत्त्व दिया जाता है, यद्यपि इस सम्बन्ध में कोई कड़ा नियम नहीं बनाया जा सकता। आलोचक का कर्त्तव्य है कि वह शब्द की शक्तियों को पहचानकर सम्पूर्ण अर्थ तक पहुँचने का प्रयास करे। इस प्रधान उद्देश्य को भुलाने से अनेक वितर्क पैदा हो जाते हैं। अँगरेजी कवि कीट्स का यह कथन कि सौन्दर्य ही सत्य और सत्य ही सौन्दर्य है, बहुत बड़े विवाद का विषय केवल इसलिए बन गया है कि यह बात भुला दी गई है कि यह सौन्दर्य के प्रति केवल कवि की चेष्टा का उल्लेख है, किसी तथ्य का निरूपण नहीं। जब गणितज्ञ पूछता है कि कविता से क्या सिद्ध होता है, तब वह भ्रमवश सं० २ अर्थात् भाव के स्थान पर सं० १ अर्थात् तथ्य खोजता है।

उत्तम काव्य में इन चार प्रकार के अर्थों का विवेकपूर्ण समन्वय अथवा संघटन मिलता है। उदाहरणार्थ, रिचर्ड्स, इलियट, लीविस प्रभृति समालोचकों ने सत्रहवीं शती के अँगरेजी अध्यात्मवादी कवियों की प्रशंसा मुख्यतः इसलिए की है कि उनके काव्य में बुद्धि, भाव, ध्वनि इत्यादि की सम्यक् व्यवस्था मिलती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार १९वीं शताब्दी के यूरोपीय स्वच्छन्दतावाद के कवियों की कृतियों में बौद्धिक उपकरणों की न्यूनता और भाव के प्रचुर बाहुल्य के कारण उचित व्यवस्था का विधान नहीं हो सका है। यही उनकी कमी है। अलंकारों और विशेषतः रूपकों की सार्थकता भी अर्थों के एकीकरण और संघटन में ही है। रूपकों में सूचना, भाव, संकेत इत्यादि घनीभूत होकर विद्यमान रहते हैं और इस भाँति अर्थ के कई स्तर और पक्ष उनमें बीजरूप से निहित रहते हैं। यही बात उनके लिए भी सत्य है, जिनको हम काव्य की अस्पष्टताएँ (ambiguities) कहते हैं। कोरे

बौद्धिक सम्बन्ध तो तर्कगम्य होते हैं और उनके समझने में कठिनाई नहीं होती, किन्तु जब एक ही बिन्दु पर तथ्य, भाव, ध्वनि और नाना प्रकार के संकेत इत्यादि एकत्र हो जाते हैं, तब शब्द प्रतीकों के रूप में शीघ्रलिपि या संकेतलिपि के चिह्नों का काम करते हैं और थोड़ी-बहुत अस्पष्टता स्वाभाविक हो जाती है। कविता के बाह्य स्वरूप के सम्बन्ध में भी रिचर्ड्स ने नवीन विचार प्रस्तुत किये हैं। परम्परागत नपे-तुले छन्दों में लिखी हुई कविता ढर्रे की होती है और नियमों के अनुशासन के कारण एक लकीर पकड़कर आगे बढ़ती है। अतएव उसमें वैविध्य और गम्भीरता की कमी होती है। लैटिन-कविता छन्दों के कड़े अनुशासन के कारण ही उच्चतम महत्ता को प्राप्त करने से वंचित रही। कविता के लिए लय अनिवार्य रूप से वांछनीय है, किन्तु इस लय (rhythm) का स्वरूप स्वीकृत छन्दों में बँधकर इतना कृत्रिम और छिछला हो जाता है कि वह केवल अल्पवयस्कों की रुचि को तृप्त कर सकता है। वास्तव में लय की स्थिति काव्य की गहराई में है और उसका पूरा स्वरूप शब्दों की ध्वनि और उनके अर्थ के परस्पर संयोग से पग-पग पर निर्धारित होता चलता है। इस प्रकार कविता के सम्पूर्ण अर्थ की कल्पना में लय और विविध प्रकार के अर्थों का सम्यक् योग नितान्त आवश्यक है।

'दि फिलासफी ऑफ रिटॉरिक' में संकलित भाषणों में रिचर्ड्स ने वाग्मिताशास्त्र रिटारिक (rhetoric) पर नये सिरे से विचार किया है। प्रारम्भ में ही उन्होंने ऐसे विचारों का खण्डन किया है जिसमें प्रत्येक शब्द को स्वतन्त्र और स्वतः पूर्ण माना गया है। उन्होंने लिखा है : Words are not like oiled and naked thieves that infest railway carriages in India. शब्दों का अर्थ प्रसंग के अन्तर्गत उद्घाटित होता है। प्रसंग (context) की चर्चा विस्तार से की गई है। रिचर्ड्स की व्याख्या परम्परागत प्रसंग की व्याख्या से कुछ भिन्न है। प्रसंग का सामान्य अर्थ यह है कि प्रत्येक शब्द अपने सहयोगी सब्दों के साथ तथा अन्य लेखकों ने उस विषय में जो कुछ लिखा है, उसके साथ लिया जाय। प्रसंग के अन्तर्गत समसामयिक, सामाजिक, राजनीतिक अवस्था का भी समावेश हो जाता है। रिचर्ड्स ने इस परम्परागत अर्थ के अतिरिक्त कान्टेक्स्ट अथवा प्रसंग की कल्पना में कतिपय ऐसे नवीन तत्त्वों का समावेश किया है, जिनका सम्बन्ध मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र से है। भाषा में कार्य-कारण की कुछ कड़ियाँ लुप्त हो जाती हैं अथवा केवल अन्तर्निहित रहत हैं। अधिकांश लेखों में संकेतलिपि की कुछ-न-कुछ विशेषता प्रकट होती है। इसीलिए रिचर्ड्स का कथन है कि 'मिनिंग इज दि मिसिंग कान्टेक्स्ट'। प्रसंग के साथ-ही-साथ शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध का विषय भी महत्त्वपूर्ण है। रिचर्ड्स ने विस्तारपूर्वक दरसाया है कि शब्द व्यवहार में एक-दूसरे के साथ रहकर अपने कार्य में एक-दूसरे को निरन्तर अनुप्राणित करते रहते हैं। इसीलिए भाषा का जीवन्त रूप ही उसका वास्तविक रूप है। रिचर्ड्स ने इस बात को स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि शब्द, अर्थ और भाषा की समस्याएँ भौतिक विज्ञान की समस्याएँ नहीं, अपितु जीव-विज्ञान की समस्याएँ हैं। शब्दों के पारस्परिक अनुप्राणन की क्रिया तथा उसका अध्ययन अत्यन्त रोचक होता है तथा सम्यक् अर्थ-ग्रहण में उसकी जानकारी से बड़ी सहायता मिलती है।

इसी से मिलता-जुलता प्रश्न रूपक (मेटाफर) की उपयोगिता का है। अरस्तू से ह्वेटले तक सभी प्रमुख वाग्मिताशास्त्रियों ने अलंकारों की श्रेणी में रूपक को विशेष महत्त्व दिया है। किन्तु रिचर्ड्स और उनके सहयोगियों ने उसे जो नवीन महत्त्व दिया है, वह अपूर्व है। रूपक में एक ही बिन्दु पर अनेक अर्थों का सन्धान मिलता है। कम-से-कम दो असमान पदार्थों में चमत्कारपूर्ण समानता का बोध हमें रूपक से होता है। कई स्तरों पर मिलनेवाले और कई पदार्थों का संकेत करनेवाले तत्त्व रूपक में एकत्र और घनीभूत रहते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि भाषा की उत्कृष्ट शक्ति, उसकी अपूर्व क्षमता, जितनी सफलतापूर्वक रूपकों में प्रकट होती है, उतनी अन्यत्र नहीं। अस्पष्टता (ऐम्बिग्युटी) का प्रश्न भी इसी से सम्बद्ध है। जिसे सामान्यजन कविता की अस्पष्टता कहकर दोष मानते हैं, उसे रिचर्ड्स और उनके सहयोगियों ने शब्द की शक्ति कहा है। शब्दों में कई प्रकार के अर्थ सन्निहित रहते हैं। उनसे पदार्थ का ज्ञान होता है, भावनाएँ जाग्रत् होती हैं तथा उनमें हमारे मन को स्पर्श करने की सूक्ष्म शक्ति होती है। अँगरेजी में इसी को 'nuances' कहते हैं। काव्य में अनेक अर्थों और अभिप्रायों का कोशलपूर्ण गुम्फन होता है। अनेक शब्दों का विपर्यय और कुछ का लोप भी हो जाता है। कुछ शब्द अनेकार्थी होते हैं और कुछ ऐसे शब्द होते हैं, जो बार-बार दुहराये जाते हैं और 'Key words' कहलाते हैं। कलात्मक भाषा की इन्हीं संकुल विशेषताओं के कारण उसमें अस्पष्टता आ जाती है, जो कवि की असफलता नहीं, वरन् सफलता की परिचायिका है। रिचर्ड्स के शिष्य और मित्र विलियम एम्पसन ने सात प्रकार की अस्पष्टताओं का विस्तृत विवेचन किया है और उनके अनेक उदाहरण दिये हैं।

लय और छन्द के बारे में भी रिचर्ड्स की नवीन उद्भावनाएँ विचारणीय हैं। परम्परा से लय और छन्द की कल्पना बहुत-कुछ रूढ़िग्रस्त बनी हुई थी, किन्तु रिचर्ड्स ने उनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। लय का आधार है 'एक्सपेक्टैन्सी', अर्थात् प्रत्याशा। संगीत अथवा कविता में ध्वनि इस प्रकार नियोजित की जाती है कि निरन्तर हम पहले से ही भावी सम्भावनाओं का बोध मन में बनाये रखते हैं। हम जानते हैं कि आगे क्या आनेवाला है और क्या नहीं। सबसे बड़ी बात यह है कि रिचर्ड्स ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि 'रिद्म' अर्थात् लय केवल ध्वनियों की व्यवस्था नहीं है, वरन् उसमें गम्भीर भावनाएँ और शब्दों के अर्थ भी नियोजित रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि लय की स्थिति केवल ऊपरी धरातल पर ही नहीं रहती है, वह मन और भाषा की गहराई में विकसित होती है। यहाँ रिचर्ड्स के शब्दों को ही उद्धृत करना आवश्यक प्रतीत होता है :

"The way in which the sound of a word is taken varies with the emotion already in being. But, further, it varies with the sense. For the anticipation of the sound due to habit, to the routine of sensation, is merely a part of the general expectancy."

× × ×

"This texture of expectations, satisfactions, disappointments, surprisals, which the sequence of syllables brings about, is rhythm. And the sound of words comes to its full power only through rhythm."

छन्द में लय अधिक नियमित होकर प्रकट होती है। उसके बन्धे हुए नियम प्राचीन काल से चले आये हैं और अल्पप्रतिभा-सम्पन्न कवि एवं आलोचक उन्हीं को मानदण्ड बनाकर कविता की नाप-तौल करते हैं। रिचर्ड्स ने इस प्रकार के यान्त्रिक प्रयोग को अवांछित घोषित किया है तथा यह बताया है कि छन्द में भी भाव, अर्थ आदि उतना ही महत्त्व रखते हैं, जितनी ध्वनि। उनका कथन है :

In metrical reading the narrowness and definiteness of expectancy, as much unconscious as ever in most cases, is very greatly increased, reaching in some cases, if rime also is used, almost exact precision. Furthermore, what is anticipated becomes through the regularity of the time-intervals in metre virtually dated. This is no mere matter of more or less perfect correspondence with the beating of some internal metronome. The whole conception of metre as 'uniformity in variety', a kind of mental drill in which words, those erratic and varied things, do their best to behave, as though they were all the same, with certain concessions, licences and equivalences allowed, should now-a-days be obsolete.

× × ×

As with rhythm so with metre, we must not think of it as in the words themselves or in the thumping of the drum. It is not in the stimulation, it is in our response. Metre adds to all the variously fated expectancies which make up rhythm a definite temporal pattern and its effcet is not due to our perceiving a pattern in something outside us, but to our becoming patterned ourselves.

रिचर्ड्स का लोकप्रिय ग्रन्थ 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म' अपने ढंग का अनूठा है। जो सिद्धान्त लेखक के अन्य ग्रन्थों में प्रतिपादित हुए हैं, उनको व्यवहार-रूप में यहाँ प्रस्तुत किया गया है। गम्भीर विचारक और प्रसिद्ध लेखक होने के अतिरिक्त आई० ए० रिचर्ड्स यशस्वी अध्यापक भी हैं और उनका अध्यापन-कौशल भी इस ग्रन्थ में देखने को मिलता है। तेरह काव्यांश, जिनमें से प्रत्येक अपनी निजी विशेषता रखता है प्रोटोकोल के रूप में विद्यार्थियों को दिये गये और उनकी प्रतिक्रियाएँ प्राप्त की हुई। इन उत्तरों के सन्दर्भ में रिचर्ड्स ने विभिन्न महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया है। व्यावहारिक समीक्षा में उन्होंने विश्लेषण (एनालिसिस) और व्याख्या (इण्टरप्रेटेशन) की पद्धति अपनाई है। विश्लेषण विभिन्न स्तरों पर सम्पन्न हुआ है। शब्द, लय, अर्थ, वस्तु-रूप, दार्शनिक विचार आदि सभी पर ध्यान केन्द्रित हुआ है और इस भाँति प्रत्येक काव्यांश की विशेषता

स्पष्टरूपेण निर्धारित हुई है। विश्लेषण की कला में रिचर्ड्स पारंगत हैं। इसका प्रमाण उन्होंने न केवल इस पुस्तक में, वरन् अन्यत्र भी दिया है। 'हाउ टु रीड ए पेज' में विश्लेषण की क्रिया अपने अत्यन्त विस्तृत रूप में सम्पन्न हुई है। विश्लेषण के साथ व्याख्या का होना भी आवश्यक है, अन्यथा विश्लेषण निस्सार सिद्ध होगा। व्याख्या द्वारा ही काव्य पर प्रकाश पड़ता है और उसके प्रभाव का ग्रहण सम्भव होता है। विश्लेषण की उपयोगिता व्याख्या के लिए साधन के रूप में ही प्रकट होती है। व्यावहारिक, विश्लेषणात्मक एवं व्याख्यात्मक समीक्षा का जो रूप रिचर्ड्स ने प्रस्तुत किया है, उसका उनके काव्यशास्त्र में एक विशेष प्रयोजन है। इस प्रकार की व्यावहारिक समीक्षा से कविता के समझने और उसके रसास्वादन में अत्यधिक सहायता मिलती है, यह तो निर्विवाद है। इसके अतिरिक्त यह बात महत्त्वपूर्ण है कि पाठक अथवा सहृदय के मन में कवि की मानसिक व्यवस्था के अनुरूप अवस्था तभी उत्पन्न हो सकती है, जब वह कविता को भलीभाँति समझने और ग्रहण करने में समर्थ हो। काव्यकृतियों का प्रेषण द्वारा सहृदय के मन में पूरा प्रभाव अनायास नहीं पड़ता। उसके लिए सहृदय को सक्षम बनना पड़ता है और कविता पढ़ने की कला सीखनी पड़ती है। केवल ऐसे ही योग्य सहृदय के मन में कवि के मन से तारतम्य उत्पन्न होता है। कवि के मनोवेगों की संकुल और सम्यक् व्यवस्था विशिष्ट भाषा के समर्थ माध्यम द्वारा सहृदय तक प्रेषित होती है और सहृदय अपनी योग्यता तथा प्रयास से ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करता है, जिसमें उसको भी वही मानसिक शान्ति मिलती है, वही भावनाओं के समन्वय और सन्तुलन की अनुभूति होती है, जो कवि को।

ऊपर हम बता आये हैं कि अर्थ दो प्रकार के होते हैं—तथ्यात्मक और रागात्मक। इसी भेद पर आधृत एक दूसरा भेद भी है—सत्य और काव्य-सत्य। सत्य की खोज में निरीक्षण और प्रयोग द्वारा वैज्ञानिक प्रयत्नशील रहता है। दार्शनिक तर्क और चिन्तन द्वारा उसी सत्य की खोज करता है। कहना न होगा कि वैज्ञानिक और दार्शनिक दोनों की खोज बौद्धिक स्तर पर होती है और उनके सत्य का परीक्षण सम्भव होता है। तर्क में तथ्यों और उनके सम्बन्धों का विचार होता है। सामान्य जीवन में सत्य से इसी प्रकार के बौद्धिक ज्ञान का बोध होता है। कविता में इस प्रकार का ज्ञान कभी-कभी सन्निविष्ट रहता है, किन्तु वहाँ उसका महत्त्व घट जाता है और उसका रूप भी बदल जाता है। कविता का सरोकार बौद्धिक सत्य से नहीं, वरन् जो रागात्मक प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं, उनसे है। हमारी भावनाओं को जो बात जँचती है, जो बात विरोधी नहीं प्रतीत होती, वही काव्य में सत्य है। हम यह नहीं कह सकते कि काव्यात्मक सत्य में बौद्धिक उपकरण होते ही नहीं, और न तो हम यह कह सकते हैं कि साधारणतः बौद्धिक चिन्तन में भावनाओं का अंश रहता ही नहीं। इतने पर भी बौद्धिक सत्य और काव्यात्मक सत्य का भेद सुनिश्चित है और इसको भुला देने से केवल भ्रम उत्पन्न होने की आशंका रहती है। इसी बात को रिचर्ड्स ने यह कहकर व्यक्त किया है कि विज्ञान स्टेटमेण्ट अर्थात् कथन का आश्रय लेता है, किन्तु कविता में Pseudo-statements अर्थात् 'छद्म-कथनों'

की ही प्रमुखता रहती है। 'साइन्स ऐण्ड पोएट्री' की निम्नलिखित पंक्तियाँ उपर्युक्त विभेद को स्पष्ट कर देती हैं :

This brief analysis may be sufficient to indicate the fundamental disparity and opposition between pseudo-statements as they occur in poetry and statements as they occur in science. A pseudo-statement is a form of words which is justified entirely by its effect in releasing or organising our impulses and attitudes; a statement, on the other hand, is justified by its truth, that is, its correspondence; in a highly technical sense, with the fact to which it points.

प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म के तीसरे खण्ड के सातवें अध्याय में इसी प्रश्न पर विस्तार से विचार किया गया है और कविता में आस्था का क्या स्थान है, इसका भी विवेचन मिलता है। यदि किसी काव्य-रचना में निबद्ध मत अथवा सिद्धान्त से हम सहमत न हों, तब भी उस रचना से हमें आनन्द मिलता है। ऐसा न हो तो डिवाइन कामेडी, पैराडाइज लॉस्ट, रामचरितमानस आदि को केवल किसी समुदाय-विशेष के लोग ही पढ़ेंगे। कविता में आस्था अथवा विश्वास का आधार हमारी भावनाओं में मिलता है। जो बातें हमारी भावनाओं को सन्तोषप्रद प्रतीत होती हैं, वे ही विश्वसनीय हैं। देवासुर-संग्राम की बात पाश्चात्त्य और भारतीय काव्य में बार-बार दुहराई गई है। होमर के महाकाव्यों में तथा भारतीय महाकाव्यों में भी देवगण मानवों की भाँति आचरण करते हैं तथा कतिपय मानवों में देवत्व के लक्षण प्रकट होते हैं। विशुद्ध तर्क से तथा बौद्धिक स्तर पर ये सभी बातें केवल अनास्था उत्पन्न करेंगी, किन्तु काव्य का पढ़नेवाला इन सभी बातों को स्वीकार करता है; क्योंकि हमारी रागात्मक प्रवृत्तियों के स्तर पर ये सही हैं। काव्य में आस्था का प्रश्न सम्भावनाओं तथा रागात्मक प्रतिक्रियाओं से सम्बद्ध है, तथ्य-निरूपण और परीक्षण से नहीं, इसी बात को अरस्तू ने बहुत पहले कहा था "Probable impossibilities are to be preferred to improbable possibilities."

आधुनिक अँगरेज मनीषियों में आई० ए० रिचर्ड्स अग्रगण्य हैं। उनका साहित्यिक चिन्तन विस्तृत और क्रमबद्ध है और वे एक सर्वांगीण काव्यशास्त्र प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं। उनका मूल्य-सिद्धान्त मनोविज्ञान और कलाशास्त्र के प्रभूत ज्ञान पर क्षाधृत है। अनेक विद्वानों ने उसका अथवा उसके किसी अंश का खण्डन किया है। किन्तु रिचर्ड्स की स्थापनाओं और तर्कों को असत्य अथवा अस्वीकार्य सिद्ध करने में अभी तक किसी को भी सफलता नहीं मिली है। भाषा की विशेषताओं का जितना सूक्ष्म अध्ययन रिचर्ड्स ने प्रस्तुत किया है, उतना किसी अन्य विद्वान् ने नहीं। अपने ग्रन्थों में उन्होंने प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को छेड़ा है और सबका उत्तर भी दिया है। उनके लिखने का ढंग अत्यन्त सुस्पष्ट है। इसलिए अत्यन्त गम्भीर विषयों की भी उन्होंने सरल व्याख्या की है। रिचर्ड्स और उनके सिद्धान्तों का व्यापक प्रभाव देखने को मिलता है। कैम्ब्रिज

विश्वविद्यालय में सन् १९३० ई० के लगभग रिचर्ड्स और उनके सहयोगियों ने एक नवीन परिपाटी की स्थापना की। रिचर्ड्स के सिद्धान्तों को लेकर विलियम एम्पसन, एफ़० आर० लीविस प्रभृति विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। टी० एस्० इलियट और आई० ए० रिचर्ड्स के विचारों में पर्याप्त साम्य दिखाई देता है। इलियट ने काव्य में रूपगत व्यवस्था की बात कही है, रिचर्ड्स ने उसी बात को मनोवैज्ञानिक ढंग से कवि और सहृदय के मनोवेगों की आन्तरिक व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया है। इलियट की अपेक्षा रिचर्ड्स का चिन्तन अधिक वैज्ञानिक, क्रमबद्ध एवं पूर्ण है। रिचर्ड्स का प्रभाव अमेरिका में भी परिलक्षित हुआ है और 'न्यू क्रिटिसिज्म' समुदाय के लेखक उनके ऋणी हैं। उनके मूल्य की कल्पना तथा उनके भाषा-सम्बन्धी विचार दोनों ही अमरीकी विचारकों द्वारा अपनाये गये हैं, यद्यपि स्थान-स्थान पर उन्होंने अपने मतभेद भी प्रकट किये हैं। हिन्दी में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने आई० ए० रिचर्ड्स की चर्चा की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रिचर्ड् का प्रभाव न केवल गम्भीर, अपितु अत्यन्त व्यापक भी है।

## चतुर्दश अध्याय

# साहित्यिक अध्ययन की विभिन्न पद्धतियाँ

जनसाधारण के लिए साहित्यिक अध्ययन की विधि और उसकी उपयोगिता का प्रश्न विशेष महत्त्व नहीं रखता। किसी सामान्य शिक्षित व्यक्ति को ले लीजिए। उसके हाथ में जब कोई कविता की पुस्तक अथवा कोई उपन्यास पड़ जाता है, तब वह उसका रसास्वादन अत्यन्त स्वाभाविक रीति से एवं उत्साहपूर्वक करता है; क्योंकि उसके सामने समीक्षा और मूल्यांकन की जटिल समस्याएँ नहीं होतीं। उसे कोई कविता अच्छी लगती है और कोई बुरी, उपन्यास का कोई पात्र अन्य पात्रों की अपेक्षा अधिक आकर्षक प्रतीत होता है। किसी अंश में वह अपनी पसन्द का कारण भी खोजता है और उसे व्यक्त भी करता है, किन्तु बिना उलझनों में पड़े हुए वह अपनी रुचि का संकेत-मात्र देता है। साहित्य पढ़नेवाले अधिकांश नर-नारियों के मन में ऐसी ही स्वाभाविक प्रतिक्रिया जागरित होती है और साहित्यिक लोक-अभिरुचि का सर्जन बहुत-कुछ उसी के आधार पर होता है। इसी बात को डॉ० जॉन्सन ने अत्यन्त प्रभावपूर्ण शब्दों में प्रकट किया है : In the character of his Elegy I rejoice to concur with the common reader ; for by the common sense of readers uncorrupted with literary prejudices, after all the refinements of subtlety and the dogmatism of learning, must be finally decided all claim to poetical honours."

जिस सामान्य पाठक की चर्चा डॉ० जॉन्सन ने इस उद्धरण में की है, उसको लेकर विगत ३०-४० वर्षों में साहित्यिक समीक्षा के एक पक्ष का गम्भीर विवेचन हुआ है। उदाहरणार्थ, वर्जिनिया उल्फ ने 'कॉमन रीडर', अर्थात् सामान्य पाठक की योग्यता, अभिरुचि, महत्त्व आदि के सम्बन्ध में अनेक रोचक बातें लिखी हैं। शूकिंग की साहित्यिक लोक-अभिरुचि-सम्बन्धी पुस्तिका सुविख्यात है। उसमें उन्होंने सप्रमाण इस बात का निर्देश किया है कि विभिन्न कारणों से साहित्यिक अभिरुचि अपने सामूहिक रूप में परिवर्त्तित होती रहती है और ऐसे परिवर्त्तनों का रचना और समीक्षा दोनों पर असर पड़ता है। प्रेक्षकों और पाठकों की रुचि के आधार पर नाटक का रूप कैसे निर्धारित होता है, यह तो शेक्सपियर के काल से ही निरन्तर प्रमाणित होता चला आया है। इधर हाल में कई नये ग्रन्थ निकले हैं, जिनमें उपन्यास के रूप-विधान पर पाठक-समुदाय की अभिरुचि का कितना गहरा प्रभाव पड़ता है, यह सफलतापूर्वक दरसाया गया है। आधुनिक साहित्य अधिकाधिक व्यापारिक कारणों से प्रेरित हो रहा है। स्वान्तःसुखाय लिखनेवाले लेखक अब बहुत कम रह गये हैं और अधिकांश लोग डॉ० जॉन्सन की उस प्रसिद्ध उक्ति से सहमत प्रतीत होते हैं, जिसमें उन्होंने अपने स्वाभाविक आग्रह के साथ कहा है : "Only blockheads write

for anything except money," अर्थात् अर्थलाभ के प्रयोजन से न लिखनेवाले लेखक मूर्ख होते हैं। जब अर्थलाभ साहित्यिक रचना का सामान्य उद्देश्य बन गया है, तब लेखकों के लिए विस्तृत पाठक-समुदाय की आवश्यकताओं का ध्यान रखना अनिवार्य हो गया है। मध्ययुग का कवि राजा और दरबारियों के मनोरंजन के लिए लिखता था, किन्तु आज का साहित्य-निर्माता उन असंख्य नर-नारियों के लिए लिखता है, जिनसे उसका सम्बन्ध छपी हुई पुस्तक के पृष्ठों द्वारा स्थापित होता है। इस भाँति न केवल साहित्य का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो गया है, वरन् उसकी सामग्री और आकृति में भी अन्तर उत्पन्न हो गया है। फलतः समीक्षक के लिए परम वांछनीय हो गया है कि मूल्यांकन के समय वह लोक-अभिरुचि की समकालीन अवस्था की ओर ध्यान दे और उस सामान्य पाठक को विस्मृत न करे, जिसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया अपना विशेष महत्त्व रखती है। किसी युद्ध में हत वीरों की समाधि बनाते समय प्रथम स्मारक उस अज्ञात सिपाही का बनता है, जो आत्मोत्सर्ग करता है, यद्यपि उसे कोई पहचानता भी नहीं। ऐसे ही आलोचक का धर्म है कि वह अज्ञातनामा पाठक को यथेष्ट सम्मान प्रदान करे और उसकी अभिरुचि को भी समीक्षा के प्रतिमानों की श्रेणी में स्थान दे।

यहाँ प्रभाववादी आलोचना के बारे में भी पुनः कुछ विचार कर लेना चाहिए। प्रभाववादी आलोचना के न कोई निश्चित नियम होते हैं और न कोई सर्वस्वीकृत पद्धति अपनाई जाती है। किसी भावुक श्रोता, पाठक अथवा द्रष्टा के मन पर पड़नेवाले प्रभाव, उसमें उत्पन्न होनेवाली प्रतिक्रियाएँ स्वाभाविक रूप में अंकित की जाती हैं। यदि हम प्रभाववादी समीक्षा को उसके अनियन्त्रित और आत्यन्तिक रूप में ग्रहण कर लें, तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि मूल्यांकन के क्षेत्र में अराजकता फैल जायगी। इस दुष्परिणाम का निराकरण कई प्रकार से होता है। सर्वप्रथम, मानव-स्वभाव में मौलिक एकरूपता है, जिसके कारण विभिन्न व्यक्तियों की मानसिक प्रतिक्रियाओं में समानता का सूत्र सदव द्रष्टव्य रहता है। ऐसा सम्भव नहीं कि किसी कविता को सुनकर एक सहस्र सुननेवालों के मन में नितान्त भिन्न दशाएँ प्रकट हों। उन सभी श्रोताओं की प्रतिक्रियाओं को हम समानता के आधार पर तीन-चार कोटियों में बाँट सकते हैं। अतः अभिरुचि के क्षेत्र में विप्लव और अराजकता की आशंका निर्मूल सिद्ध होती है। तब भी मनीषियों ने प्रभाववादिता की सीमाएँ निर्धारित कर दी हैं। लौंजिनस ने विभिन्न युगों और देशों के सहृदय एवं सुसंस्कृत जनों की अभिरुचि को ही मान्यता प्रदान की है। ऐसे विज्ञ और योग्य पाठकों को तृप्त करनेवाला साहित्य ही सुन्दर एवं उदात्त माना जायगा। प्रभाववादी समीक्षा एवं परख (appreciation) के समर्थक उन्नीसवीं शताब्दी के अनेक आलोचकों ने सम्यक् प्रभाव-ग्रहण के लिए भावुकता को अपेक्षित माना है। भावुकता से प्रयोजन कोरी भावुकता से नहीं, अपितु ऐसी सहृदयता से है, जो समुचित ज्ञान पर आधृत होती है। प्रभाववादी दृष्टिकोण के लिए केवल दो बातों की आवश्यकता है—संवेदनशीलता की और आवश्यक ज्ञान की। पाठक का मन दर्पण की भाँति होता है, जिसमें काव्य का प्रभाव प्रतिबिम्बित होता है। दर्पण जितना ही स्वच्छ होगा, बिम्ब उतने ही सुन्दर एवं

स्पष्ट बनकर प्रकट होंगे। अतः प्रभाववादी समीक्षा में अज्ञान को तनिक भी प्रश्रय नहीं मिलता है।

वैयक्तिक और सामूहिक प्रभाव को आधार मानकर कई शताब्दियों तक साहित्य का अध्ययन और मूल्यांकन होता रहा। तत्पश्चात् विधान (मेथड) की आवश्यकता का अनुभव हुआ। कोई काव्य मन को कितना प्रभावित करता है, कितना सुन्दर अथवा असुन्दर प्रतीत होता है, केवल इस निर्णय से मन को पूर्ण सन्तोष नहीं होता। काव्य मन को किस प्रकार आकृष्ट और चमत्कृत करता है, यह प्रश्न भी अत्यन्त विचारणीय है। जैसे ही यह जिज्ञासा मन में उठती है, अनेक प्रश्न सामने आ जाते हैं। पहला प्रश्न काव्य की उत्पत्ति का है और दूसरा उसकी प्रेषणीयता का। मानव-मन का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वह युग और परिस्थिति के वशीभूत होकर अपना कार्य करता है। अतएव, सामयिक तथ्यों और प्रवृत्तियों का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है। मूल्यांकन में प्रतिमान का प्रश्न सबसे अधिक महत्त्व रखता है। उत्कृष्टता का मानदण्ड क्या है, हम अच्छे और बुरे में किस प्रकार विभेद करते हैं—इन सभी समस्याओं का सम्बन्ध साहित्यिक अध्ययन की विधि से है। अनेक दृष्टिकोण सम्भव हैं और विभिन्न पद्धतियाँ भी अपनाई गई हैं, जिनमें कुछ की चर्चा हम आगे चलकर विस्तार से करेंगे। यहाँ केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि साहित्यिक अध्ययन की व्यक्तिनिष्ठ परिपाटी केवल हमें थोड़ी दूर तक ले जा सकती है। साहित्य की सर्वांगीण व्याख्या के लिए हमें अनेक साधन और विधियाँ अपनानी पड़ती हैं। इन विधियों के प्रयोग से ही काव्य का सम्पूर्ण अर्थ और वैभव उद्घाटित होता है। जब हम काव्य को केन्द्रबिन्दु बनाकर विभिन्न दिशाओं से उसपर प्रकाश डालते हैं, तब अप्रत्याशित फल की प्राप्ति होती है। प्रभाववादी समीक्षा में केवल सहृदय की चेष्टाओं और अभिरुचि की अभिव्यक्ति होती है, किन्तु जब हम साहित्यिक अध्ययन के निमित्त उन विभिन्न पद्धतियों को कार्यान्वित करते हैं, जो अतीत काल से आज तक विकसित हुई हैं, तब साहित्यिक समीक्षा की समस्त शक्ति प्रदर्शित होती है और उसकी सारी उपलब्धियाँ हमारे समक्ष उपस्थित होती हैं।

साहित्य के प्रभाववादी मूल्यांकन में सहज अनुभूति एवं आत्मप्रकाशन की ही प्रमुखता रहती है, यद्यपि सहृदय में संवेदनशीलता के साथ-साथ ज्ञान भी अपेक्षित रहता है। प्राचीन युग में साहित्य के सामान्य पाठक अथवा श्रोता ने अपनी निजी प्रतिक्रिया व्यक्त की और उतने को ही पर्याप्त माना। शनैः-शनैः काव्य के मूल्यांकन में पाण्डित्य का आग्रह अधिकाधिक स्वीकार होने लगा। अरस्तू के काव्यशास्त्र में ऐतिहासिक, तुलनात्मक तथा विश्लेषणात्मक विधियों का सूत्रपात हुआ। १५वीं शताब्दी के मानववादी यूरोपीय विद्वानों ने साहित्य के पाण्डित्यपूर्ण अध्ययन का नवीन आदर्श उपस्थित किया। मध्ययुग के अन्त में प्राचीन पाण्डुलिपियों की खोज होने लगी थी और रोम, मिलान, फ्लोरेंस आदि प्रसिद्ध सांस्कृतिक केन्द्रों में पाण्डुलिपियों के सम्पादन का कार्य होने लगा। प्राप्त विभिन्न प्रतियों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा प्रामाणिक पाठ निर्धारित हुए और तत्पश्चात् उनका साहित्यिक अध्ययन आरम्भ हुआ। मानववादियों ने कतिपय साधनों को विशेष महत्त्व

दिया, जैसे—व्याकरण, शब्दशास्त्र, वाग्मिताशास्त्र आदि। दो-एक मानववादी विद्वानों ने सौन्दर्यपरक समीक्षा-पद्धति भी अपनाई, किन्तु अपेक्षाकृत उनका महत्त्व न्यून था। यह पाण्डित्यपूर्ण मानववादी पद्धति न केवल आजतक अक्षुण्ण बनी हुई है, वरन् उसका विकास निरन्तर होता चला आया है। उदाहरणार्थ, पिछले दो-तीन सौ वर्षों में शेक्सपियर की कृतियों के पाठभेद, समय-निरूपण, क्रम-निरूपण आदि पर जो कार्य विद्वानों ने किया है, वह चकित कर देनेवाला है। पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत के गौरव-ग्रन्थों का अध्ययन भी इसी प्रकार किया है और अब इस कार्य में भारतीय विद्वान् पीछे नहीं हैं। हिन्दी में पृथ्वीराजरासो, पद्मावत, रामचरितमानस तथा सूरदास की रचनाओं के आधिकारिक पाठ परिश्रमपूर्वक तैयार किये गये हैं। मुद्रणयन्त्र की लोकप्रियता से शुद्ध पाठ प्राप्त करने की समस्या हल नहीं हुई है। छापे की गलतियाँ कभी-कभी छिपी रह जाती हैं और उनके कारण अर्थ का अनर्थ हो जाता है। अतः, अब विद्वानों का यह भी कार्य हो गया है कि वे मुद्रित एवं प्रकाशित पुस्तकों में तथा लेखक की पाण्डुलिपि में कितना तारतम्य है, इसका पता लगा लें। ऐसे ही मूल पाठ में कितने प्रक्षिप्त अंश प्रविष्ट हो गये हैं, इसका पता लगाना भी आवश्यक है। इस प्रकार का विद्वत्तापूर्ण साहित्यिक अध्ययन अत्यन्त श्रमसाध्य है। इसके अतिरिक्त उसपर यह आक्षेप किया जाता है कि उसमें मूल्यांकन की क्रिया का अभाव रहता है, इसलिए उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। पण्डितों के परिश्रम से केवल समीक्षा की भूमिका तैयार होती है, काव्य के चमत्कारपूर्ण रहस्य का उद्घाटन उससे नहीं होता। यह आक्षेप व्यापक नहीं सिद्ध होता; क्योंकि विद्वानों के अध्ययन और विवेचन से काव्य के अनेक पक्ष आलोकित होते हैं और अनेक स्थलों पर उसका अर्थ स्पष्ट होता है। उदाहरण के लिए, हम भाषागत विशेषताओं और शब्द-शक्तियों को ले सकते हैं। हम जानते हैं कि वर्त्तमान युग में अर्थबोध, भाषा के स्वभाव और शब्दों के विभिन्न कार्यों की विशद विवेचना हुई है। बिना इन विषयों के ज्ञान के कविता को हम ठीक-ठीक नहीं समझ सकते। इसी प्रकार कोई काव्य-कृति किस परम्परा के अन्तर्गत आती है, यह जानना भी अपेक्षित है। आज का साहित्य-प्रेमी यह नहीं भुला सकता कि विश्व-वाङ्मय में कतिपय प्रवृत्तियाँ सक्रिय रही हैं और कुछ विशेष प्रकार के वाद और आन्दोलन समय-समय पर प्रकट होते रहे हैं। प्रवृत्तियों के उत्थान और पतन, सम्प्रदायों के आविर्भाव एवं विलय, साहित्यिक आन्दोलनों की सक्रिय और प्रच्छन्न अवस्थाओं का ज्ञान—ये सभी आवश्यक जानकारी के विषय हैं। इनकी जानकारी से साहित्य में प्रवेश सम्भव होता है और उसके अर्थ की कुंजी हमें प्राप्त होती है। जैसे-जैसे पाण्डित्यपूर्ण विवेचन की सम्भावनाएँ बढ़ती जा रही हैं, वैसे-वैसे साहित्य के सम्पूर्ण अर्थ (टोटल मीनिंग) को प्राप्त करने की हमारी शक्ति भी बढ़ती जा रही है।

साहित्यिक अध्ययन और अध्यापन की प्राचीन परिपाटी यूरोप की मानववादी शैली से मिलती-जुलती थी। संस्कृत-ग्रन्थों की जो प्रसिद्ध टीकाएँ उपलब्ध हैं, उनमें अन्वय, शब्दार्थ और शब्दों की व्युत्पत्ति के अतिरिक्त व्याकरणगत विशेषताओं की चर्चा मिलती है। अलंकारों और शब्द-शक्तियों का उल्लेख भी यदा-कदा मिलता है। लक्षण-ग्रन्थों में

कारिका-व्याख्या और उदाहरण क्रमशः मिलते हैं। उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त होते हैं और उत्कृष्ट काव्य से ही लिये जाते हैं। इस प्राचीन पद्धति में उस सैद्धान्तिक, कलागत एवं सौन्दर्यपरक विवेचन की कमी रहती है, जो अब मूल्यांकन का आवश्यक आधार माना जाता है। संस्कृत-साहित्य का अध्यापन अब भी इसी प्राचीन पद्धति से किसी अंश में हो रहा है, किन्तु हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं ने अध्ययन और अध्यापन की वह नवीन प्रणाली अपनाई है, जिसमें पाण्डित्य के उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त नवीन विधियों और तत्त्वों का सम्मिश्रण मिलता है। अँगरेजी साहित्य का अध्यापन जब इस देश में प्रारम्भ हुआ, तब विलायत से आनेवाले अँगरेज विद्वानों ने भारतीय छात्रों को पढ़ाने के लिए उसी शैली से काम लिया, जो दीर्घकाल से ग्रामर-स्कूलों में व्यवहृत होती आई थी। अँगरेज बच्चों को पाठशाला में जब ग्रीक और लैटिन की प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती है, तब वे उत्तम काव्यांशों को रट डालते हैं तथा अन्वय एवं टिप्पणियाँ भी उनको याद करा दी जाती हैं। ऐसी शिक्षा में भाषा पर अधिक और साहित्य पर कम बल दिया जाता है। अँगरेजी शिक्षा की प्रारम्भिक अवस्था में अँगरेज प्राध्यापक कदाचित् यह समझते थे कि भारतीय विद्यार्थियों के लिए उच्चतर साहित्यिक समीक्षा पहुँच के बाहर की वस्तु थी। इस देश में अँगरेजी साहित्य का अध्यापन भी अब नये ढंग से हो रहा है और उसमें सभी आधुनिक साधनों और प्रणालियों का सन्निवेश हो रहा है। समीक्षा और अध्यापन दोनों में व्यापकता आ गई है और दोनों ही शक्ति एवं साधन-सम्पन्न हो गये हैं। गम्भीर अध्ययन और सन्तुलित अध्यापन के साथ शोध-कार्य के योग से साहित्यिक मूल्यांकन में नवीन सामर्थ्य आ गया है।

कुछ दिन पहले तक साहित्यिक अध्ययन की तुलनात्मक प्रणाली को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया जाता था, किन्तु उसका प्रचलन कुछ घट रहा है। उदाहरणार्थ, प्रोफेसर सेण्ट्सबरी ने अपने विभिन्न ग्रन्थों में यह बात बार-बार दुहराई है कि ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक पद्धतियों के संयोग से सर्वोत्कृष्ट समीक्षा उत्पन्न होती है। इसी धारणा के कारण उन्होंने आदर्श आलोचक के लिए यह परमावश्यक माना है कि वह कम-से-कम दो विभिन्न भाषाओं में लिखे हुए साहित्य से परिचित हो तथा उसे प्राचीन, मध्ययुगीन एवं आधुनिक साहित्य का गम्भीर ज्ञान हो। विभिन्न भाषाओं के मूर्द्धन्य ग्रन्थों के सापेक्षिक अध्ययन से नई दृष्टि मिलती है और नवीन सौन्दर्योद्घाटन होता है। इसी बात को ध्यान में रखकर विशिष्ट विद्वानों ने विभिन्न भाषाओं में लिखित कृतियों अथवा एक ही भाषा में लिखी हुई विभिन्न रचनाओं को एक साथ रखकर अत्यन्त रोचक निष्कर्ष निकाले हैं। समानताओं और असमानताओं के ज्ञान से सम्यक् अर्थ-ग्रहण सरल हो जाता है, पाठक का दृष्टिकोण विस्तृत बनता है एवं मूल्यांकन सरल हो जाता है। तुलना के अनेक आधार सम्भव हैं, जैसे विषय की समानता, दृष्टिकोण की समानता अथवा शैली एवं अभिव्यक्ति की समानता। कभी-कभी विभिन्न कृतियों से मिलते-जुलते अंश चुनकर साथ-साथ प्रस्तुत किये जाते हैं। पिछले कुछ वर्षों में उपर्युक्त प्रकार की तुलनात्मक समीक्षा के प्रति यह आपत्ति की गई है कि जिन समानताओं को वह महत्त्व देती है, वे मूलतः बाह्य तत्त्व हैं।

इसमें तनिक भी आश्चर्य नहीं कि विभिन्न रचनाओं में प्रत्यक्ष समानता मिलती है; क्योंकि मानव-स्वभाव और जिस सामाजिक परिवेश में मनुष्य रहता है, उसमें एकता के अंश अनिवार्यरूपेण निहित रहते हैं। तुलनात्मक अध्ययन के आलोचक आन्तरिक तादात्म्य (इनर करेस्पॉण्डेंस) को अधिक महत्त्व देना चाहते हैं। आन्तरिक तादात्म्य से प्रयोजन है उस आन्तरिक सम्बन्ध से, जो किसी रचना के विभिन्न अवयवों को एक सूत्र में निबद्ध करता है। काव्यरूप की कल्पना इसी सजीव एकता पर आधृत है, अतः तुलना का आधार बाहर नहीं, बल्कि काव्यकृति के भीतर ही खोजना चाहिए। एक अंग और दूसरे अंग में कितनी समानता है, दोनों किस प्रकार एक ही अभेद्य सूत्र में बँधे हुए हैं, बाह्य समानताओं की अपेक्षा इन आन्तरिक सम्बन्धों में अनुसन्धान कहीं अधिक वांछनीय है—यही कतिपय आधुनिक विद्वानों का मत है।

तुलना का अधिक विस्तृत क्षेत्र भी सम्भव है। हम दो जातियों अथवा राष्ट्रों के साहित्य की तुलना कर सकते हैं, अथवा दो विभिन्न भाषाओं में लिखित साहित्यों की तुलना कर सकते हैं। कभी-कभी हिन्दी-साहित्य की तुलना बँगला, मराठी अथवा किसी अन्य भारतीय भाषा में लिखित साहित्य से की जाती है। ऐसे ही सामान्य रूप में अँगरेजी स्वच्छन्दतावादी कविता और फ्रेंच अथवा जर्मन स्वच्छन्दतावादी कविता का तुलनात्मक अध्ययन सम्भव है। यूरोपीय स्वच्छन्दतावादी साहित्य और छायावादी कविता में कितनी समानता है, इसका विचार अनर्गल न होगा। संक्षेप में विभिन्न देशों, युगों और परम्पराओं में विकसित और पल्लवित साहित्यों में पारस्परिक तुलना निष्प्रयोजन नहीं सिद्ध होगी। इस प्रकार की विस्तृत तुलना से सम्बद्ध एक दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी है। यह अत्यन्त विचारणीय है कि एक जातीय साहित्य दूसरे जातीय साहित्य से किस हद तक प्रभावित हुआ है और जो समानताएँ परिलक्षित होती हैं, वे आकस्मिक हैं अथवा पारस्परिक आदान-प्रदान के कारण। कालिदास और शेक्सपियर की तुलना करते समय प्रभाव का प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना सेनेका और शेक्सपियर अथवा वाल्टर स्कॉट और बाल्जाक का सापेक्षिक अध्ययन करते समय। किन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि तुलनात्मक अध्ययन करते समय प्रभावों का प्रश्न पग-पग पर सामने आता है। प्रभाव एक स्थल से दूसरे स्थल तक कैसे पहुँचे, एक लेखक से दूसरे लेखक तक उनका परिवहन कैसे हुआ, ये समस्याएँ निरन्तर विचारणीय बनी रहती हैं। जब हम विभिन्न राष्ट्रीय साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं, तब हमारा ध्यान उस बृहत्तर एकता की ओर आकृष्ट होता है, जिसके अन्तर्गत विश्व-साहित्य की कल्पना साकार हो जाती है। तब हमें अवगत होने लगता है कि कुछ विषय (मोटिव्ज), आकार (पैटर्न्स), आन्दोलन (मूवमेण्ट्स) ऐसे हैं, जो विश्व-साहित्य में सर्वत्र मिलते हैं। फलतः राष्ट्रीय साहित्य विश्व-साहित्य का एक अंगमात्र बन जाता है। इस दिशा में अब अधिकाधिक विचार होने लगा है और आशा की जाती है कि भविष्य में विश्व की भावात्मक एकता के निर्माण में विश्व-साहित्य का आदर्श अमूल्य योगदान करेगा।

इतिहास और साहित्य के सम्बन्ध को लेकर पहला महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है

कि साहित्य के जो इतिहास आज मिलते हैं, उन्हें हम आलोचना की कोटि में रख सकते हैं अथवा नहीं। इस प्रश्न का उत्तर कठिन नहीं है; क्योंकि ऐसे ग्रन्थ, जिनमें केवल तथ्य और तिथियाँ हैं, साहित्यिक समीक्षा की श्रेणी में स्थान पाने के अधिकारी कदापि नहीं हो सकते, किन्तु जिन ग्रन्थों अथवा निबन्धों में तथ्यों के साथ प्रवृत्तियों, प्रभावों और विशेषताओं का स्पष्ट और सन्तुलित विवेचन मिलता है, उन्हें हम आलोचना कह सकते हैं। पाश्चात्य जगत् में रोमन विचारक क्विण्टिलियन ने सर्वप्रथम ग्रीक और लैटिन-साहित्य का संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय प्रस्तुत किया। तब से आजतक विभिन्न भाषाओं में साहित्य के अनेक इतिहास लिखे गये हैं। आधुनिक काल में गम्भीर अध्ययन, दार्शनिक और वैज्ञानिक विश्लेषण तथा कलात्मक मूल्यों के सम्यक् ज्ञान के आधार पर लिखे हुए इतिहास-ग्रन्थ हमारे लिए अमूल्य निधि सिद्ध हुए हैं। उनके पढ़ने से आनन्द और नवीन ज्ञान की उपलब्धि तो होती ही है, इसके अतिरिक्त वे विशुद्ध साहित्यिक समीक्षा के लिए भूमिका तैयार करते हैं। प्राचीनकाल के भारतीय आचार्यों ने ऐतिहासिकता को तनिक भी महत्त्व नहीं दिया। वे व्याख्या और खण्डन-मण्डन में ही लगे रहे और अधिक-से-अधिक यदाकदा उन्होंने तुलना की ओर भी अपनी प्रवृत्ति प्रदर्शित की, किन्तु आज की साहित्यिक समीक्षा इतिहास-ग्रन्थों में संगृहीत सामग्री छोड़कर अपना कार्य करने में नितान्त असमर्थ है। अब परिस्थिति यह है कि इतिहास साहित्यिक अध्ययन का मूलाधार बन गया है। दूसरा प्रश्न ऐतिहासिक समीक्षा की उपयोगिता से सम्बद्ध है। उसके विरोधी पक्ष का कथन है कि साहित्यिक अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु रचनाओं में ही मिलता है, अतः उन्हीं का विश्लेषण, अध्ययन और मूल्यांकन होना चाहिए और इतिहास तथा अन्य बाह्य तत्त्वों को अधिक महत्त्व देना ठीक नहीं है। इस मत का प्रतिपादन कई अमेरिकी विचारकों ने अनेक तर्कों द्वारा किया है। उत्तर में हम कह सकते हैं कि उस केन्द्र-बिन्दु को यदि बाहर से आलोक मिलता है, तो इसमें क्या आपत्ति हो सकती है। उत्कृष्ट कोटि की ऐतिहासिक समीक्षा काव्य के रूप और सौष्ठव को ऐतिहासिक प्रभावों से संलग्न मानकर उनकी व्याख्या करती है। काव्य का मूल्य सामाजिक जीवन में छिपा रहता है, अतएव ऐतिहासिक प्रभावों के घात-प्रत्याघात से वह अछूता नहीं रह सकता। ऐतिहासिक अध्ययन द्वारा साहित्यिक प्रवृत्तियों के अभ्युदय और अवसान का पता चलता है तथा यह भी अवगत होता है कि उनमें उत्थान-पतन की प्रक्रिया में कौन-सा अनिवार्य क्रम निहित है। उदाहरणार्थ हम देखते हैं कि शास्त्रीय और स्वच्छन्दतावादी धाराएँ किस प्रकार एक-दूसरे के विरोध में अपना कार्य करती हैं, किस प्रकार साहित्य में नियमन और विद्रोह, रूढ़ि और प्रयोग निरन्तर परिलक्षित होते रहते हैं। पिछले दो सौ वर्षों में इतिहास-दर्शन के विषय में गम्भीर चिन्तन हुआ है तथा वीको, हर्डर, हेगल, ट्वायन्बी आदि ने कला और संस्कृति के क्षेत्र में क्रमशः कौन-सी अवस्थाएँ विकसित होती आई हैं, इसपर सुन्दर प्रकाश डाला है। यह समस्त चिन्तन ऐतिहासिक अध्ययन की परिपाटी को परिपुष्ट बनाने में सहायक है। इसी भाँति इतिहास द्वारा हमें विभिन्न परम्पराओं का ज्ञान प्राप्त होता है, जैसे प्राचीन परम्परा, मध्यकालीन परम्परा और आधुनिक परम्परा अथवा प्राच्य परम्परा, रोमान्स-परम्परा, स्कैण्डिनेवियन परम्परा आदि। परम्परा

का निर्माण मूलभूत ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक तत्त्वों द्वारा होता है। किसी ग्रन्थ का किसी विशिष्ट परम्परा के अन्तर्गत कैसा स्थान है, यह प्रश्न अत्यन्त विचारणीय है। साहित्यिक इतिहास को हम विभिन्न युगों में विभक्त करते हैं, कभी शासक के नाम पर, जैसे एलिजाबेथ का काल अथवा विक्टोरिया का काल। शताब्दियों को लेकर भी युग-विभाजन होता है। राजत्वकाल अथवा शताब्दी को लेकर साहित्यिक युगों के नामकरण के बारे में कई शंकाएँ उठती हैं। क्या किसी राजा के सिंहासनारूढ़ होने से अथवा किसी शती के आरम्भ होने से तत्काल नवीन विशेषताएँ प्रकट होने लगती हैं अथवा राजा के निधन अथवा शताब्दी के अन्त में प्रवृत्तियाँ स्वतः बदलने लगती हैं? ऐसी आपत्तियों के कारण युग-विभाजन की नई समस्याएँ सामने आने लगी हैं। जहाँतक अध्यापन का प्रश्न है, इंगलैण्ड, अमेरिका और भारतवर्ष में भी ऐतिहासिक दिग्दर्शन को अत्यधिक महत्त्व दिया जा रहा है। विश्व-विद्यालयों में इतिहास की रूपरेखा विद्यार्थियों के समक्ष पेश की जाती है। इसी को अमेरिका में 'सर्वे कोर्स' कहते हैं, जिसे लेकर कुछ दिनों से वाद-विवाद चल रहा है। 'सर्वे कोर्स' के आलोचक यह चाहते हैं कि ऐतिहासिक विकास पर ध्यान इतना अधिक न केन्द्रित किया जाय; क्योंकि उससे अधिक कहीं महत्त्वपूर्ण यह है कि विद्यार्थियों को कतिपय उत्कृष्ट रचनाओं का विस्तृत और गम्भीर ज्ञान करा दिया जाय। इतिहास साहित्य का रेखाचित्र-मात्र देता है। साहित्य के वास्तविक गौरव का पता मूर्द्धन्य कोटि के ग्रन्थों से ही चलता है और वास्तव में इन्हीं ग्रन्थों की क्रमिक शृंखला द्वारा किसी साहित्यिक परम्परा का निर्माण होता है। इस विवाद में अधिक सार नहीं है; क्योंकि समुचित अध्ययन और अध्यापन के लिए दोनों प्रणालियों का ज्ञान आवश्यक है।

जीवनी भी इतिहास का ही एक रूप है। उसमें किसी व्यक्ति-विशेष का जीवन-वृत्तान्त तथा उसकी चारित्रिक विशेषताएँ क्रमबद्ध रीति से वर्णित होती हैं। जीवन-चरित्र में घटनाओं पर विशेष बल दिया जाता है, किन्तु जीवन-चरित्र अथवा जीवनी में चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन भी साथ-साथ होता रहता है। जीवनी-लेखन का प्राचीन काल में महत्त्व कम था, किन्तु आधुनिक काल में उसमें अद्भुत उन्नति हुई है। फलतः वर्त्तमान शताब्दी में संसार के अनेक देशों में ऐसे जीवन-चरित्र लिखे गये हैं, जो रोचक होने के अतिरिक्त उत्कृष्ट साहित्यिक गुणों से समन्वित हैं। ऐसी उत्तम रचनाओं से सिद्ध होता है कि जीवन-चरित्र केवल इतिहास का ही एक अंग नहीं, वरन् एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक रूप भी है। यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि किसी लेखक अथवा कवि के जीवन-चरित्र से उसकी रचनाओं के समझने में कितनी सहायता मिलती है। क्या हम जीवन में होनेवाली घटनाओं, विचारों, भावनाओं तथा नैतिक उद्देश्यों के आधार पर किसी साहित्यकार की रचनाओं का वास्तविक अर्थ ग्रहण कर सकते हैं तथा उनका मूल्यांकन कर सकते हैं? कतिपय कवियों और लेखकों ने आत्मचरित्रात्मक साहित्य का सर्जन किया है। उदाहरणार्थ, प्रसिद्ध अँगरेज कवि वर्ड्सवर्थ की 'द प्रिल्यूड' नामक कविता में उसके कल्पनात्मक एवं भावात्मक विकास की कथा निबद्ध है। 'डैविड कॉपरफील्ड' नामक उपन्यास में डिकेन्स के निजी अनुभव मिलते हैं तथा एच० जी० वेल्स ने अपने कई उपन्यासों में अपने ही

वैयक्तिक जीवन और अनुभव को कथानक के रूप में प्रकट किया है। ऐसे ही वैयक्तिक निबन्धों और मुक्तकों में प्रणेता के जीवन और चरित्र की अभिव्यक्ति होती है। इन उदाहरणों को ध्यान में रखकर हम सहज ही इस निष्कर्ष तक पहुँचते हैं कि साहित्य में लेखक की आत्माभिव्यक्ति होती है। अतः उसके व्यक्तित्व को समझ लेना अध्ययन और समीक्षा की दृष्टि से सदैव हितकर होगा। काल और परिस्थितियों का प्रभाव भी बहुधा व्यक्तित्व के माध्यम से ही प्रकट होता है। अतएव जीवन-चरित्रात्मक अध्ययन-शैली और समाजवादी अध्ययन-शैली में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। अत्यन्त प्राचीन काल से काव्य-कृतियों को कवि की जीवनी के सन्दर्भ में देखने की परम्परा चली आई है। लांजिनस ने होमर के दोनों महाकाव्यों की तुलना करते हुए यह मत प्रकट किया है कि 'ओडिसी' होमर की वृद्धावस्था की रचना है, अतः वह 'इलियड' की अपेक्षा असफल एवं त्रुटिपूर्ण है। जीवन-चरित्रात्मक समीक्षा का यह प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयास था। डॉ० जॉन्सन ने कवियों की जीवनियाँ लिखी हैं, 'द लाइव्ज ऑफ द पोएट्स', जिनमें जीवन-वृत्तान्त और साहित्यिक समीक्षा का अद्भुत सम्मिश्रण मिलता है। १९वीं शताब्दी में मार्ले की प्रेरणा से 'द इंगलिश मेन ऑफ लेटर्स' नामक पुस्तकमाला का प्रकाशन हुआ, जिसमें सम्मिलित होनेवाले सभी ग्रन्थ जीवन-चरित्र और साहित्य-रचना के निकटतम सम्बन्ध को मानकर लिखे गये हैं। उसी शती में सां बो, मैथ्यू आर्नल्ड प्रभृति मनीषियों ने भी इसी दृष्टिकोण का समर्थन किया। आर्नल्ड की प्रसिद्ध उक्ति है कि कविता जीवन की समीक्षा है। अतएव उसमें जीवन की अभिव्यक्ति स्वाभाविक है और पाठक अथवा आलोचक के लिए कवि के जीवन का ज्ञान भी आवश्यक हो जाता है।

इतना तो स्पष्ट है कि साहित्य और साहित्यकार के जीवन में निकटतम सम्बन्ध है, इसलिए जीवनियों से साहित्यिक अध्ययन में सहायता मिलती है। किन्तु, इस प्रसंग में कुछ अत्यन्त गम्भीर प्रश्न सामने आते हैं, जो जीवन-चरित्रात्मक मूल्यांकन के महत्त्व को सीमित बना देते हैं। क्या काव्य में लेखक के जीवन की यथातथ्य अभिव्यक्ति होती है और क्या ऐसा होना वांछनीय है? क्या साहित्य में हमारे वास्तविक भाव और विचार उसी प्रकार अंकित होते हैं, जैसे फोटोग्राफ में हमारा रूप अंकित होता है? क्या आत्म-प्रकाशन का कार्य हमारी मानसिक ग्रन्थियों के कारण कठिन नहीं हो जाता? क्या काव्य में हम अपनी वास्तविक आन्तरिक समस्याओं से पलायन करते हुए नहीं दिखाई देते? क्या रेचन और उदात्तीकरण के सिद्धान्त सहज आत्माभिव्यक्ति की कल्पना को असिद्ध नहीं कर देते? इस प्रकार की न जाने कितनी समस्याएँ उठती हैं, अतएव जीवन-चरित्रात्मक समीक्षा में हमारी आस्था घटती जा रही है। यहाँ हम रेने वेलेक के मत को उद्धृत कर रहे हैं, जिससे जीवन-चरित्रात्मक समीक्षा-विषयक आधुनिक चिन्तन का पता चलेगा :

"The whole view that art is self-expression, pure and simple, the transcript of personal feelings and experiences is demonstrably false. Even when there is a close relationship between the work of art and

the life of an author, this must never be construed as meaning that the work of art is a mere copy of life. The biographical approach forgets that a work of art is not simply the emobodiment of experience but always the latest work of art in a series of such work; a drama, a novel, a poem is 'determined', so far as it is determined at all, by literary tradition and convention. The biographical approach actually obscures a proper comprehension of the literary process, since it breaks up the order of literary process, since it breaks up the order of literary tradition to substitute the life cycle of an individual. The biographical approach ignores also quite simple psychological facts. A work of art may rather embody the 'dream' of an author than his actual life, or it may be the 'mask', the 'anti-self' behind which his real person is hiding, or it may be a picture of the life from which the author wants to escape. Futhermore, we must not forget that artist may 'experience' life differently in terms of his art, actual experiences are seen with a view to their use in literature and come to him already partially shaped by artistic traditions and preconceptions."

ऐतिहासिक तथा जीवन-चरित्रात्मक प्रणाली से मिलती-जुलती समाजवादी समीक्षा-पद्धति का विस्तार और महत्त्व आज के युग में बहुत अधिक बढ़ गया है। प्रभाववादी समीक्षा व्यक्तिनिष्ठ एवं इतिहास-निरपेक्ष होती है, किन्तु समाजवादी आलोचना सापेक्ष होती है और वह साहित्य की विवेचना सामाजिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर करती है। १९वीं शताब्दी में कई यूरोपीय विद्वानों ने साहित्यिक अध्ययन के प्रसंग में सामाजिक संघटन का विश्लेषण प्रस्तुत किया। उदाहरणार्थ, प्रोफेसर लेस्ली स्टिफिन्स ने १८वीं शताब्दी के अँगरेजी-साहित्य की पीठिका को विषय बनाकर कई भाषण दिये, जो अन्ततोगत्वा पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुए। वर्त्तमान शती में सामाजिक पृष्ठभूमि के अध्ययन की परम्परा चल पड़ी है। शेक्सपियर, डॉ० जॉन्सन, डिकेन्स आदि की सम-सामयिक सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था का गूढ़ अध्ययन हुआ है। इसी प्रकार विभिन्न शताब्दियों की सामाजिक पृष्ठभूमि को विषय बनाकर विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे गये हैं। कुछ विद्वानों ने सामान्य रीति से सामाजिक शक्तियों, प्रभावों और तथ्यों का निर्देशन किया है, किन्तु मार्क्सवादी विद्वानों ने ऐतिहासिक एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्तों को अपने विश्लेषण के निमित्त व्यवहृत किया है। इस थोड़े-से भेद के साथ समाजवादी अध्ययन-शैली की लोकप्रियता अत्यन्त व्यापक हो गई है।

सामाजवादी समीक्षकों के सामने प्रमुख प्रश्न प्रभाव और उत्पत्ति का है। उनका मत है कि विभिन्न काव्य-रूपों की उत्पत्ति सतत परिवर्त्तनशील सामाजिक अवस्था के कारण हुई है। सामाजिक शक्तियों में वे आर्थिक व्यवस्था को विशेष महत्त्व देते रहे हैं।

आदिमयुगीन समाज में पुरावृत्त और लोककाव्य का जन्म हुआ, प्राचीन यूनान और रोम की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था से महाकाव्य और दुःखान्त नाटकों की उत्पत्ति हुई, मध्ययुग में सामाजिक और राजनीतिक कारणों से महाकाव्य और रोमान्स-कथाओं को प्रश्रय मिला और आधुनिक युग में क्रमशः यथार्थवादी कथाएँ, नाटक, उपन्यास, निबन्ध, मुक्तक आदि अपने विभिन्न रूपों में प्रकट हुए हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजवादी अध्ययन-पद्धति मूलरूपेण उत्पत्ति की व्याख्या में विशेष रूप से सचेष्ट है। सामाजिक संघटन और काव्य-रूप के निकटतम सम्बन्ध पर उसका विशेष आग्रह है। सामाजिक समीक्षा का दूसरा उद्देश्य है विभिन्न युगों की विशेषताओं को तत्कालीन सामाजिक अवस्था के प्रसंग में उद्घाटित करना। एलिजाबेथ-काल, १८वीं शताब्दी, अथवा विक्टोरिया-काल की सभी विशेषताओं को आर्थिक और सामाजिक प्रवृत्तियों के आधार पर समझने का प्रयास किया गया है। ऐसे ही साहित्यिक आन्दोलनों का उत्स भी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत मानते हैं। उदाहरणार्थ, १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रकट होनेवाले उस सौन्दर्यवादी आन्दोलन का, जिसका मूल मन्त्र था 'कला कला के लिए', आर्थिक कारणों से आविर्भाव हुआ। उद्योगीकरण और उच्च मध्यवर्ग के महत्त्व-वर्द्धन के कारण कलाकार अपने को समाज से विच्छिन्न प्रतीत करने लगा। एकाकी होकर उसने ऐकान्तिक और समाज-निरपेक्ष कला-दर्शन में आश्रय लिया।

समाजवादी व्याख्या का सर्वाधिक चमत्कारपूर्ण रूप वह है, जिसमें काव्य के स्वरूप को सामाजिक शक्तियों के आघात और आग्रह से निर्धारित मानते हैं। बेडसन, क्लिन्थ, ब्रुक्स, डैन्बी प्रभृति विद्वानों ने कविता के आकार और शैली को सामाजिक शक्तियों द्वारा नियोजित प्रमाणित करने के लिए अनेक काव्य-रचनाओं का विस्तृत विश्लेषण किया है। उपन्यास के क्षेत्र में ऐसी व्याख्या की विशेष उपादेयता है; क्योंकि सामाजिक शक्तियों का सीधा प्रतिफलन कथा-साहित्य में ही होता है। मार्क्सवादी पण्डितों ने अनेक कवियों और लेखकों की रचनाओं को जनजीवन और लोक-अभिरुचि की तुला पर तौलते हुए यह दिखाने का प्रयास किया है कि प्रायः सदैव साहित्य का न केवल नैतिक उद्देश्य, वरन् रूप और संघटन भी बहुत-कुछ सामाजिक संघटन के अनुरूप होता है।

समाजवादी व्याख्या के बारे में सर्वाधिक विचारणीय प्रश्न उसके महत्त्व से सम्बन्ध रखता है। साहित्यिक अध्ययन की प्रक्रिया में हम उसे कितना मूल्यवान् समझते हैं, यह गम्भीर चिन्तन का विषय है। निःसन्देह समाजवादी अध्ययन से ऐसे बहुमूल्य तथ्यों का ज्ञान प्राप्त होता है, जो किसी भी काव्य-कृति के समझने के लिए अनिवार्य साधन हैं। साहित्य का न केवल मूल, वरन् शाखाएँ भी सामाजिक परिवेश में स्थित हैं और उनको समाज से ही अपना पोषक तत्त्व मिलता है। ऐसी दशा में समाज-विषयक जानकारी साहित्य के समझने में सहायक सिद्ध होगी, यह स्वाभाविक है। किन्तु कठिनाई तब उत्पन्न होती है, जब हम कलागत मूल्यों को ग्रहण करने की चेष्टा करते हैं। कोई काव्यकृति किन सामाजिक प्रभावों से उत्पन्न हुई है, किन प्रभावों ने उसकी विशेषताओं को निर्धारित किया है, इन बातों का पता तो सरलता से लग जाता है। उक्त रचना के रूप-विधान को भी हम किसी

अंश में समाजवादी व्याख्या के आधार पर समझ सकते हैं। किन्तु, साहित्यिक अध्ययन का अन्तिम ध्येय मूल्यांकन है, अर्थात् यह निर्णय करना पड़ता है कि काव्यकृति अच्छी अथवा बुरी, सुन्दर अथवा असुन्दर, सफल अथवा असफल है। इन मौलिक प्रश्नों का उत्तर समाजवादी व्याख्या केवल अंश-रूप में दे सकती है। अतएव, हम यही मान सकते हैं कि समाजवादी अध्ययन साधनों का ज्ञान कराने में अत्यन्त समर्थ है, किन्तु चरम ध्येय तक ले जाने में कमजोर पड़ता है।

दार्शनिक विचारों के सहारे साहित्य की आत्मा तक पहुँचने का महत्त्वपूर्ण प्रयास जर्मनी, अमेरिका तथा अन्य प्रबुद्ध देशों में किया गया है। 'द हिस्ट्री ऑफ आइडियाज' अभी नया नाम है, किन्तु यह सर्वत्र प्रयुक्त होने लगा है। दर्शनशास्त्र के इतिहास एवं विचारों के इतिहास में थोड़ा-सा अन्तर यह है कि प्रथम क्रमबद्ध दार्शनिक चिन्तन को महत्त्व देता है, किन्तु द्वितीय स्फुट विचारों को भी मान्यता प्रदान करता है। विशुद्ध दर्शन से साहित्य गम्भीरतापूर्वक प्रभावित हुआ है और प्लेटो से लेकर स्पिनोजा, काण्ट, हेगेल, नीत्से, बर्गसाँ, क्रोचे प्रभृति दार्शनिकों की विचार-सरणियों की छाप साहित्य पर सहज ही देखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त सुविख्यात दार्शनिक काव्यों से हम भलीभाँति परिचित हैं; जैसे दान्ते का 'डिवाइन कॉमेडी' और गेटे-विरचित 'फॉस्ट' का द्वितीय भाग। अनेक महाकवियों की रचनाओं को हम बिना दार्शनिक ज्ञान के ठीक-ठीक नहीं समझ सकते। उदाहरणार्थ, स्पेन्सर का काव्य हम तभी समझ पायेंगे, जब प्लेटो और नियोप्लेटोनिस्ट विचारकों के सिद्धान्तों से हम परिचित हों। शेली की कविता का सार ग्रहण करने के लिए गॉडविन, प्लेटो आदि की स्थापनाओं का ज्ञान अपेक्षित है। दर्शन और साहित्य के सम्बन्ध में यथेष्ट वाद-विवाद हो चुका है। कुछ लोगों का कहना है कि विचारों की गम्भीरता से कविता स्वतः उत्कृष्ट बन जाती है। इस भाँति विचार-गाम्भीर्य को ही हम उत्कृष्टता का मानदण्ड मान लेते हैं। दूसरी ओर, यह मत व्यक्त किया गया है कि कविता में विचारों का महत्त्व केवल गौण है। कवि दार्शनिक सामग्री दूसरों से प्राप्त करते हैं और उनका अपना दार्शनिक चिन्तन कोई महत्त्व नहीं रखता। उनकी महत्ता तो विचारों को रूप देने में है। अभिव्यक्ति-निरूपण, सुन्दर प्रकाशन यही कवि का कार्य है और इसी में उसकी सफलता और असफलता की परख होती है। सफल दार्शनिक काव्य उसी को कहते हैं, जिसमें गम्भीर विचार साधारणीकृत होकर अपने कलात्मक रूप में प्रकट होते हैं।

'दि हिस्ट्री ऑफ आइडियाज' अर्थात् विचारों के इतिहास में ऐसे अस्फुट विचारों को भी महत्त्व दिया जाता है, जो किसी सिस्टम अथवा क्रमबद्ध व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं आते। भावना (सेण्टीमेण्ट), दृष्टिकोण (ऐटीट्यूड) आदि भी साहित्य-रचना में योगदान करते हैं और उनपर ध्यान केन्द्रित करने से साहित्यिक वैशिष्ट्य का पता चलता है। प्रेम, ईर्ष्या, भय, मृत्यु, नियति तथा अन्य अनेक ऐसे सामान्य प्रत्यय हैं, जो साहित्य को निरन्तर प्रेरणा और सामग्री प्रदान करते रहे हैं। आधुनिक युग में ऐसे बहुसंख्यक ग्रन्थ लिखे गये हैं, जिनमें इन सामान्य प्रत्ययों को लेकर साहित्य की व्याख्या की गई है। उदाहरण के लिए, हम 'दि एलिगॉरी ऑफ लव', 'द रोमाण्टिक एगोनी' जैसे ग्रन्थ ले सकते हैं।

साहित्य के निरीक्षण द्वारा यह पता चलता है कि व्यापक साहित्यिक प्रवृत्तियों का मूल भी दार्शनिक चिन्तनधारा में छिपा रहता है। प्रत्ययवादी और यथार्थवादी, आइडियलिस्ट और रियलिस्ट—इन दो प्रमुख दार्शनिक विचार-सरणियों से साहित्यिक रोमाण्टिसिज्म और रियलिज्म—'स्वच्छन्दतावाद और यथार्थवाद' का सीधा सम्बन्ध है। इस प्रकार दर्शन एवं विचारों के इतिहास से साहित्य का कितना सान्निध्य है, यह सहज ही प्रतीत हो जाता है। किन्तु, इस निकटस्थ सम्बन्ध पर बहुत अधिक आग्रह समीचीन नहीं है। हम यह नहीं कह सकते कि साहित्य दार्शनिक विचारों पर निर्भर है अथवा दार्शनिक विचार उसके लिए निश्चित प्रतिमान प्रस्तुत करते हैं। हम केवल सामान्य सम्बन्ध को स्वीकार कर सकते हैं और केवल इतना मान सकते हैं कि दर्शन और चिन्तन का मार्ग भी हमें साहित्यिक मूल्यांकन की ओर काफी दूर तक ले जाता है। इस सम्बन्ध में एक सुविख्यात विद्वान् का निम्नलिखित मत देखिए :

"At least, it should be granted that philosophical poetry integrated, is only a kind of poetry, and that its position is not necessarily central in literature unless one holds to a theory of poetry which is revelatory, essentially mystical. Poetry is not substitute-philosophy; it has its own justification and aim. Poetry of ideas is like other poetry, not to be judged by the value of the material but by its degree of integration and artistic intensity."

भारतीय साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि अत्यन्त प्रौढ़ एवं विकसित है। दर्शन के ज्ञान के विना काव्य का समझना कठिन है, और आचार्यों ने तो अपने काव्य-सिद्धान्तों का निर्माण दार्शनिक चिन्तन की बुनियाद पर ही किया है। ध्वनिवादियों ने पग-पग पर शैव-दर्शन से प्रेरणा प्राप्त की है और रस-सिद्धान्त वेदान्त तथा शैव-दर्शन द्वारा गहराई तक प्रभावित है। न्याय, मीमांसा, योगदर्शन—सभी का समावेश साहित्य-सिद्धान्त के अन्तर्गत हो गया है। इसी भाँति बौद्ध और जैन-दर्शन, सूफी मत और पाश्चात्त्य दार्शनिक विचार-धाराओं ने भी हमारे साहित्य पर अपनी छाप डाली है। उदाहरण के लिए, पिछले ४०-५० वर्षों में पाश्चात्त्य कल्पना-सिद्धान्त, मार्क्सवाद, फ्रायड और युंग की नवीन मनोवैज्ञानिक स्थापनाओं तथा क्रोचे, सार्त्र प्रभृति विचारकों का प्रभाव कम या अधिक मात्रा में हमारे आधुनिक साहित्य पर द्रष्टव्य है। हिन्दी की नवीन कविता में जिस क्षणवाद का उल्लेख बार-बार हो रहा है, उसका सम्बन्ध केवल बौद्ध और हिन्दू-दर्शन में मिलनेवाली क्षणिक परिवर्त्तन की कल्पना-मात्र से नहीं है, उसमें हेराल्काटस से लेकर बर्गसाँ तक के तद्विषयक यूरोपियन चिन्तन का आभास भी मिलता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी की कविता में दार्शनिक मतों और सिद्धान्तों का अंश प्रमुख रूप से निबद्ध मिलता है। बौद्ध सिद्धों का रहस्यवाद, जैनों की आस्था, निर्गुण सन्तों का ब्रह्मचिन्तन काव्य के अनिवार्य कारण तथा उसकी शक्ति और प्राण बनकर प्राचीन हिन्दी-काव्य में अभिव्यक्त हुए हैं। सूफी-काव्य प्रत्यक्ष रूप में दार्शनिक है और हिन्दी का समस्त भक्तिकाव्य वेदान्त से

अनुप्राणित है। आधुनिक काव्य की दार्शनिकता के बारे में हम कह चुके हैं। भारतीय साहित्य और दर्शन के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध को देखते हुए हमें यह भी कहना पड़ता है कि इस देश में साहित्यिक अध्ययन की योग्यता प्राप्त करने के लिए दर्शन का अवलोकन और अध्ययन परम वांछनीय है।

यहाँ साहित्य-दर्शन अथवा साहित्यशास्त्र तथा उसके ज्ञान की उपयोगिता पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा। साहित्य के स्वभाव और रूप, उद्भव और प्रभाव इत्यादि के सम्बन्ध में दीर्घकाल से गम्भीर चिन्तन होता आया है और उसके फलस्वरूप कुछ ऐसे मौलिक सिद्धान्त निर्धारित हुए हैं, जिनका ज्ञान कवि और आलोचक दोनों के लिए सहायक सिद्ध होता है। इन्हीं सार्वभौम और चिरस्थायी सिद्धान्तों को लेकर साहित्य-दर्शन का निर्माण हुआ है। प्रत्येक देश का अपना साहित्य-दर्शन है, किन्तु सापेक्षिक आलोचना से पता चलता है कि उन सबमें अत्यधिक एकरूपता है। काव्य की उत्पत्ति, प्रेषण और प्रभाव से सम्बद्ध एक ही प्रकार के मत संसार के विभिन्न भागों में व्यक्त किये गये हैं। इन मौलिक सिद्धान्तों, सारभूत नियमों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि इनके बिना व्यावहारिक समीक्षा और मूल्यांकन का कार्य आगे नहीं बढ़ सकता। प्रभाववाद और परख (एप्रिसिएशन) की चर्चा हम ऊपर कर आये हैं। उनके लिए सिद्धान्त नितान्त अनिवार्य नहीं होते, किन्तु अधिकतर मूल्यांकन स्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर ही होता है। जब इन सिद्धान्तों को मानदण्ड बनाकर साहित्यिक सौष्ठव की नाप-तौल यन्त्रवत् होने लगती है, तब समीक्षा अपनी हीनावस्था को प्राप्त होती है, किन्तु सिद्धान्तों के विवेकपूर्ण एवं सुरुचिपूर्ण व्यवहार से आलोचना सक्षम एवं सरल बनती है। जितना उत्तम निर्देशन हमें इन शाश्वत और सर्वमान्य सिद्धान्तों से मिलता है, उतना किसी अन्य स्रोत से नहीं। इसलिए, साहित्यशास्त्र के ज्ञान द्वारा निर्मित पीठिका साहित्यिक अध्ययन के लिए अनिवार्यरूपेण अपेक्षित है। बिना भरत और अरस्तू, आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त, होरेस और दान्ते द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के सामान्य ज्ञान के साहित्यिक अध्ययन की प्रक्रिया सुचारु रूप से नहीं चल सकती। यही बात अपेक्षाकृत नवीन साहित्यिक चिन्तन के बारे में भी सत्य है। सिद्धान्तों के ज्ञान के बिना साहित्य का ज्ञान अधूरा और छिछला रह जाता है।

साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन आज के युग में अत्यन्त लोकप्रिय हो रहा है; क्योंकि उसकी सहायता से अनेक चमत्कारपूर्ण उद्घाटन सम्भव हो गये हैं। तब भी हम यह नहीं कह सकते कि साहित्यिक विवेचन की मनोवैज्ञानिक परम्परा नितान्त नवीन है। उदाहरणार्थ, काव्य-प्रेरणा की कल्पना अत्यन्त प्राचीन है और सर्वत्र उसका आधार मूलतः मनोवैज्ञानिक है। कवि का मानस किस प्रकार उद्वेलित होकर काव्य-सर्जन के लिए विह्वल हो उठता है, इसका वर्णन प्राच्य और पाश्चात्य काव्यशास्त्र में समान रूप से मिलता है। प्रेरणा और आत्मप्रकाशन की सम्मिलित प्रक्रिया को सर्वत्र मान्यता मिली है। फ्रायड ने काव्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में नवीन मत प्रकट किये हैं। उनका कथन है कि काव्य में काम-वासना अपने उदात्त (सब्लिमेटेड) रूप में प्रकट होती है। उन्हीं का यह भी मत है कि कवि अपनी मानसिक अस्वस्थता, स्नायविक विक्षेप (न्यूरोसिस) के कारण काव्य-सर्जन

करता है। वह स्वयं रुग्ण होकर कष्ट झेलता है, किन्तु दूसरों के आनन्द का साधन प्रस्तुत करता है। टी० एस्० इलियट ने एक स्थल पर अन्य शब्दों में कुछ ऐसा ही विचार व्यक्त किया है। उन्होंने लिखा है कि जब उनका मन विषादग्रस्त और शरीर रुग्ण एवं दुर्बल होता है, तब उनके लिए काव्य-लेखन अपेक्षाकृत सरल हो जाता है। इस विचार में कितना सार है, हम नहीं कह सकते; क्योंकि न्यूरोसिस केवल कवि की ही विशेषता नहीं है। पूर्ण मानसिक सन्तुलन और व्यवस्था अत्यन्त दुर्लभ है। कवि आत्म-प्रकाशन करता है, अतः उसकी दुर्बलता सहज ही दिखाई देती है, किन्तु अन्य जनों में वह विविध प्रकार के आवरण में परिवेष्टित रहती है। आधुनिक युग में तो मानसिक द्वन्द्व और विरोधी उद्देश्यों के कारण प्रायः सभी के मन में कोई-न-कोई ग्रन्थि बन जाती है तथा न्यूरोसिस के लक्षण सभी के व्यवहार में परिलक्षित होते रहते हैं। किन्तु, इतने पर भी सभी लोग काव्य-रचना नहीं करते, अतएव फ्रायड के उपर्युक्त सिद्धान्त में विश्वास करना कठिन हो जाता है।

काव्य की उत्पत्ति के अतिरिक्त उसकी प्रेषणीयता की समस्या का भी मनोवैज्ञानिक समाधान खोज लिया गया है। लय भाषा का विशिष्ट गुण है और काव्य में वह नियमित और परिष्कृत होकर प्रकट होती है। छन्द लय का ही क्रमबद्ध रूप है। लय की आकांक्षा और उसके ग्रहण करने की क्षमता वासना-रूप में हमारे मन में निहित रहती है, इसीलिए लय-नियोजना और छन्दोविधान से हमें सदैव आनन्द प्राप्त होता है। हार्टोग महोदय ने छन्द की उपयोगिता की सुन्दर मनोवैज्ञानिक व्याख्या उपलब्ध की है। छन्द की संयत ध्वनि और प्रतिध्वनि हमारी चेतना की बाह्य परिधि में इस प्रकार भर जाती है कि हमारा केन्द्रीय चेतन मन बाह्य प्रभावों से पृथक् हो जाता है। आन्तरिक चेतन मन का इस प्रकार पृथक्करण (आइसोलेशन) हो जाता है और हम सौन्दर्य-तत्त्व को बिना व्यवधान के एकाग्र मन से ग्रहण करते हैं। इसी भाँति बिम्बों, प्रतीकों, रूपकों आदि का भी मनोवैज्ञानिक आधार है। कार्ल युंग ने सामूहिक अचेतन में विद्यमान और निरन्तर प्रकट होनेवाले मौलिक रूपों की चर्चा की है। माड बाड्किन ने मौलिक रूपों (आर्किटाइप) की खोज विभिन्न युगों के काव्य में की है। हम पिछले एक अध्याय में इस विषय पर विस्तार से लिख आये हैं। यहाँ केवल इतना कहना पर्याप्त है कि भाषा-शैली, लय, छन्द, प्रतीक, अलंकार—सभी मनोवैज्ञानिक कारणों से प्रभावित होते हैं।

काव्य के प्रभाव की भी मनोवैज्ञानिक व्याख्याएँ हैं। रस-सिद्धान्त को चाहे हम अध्यात्म से सम्बन्धित मानें, चाहे आयुर्वेद से, उसका मनोविज्ञान से प्रत्यक्ष सम्बन्ध भुलाया नहीं जा सकता। प्रभाववादी समीक्षा-पद्धति का भी मनोवैज्ञानिक स्वरूप है। शब्दों द्वारा सौन्दर्य की मानसिक प्रतिक्रिया की तात्कालिक अभिव्यक्ति, यही उसका उद्देश्य है। अरस्तू का रेचन मनोवैज्ञानिक विवेचन की दिशा में एक महान् प्रयास है। आधुनिक अमेरिकी विचारक रैन्सम महोदय ने काव्य के प्रसंग में केवल दो मानसिक प्रवृत्तियों को विशेष मान्यता प्रदान की है—माइमेटिक ऐण्ड केथार्टिक, अर्थात् अनुकरण एवं रेचन। प्रो० आई० ए० रिचर्ड्स महोदय ने साहित्यिक मूल्यांकन का जो नवीन प्रतिमान निर्धारित किया है, वह

मूलतः मनोवैज्ञानिक है। विरोधी मानसिक उद्वेगों को सन्तुलित व्यवस्था में एकत्र कर देना काव्य का प्रमुख प्रयोजन है, अतः उसमें मानसिक शान्ति और सुख की आकांक्षा की जाती है।

व्यावहारिक समीक्षा में मनोवैज्ञानिक ज्ञान का अच्छा प्रयोग हो रहा है। काव्य के अध्ययन से जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि मिलती है, उसकी सहायता से कवि के जीवन को समझने की चेष्टा की जाती है, अथवा कवि के जीवन को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पहले समझकर उसके सन्दर्भ में काव्य की व्याख्या होती है। अनेक विद्वानों ने सीधे काव्य तक पहुँचकर उसीका विश्लेषण मनोवैज्ञानिक ज्ञान के आलोक में किया है। शेक्सपियर के अनेक नाटकों का अध्ययन इस परिपाटी से किया गया है; 'हैमलेट', 'मेजर फॉर मेजर' आदि इस प्रसंग में विशेष उल्लेखनीय हैं। स्वच्छन्दतावादी मुक्तक काव्य में आत्म-प्रकाशन की प्रमुखता रहती है, अतएव वे मनोवैज्ञानिक अध्ययन के विशेष उपयुक्त होते हैं; वैसे तो मनोवैज्ञानिक प्रणाली से कविता, उपन्यास, नाटक—सभी का विश्लेषण और अध्ययन किया गया है।

मनोवैज्ञानिक परिपाटी के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा यह है कि मन की क्रियाएँ सतत परिवर्त्तनशील और अस्थिर होती हैं। उन्हें काव्य में बाँधना तो कठिन है ही, निश्चित और स्वीकृत प्रतिमानों द्वारा उनकी नाप-तौल और भी कठिन हो जाती है। इस कठिनाई की ओर स्पेन के प्रसिद्ध दार्शनिक एवं साहित्यकार युनामियो ने भलीभाँति ध्यान आकृष्ट किया है। दूसरी कठिनाई यह है कि समाजवादी समीक्षा की भाँति मनोवैज्ञानिक समीक्षा में भी उत्पत्ति, प्रभाव और साधनों पर ध्यान अधिक दिया जाता है और मूल्यांकन पर कम। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अच्छे और बुरे काव्य में भेद किया जा सकता है, किन्तु उसके लिए सौन्दर्यमूलक कलात्मक मूल्यों का आँकना केवल गौण महत्त्व रखता है।

अबतक साहित्यिक अध्ययन की जिन विधियों और साधनों की चर्चा की गई है, उनमें से अधिकांश साहित्य से बाहर के तत्त्व हैं। समाजवादी, मनोवैज्ञानिक, जीवन-चरित्रात्मक दृष्टिकोण मूलरूपेण बाह्य उपकरणों को ही महत्त्व देते हैं तथा काव्य के आभ्यन्तर सौन्दर्य को बाहरी प्रकाश द्वारा आलोकित करने का प्रयास करते हैं। इनसे भिन्न एक ऐसी पद्धति है, जो काव्य-कृति को ही सब कुछ मानती है और सारा ध्यान उसी पर केन्द्रित करती है। बाहरी साधनों की उपेक्षा करनेवाली इस परिपाटी का प्रतिनिधित्व अमेरिका के 'न्यू क्रिटिसिज्म'-सम्प्रदाय के विद्वान् करते हैं। न्यू क्रिटिसिज्म का विकास और विस्तार सबसे अधिक अमेरिका में हुआ है और ब्लैक मूर, क्लिन्थ, ब्रुक्स, रैन्सम, वारेन तथा अन्य अनेक प्रतिभा-सम्पन्न विद्वानों और लेखकों ने उसे वैशिष्ट्य प्रदान किया है, किन्तु उनको मौलिक प्रेरणा इंगलैण्ड के उस 'कैम्ब्रिज स्कूल' से मिली है, जिसके प्रमुख आचार्य प्रो० आई० ए० रिचर्ड्स हैं। रिचर्ड्स के पट्टशिष्य एम्पसन ने अपने गुरु की विश्लेषण-शैली को अपनाकर स्तुत्य कार्य किया है। न्यू क्रिटिसिज्म टी० एस्० इलियट का भी ऋणी है। इन अँगरेज पण्डितों की नवीन मान्यताओं को ग्रहण करके अमेरिकी विद्वानों ने उन्हें विकसित और व्यवहृत किया है।

समीक्षा की विश्लेषणात्मक शैली नितान्त नवीन नहीं है। अरस्तू के 'काव्यशास्त्र' में रूपगत एवं शैलीजन्य विशेषताओं का विश्लेषण मिलता है और कॉलरिज ने अपने शेक्सपियर-विषयक भाषणों तथा निबन्धों में विश्लेषण की क्षमता का अच्छा परिचय दिया है। तब भी जिस व्यापक रूप में विश्लेषण का व्यवहार समीक्षा के क्षेत्र में अब हो रहा है, वह निश्चय ही नवीन है। विश्लेषण में विश्वास रखनेवाले विद्वान् और आलोचक काव्य-कृति को एक स्वतन्त्र इकाई मानते हैं। उसके मूल्यांकन के लिए वे ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियों का ज्ञान आवश्यक नहीं मानते, और इस बात को भी स्वीकार नहीं करते कि किसी रचना का असली मर्म रचनाकार के जीवन-चरित्र के सन्दर्भ में ही उद्घाटित होता है। उनकी सुनिश्चित धारणा है कि काव्य-सौष्ठव की स्थिति काव्यकृति में ही रहती है और उसे वहाँ खोजना चाहिए। कलात्मक सौन्दर्य के इसी अनुसन्धान के निमित्त वे काव्य के आकार, रूप-संघटन, भाषा-शैली आदि का सूक्ष्म अध्ययन करते हैं।

एक अँगरेज विद्वान् ने आलोचनात्मक विश्लेषण के दो प्रमुख विषय माने हैं—स्ट्रक्चर एवं टेक्स्चर। स्ट्रक्चर से अभिप्राय है रूप-विधान अथवा निर्माण-व्यवस्था से और टेक्स्चर से भाषा, शैली और उनकी विभिन्न विशेषताओं से। हमें संक्षेप में इन दोनों पर विचार कर लेना चाहिए। काव्य में सुनिश्चित रूप-विधान मिलता है, इसको सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। जीवन से कवि जो सामग्री लेता है, उसमें सम्यक् रूप और व्यवस्था का अभाव रहता है। प्रेरणा, कल्पना एवं कला के नियमों के ज्ञान द्वारा वह उस सामग्री पर रूप अंकित करता है, मानों उन्हें एक नये साँचे में ढालता है। अरस्तू से प्रारम्भ कर वर्त्तमान शती के यूरोपीय और अमेरिकी रूपवादियों तक ने इसी रूप-तत्त्व को महत्त्व दिया है। विश्लेषणात्मक समीक्षा में रूप की सर्जना किस प्रकार हुई है, उसके संघटन का क्या रहस्य है, यही जानने का प्रयास होता है। इसी अभिप्राय से समग्र रूप तथा उसके विभिन्न अवयवों का अध्ययन किया जाता है। समीक्षक सम्पूर्ण काव्य तथा उसके अन्तर्गत विभिन्न तत्त्वों और अंगों की नियोजना रेखाओं और चित्रों द्वारा प्रदर्शित करते हैं। उदाहरण के लिए हम अमेरिकी विद्वान् मोल्टन के ग्रन्थों को ले सकते हैं। मोल्टन महोदय ने इस नवीन विश्लेषणात्मक विधि से काव्य-रूपों का अध्ययन किया है। उन्होंने शेक्सपियर के विभिन्न नाटकों में चरित्र-चित्रण और वस्तु-निर्माण की विशेषताओं को विश्लेषणात्मक रीति से और आवश्यकतानुसार रेखाचित्र की सहायता द्वारा व्यक्त किया है। काव्य में पैटर्न्स, निश्चित रूप-व्यवस्था ढूँढ़ने की प्रवृत्ति आजकल पाश्चात्त्य समीक्षा में बलवती हो गई है। अनेक कवियों की कृतियों में बँधे हुए ढर्रे के पैटर्न्स ढूँढ़ लिये गये हैं। कभी-कभी ऐसी समीक्षा हास्यास्पद बन जाती है, किन्तु अपने उत्तम रूप में वह मूल्यांकन में सहायक सिद्ध हुई है।

टेक्स्चर से उस ताने-बाने का बोध होता है, जिसका गुम्फन कविता में किया जाता है, अर्थात् शब्द, अर्थ, ध्वनि, लय, रूपक, बिम्ब, प्रतीक, पुरावृत्त आदि। विश्लेषणवादियों का प्रयोजन इन सभी अभिव्यक्ति के साधनों से है। वे साहित्य को समझने के लिए इन सभी अंगों और उपांगों को पृथक् करके उनकी वास्तविक शक्ति और मूल्य का निरीक्षण

करते हैं और तत्पश्चात् उनके पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन करते हैं। उनके मत से कविता का वास्तविक रहस्य इसी प्रक्रिया से जाना जा सकता है। शब्द और अर्थ के विभिन्न सम्बन्धों पर आई० ए० रिचर्ड्स, उनके सहयोगियों तथा उनके अनुयायियों ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। शब्द-शक्ति, अर्थ के प्रकार-भेद तथा प्रसंगानुसार अर्थ कैसे बदलता है—ये सभी प्रश्न विश्लेषणात्मक अध्ययन में मौलिक महत्त्व रखते हैं। ऐसे ही, लय का अध्ययन भी अत्यन्त महत्त्वशील है। गद्य और पद्य की लय में क्या अन्तर होता है, प्रत्यक्ष लय और उस आन्तरिक लय में, जो ध्वनि और अर्थ के सम्मिश्रण से उत्पन्न होती है, क्या भेद है—ऐसी समस्याएँ न केवल सैद्धान्तिक, वरन् व्यावहारिक मूल्य भी रखती हैं। रूपक (मेटाफर), अस्पष्टता (एम्बिग्युटी) आदि पर रिचर्ड्स, एम्पसन तथा कतिपय अमेरिकी आलोचकों ने जो विचार प्रकट किये हैं, वे अत्यन्त सारगर्भित हैं और विश्लेषणात्मक अध्ययन के लिए अमूल्य साधन उपलब्ध करते हैं। फ्रायड, युंग आदि की मनोवैज्ञानिक खोजों तथा मानवशास्त्रियों के पुरावृत्त, जादू, अन्धविश्वासों आदि से सम्बन्धित आधुनिक अध्ययनों ने विश्लेषणात्मक आलोचना को अत्यधिक साधन-सम्पन्न बना दिया है।

विश्लेषण के आधार पर मुख्यतः कविता का ही अध्ययन किया गया है, किन्तु नाटक और उपन्यास उसकी परिधि के बाहर नहीं हैं। जैसे, यदि जेम्स ज्वायस के प्रसिद्ध उपन्यास 'युलिसीज' का अध्ययन विश्लेषणात्मक पद्धति से किया जाय, तो वह अत्यन्त रोचक और सफल होगा। आधुनिक युग में विकसित होनेवाले कुछ नवीन पद्धति से प्राचीन रचनाओं का अध्ययन करने पर महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं। इसी प्रकार, हमारे युग के समीक्षकों ने १७वीं शताब्दी के अँगरेज मेटाफिजिकल कवियों को ठीक-ठीक परखा है। इतिहास-निरपेक्ष विश्लेषण के सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि हम रचना के युग को बिलकुल भुला नहीं सकते। सामयिक परिस्थितियों को हम भुला भी दें, तो भाषा में निबद्ध समसामयिक प्रभाव का परित्याग हम कैसे कर सकते हैं? शब्दों, अलंकारों और प्रतीकों का रूप समय के साथ बदलता जाता है और यदि हम किसी १७वीं शताब्दी की रचना को आज की मानकर उसका विश्लेषण और अध्ययन करते हैं, तो हमारे मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। विश्लेषणवादी व्यंग्य और विरोधाभास को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। क्या दो सौ वर्ष पूर्व का व्यंग्य अथवा विरोधाभास आज भी वैसे ही सजीव और सार्थक है, जैसा वह अपने जन्म के युग में था?

साहित्यिक अध्ययन में परम्परागत पाण्डित्य को अधिक महत्त्व मिलना चाहिए अथवा शोध को, इस समस्या को लेकर काफी वाद-विवाद हो चुका है। पुरानी परिपाटी के पण्डित अनुसन्धान-कार्य का तिरस्कार करते हैं और अनेक तर्कों से अपनी वरीयता सिद्ध करते हैं। शोध करनेवाले भी कभी-कभी गम्भीर एवं व्यापक पाण्डित्य को अनावश्यक समझकर किसी सीमित विषय को लेकर उसीमें उलझकर रह जाते हैं। विश्वविद्यालयों में आज जो शोध-कार्य हो रहा है, उसकी सबसे बड़ी कमी यह है कि सामान्यतः वह ठोस ज्ञान पर आधृत नहीं होता है। बिना सिद्धान्तों का आवश्यक ज्ञान प्राप्त किये हुए शोधकर्त्ता एक संकुचित क्षेत्र में लकीर पकड़कर चला जाता है। किन्तु, यह कह देना न्यायसंगत होगा कि कतिपय

प्रबुद्ध और पीढ़ ज्ञानवाले अनुसन्धानकर्त्ता अत्यन्त मूल्यवान् प्रबन्ध प्रस्तुत करने में समर्थ हुए हैं। साहित्यिक अध्ययन की दृष्टि से ऐसे प्रबन्धों का स्थान ऊँचा है। शोध का फल तभी समीक्षा के अन्तर्गत समाविष्ट हो पाता है, जब वह प्रतिभा के स्पर्श से आलोकित होता है और तथ्यों और तिथियों के संकलन के अतिरिक्त उसमें मूल्यांकन सन्निविष्ट रहता है। अधिकांश प्रबन्धों में उद्धरणों, पाद-टिप्पणियों तथा ऐतिहासिक तथ्यों का ही प्राधान्य रहता है। ऐसी विश्वविद्यालयीय समीक्षा बहुत मूल्य नहीं रखती। किन्तु विश्वविद्यालय में अध्ययन और अध्यापन करनेवाले उच्चतम कोटि के विद्वानों ने प्रायः सभी देशों में साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र में परमोत्कृष्ट कार्य किया है। अध्यापक-समीक्षक कई कारणों से अधिकारपूर्वक अपना मत व्यक्त कर सकता है। वह आजीवन ज्ञान अर्जित करता है तथा चिन्तन और मनन का निरन्तर अभ्यासी बना रहता है। तटस्थ बुद्धि से उपलब्ध सामग्री का निरीक्षण और अध्ययन दूसरों की अपेक्षा उसके लिए अधिक सरल होता है। अध्यापन-कार्य में उसे अपने निष्कर्षों की व्याख्या करने तथा उनके मूल्यांकन का अवसर मिलता है। अध्यापक यदि जीवन से मुँह मोड़कर कोरा किताबी कीड़ा नहीं बन जाय, तो उससे यह सदैव आशा की जा सकती है कि वह साहित्यिक समीक्षा को समृद्ध बनायेगा। जहाँतक पाण्डित्य और शोध के सापेक्षिक महत्त्व का प्रश्न है, विवेकपूर्ण ढंग से देखने से यही उचित ठहरता है कि यद्यपि दोनों का अलग-अलग स्थान है, तथापि साहित्यिक मूल्यांकन के निमित्त दोनों का संयोग परम वांछनीय है। परम्परागत पाण्डित्य द्वारा वह आधारशिला तैयार होती है, जिसपर शोध अपना नवीन भवन खड़ा करता है। बुनियाद का मजबूत होना आवश्यक है, किन्तु पाण्डित्य का वास्तविक प्रतिफल उसका चमत्कारपूर्ण उन्नयन शोधकार्य द्वारा ही सम्भव है। आधुनिक युग में यह सर्वमान्य हो गया है कि साहित्य का उत्तम अध्यापक वही हो सकता है, जिसमें गम्भीर ज्ञान के साथ शोध-कार्य का अनुभव भी मिलता है। जिसने शोध-कार्य किया है, एक नया रास्ता खोज निकाला है, नये सिद्धान्त अथवा नई व्याख्या की अवतारणा की है, वह विद्वान् अपने अध्यापन-कार्य को आत्मविश्वास और मौलिकता के साथ सम्पन्न कर सकता है।

ऊपर के विवेचन में हमने मूल्य और मूल्यांकन की चर्चा बार-बार की है। साहित्यालोचन की विशिष्ट शब्दावली में इनका क्या अर्थ है? मूल्य उस वैशिष्ट्य अथवा गुण को कहते हैं, जिसके कारण कोई कृति आकर्षक एवं रुचिकर प्रतीत होती है। मूल्य के निर्धारण को, अर्थात् इस बात के निर्णय करने को कि किसी कृति में मूल्य है अथवा नहीं, कम मूल्य है अथवा अधिक, मूल्यांकन कहते हैं। मूल्य के विषय को लेकर गम्भीर चिन्तन हुआ है। अधिकांश विद्वानों ने उसका सम्बन्ध रचना के स्वभाव और प्रयोजन से माना है। साहित्य आनन्दप्रद है अथवा नीतिपरक, इस प्रश्न पर युगों से मतभेद चला आया है और अब सामान्यतया होरेस के उस समन्वयवादी मत को स्वीकार किया जाता है, जिसमें उसने काव्य के दोनों ही उद्देश्यों को माना है—मनोरंजन प्रदान करना और सदाचार की शिक्षा देना। नीतिवादी, मानववादी, मानवतावादी तथा अन्य इसी प्रकार के मूल्यों की धारणा से भिन्न विशुद्ध सौन्दर्यवादियों का मत है। वे सौन्दर्यानुभूति की स्वतन्त्र सत्ता पर बल देते हैं

और यह मानते हैं कि कलागत मूल्यों का सीधा सम्बन्ध उसी से है। आई० ए० रिचर्ड्स ने एस्थेटिक इन्सटिंक्ट ( सौन्दर्य-ग्रहण की शक्ति ) की पृथक् सत्ता का खण्डन जोरदार शब्दों में किया है, किन्तु ऐसे दार्शनिकों की दीर्घकालीन परम्परा मिलती है, जो उसको मान्यता प्रदान करते आये हैं। कलात्मक मूल्य मन की इसी सौन्दर्य-ग्राहिका शक्ति को परितुष्ट करता है। उसका एकमात्र यही प्रयोजन है और इसीलिए काण्ट ने कला को 'पर्पसिव विदाउट पर्पस' अर्थात् एक ही साथ सप्रयोजन और निष्प्रयोजन बताया है। इसीलिए मूल्यों का ज्ञान और उनकी परख केवल सहज ज्ञान द्वारा हो सकती है, उनके विश्लेषण और नाप-तौल की सम्भावना नहीं होती। थियोडोर ग्रीन ने लिखा है :

"The unique character of the artistic quality of a work can only be immediately intuited, and though it can be exhibited and denoted, it cannot be defined or even described."

रूपवादियों ( फॉर्मलिस्ट्स ) के लिए रूप (फॉर्म) ही एकमात्र मूल्य है। रूप की कल्पना और तज्जनित आकर्षण की विस्तृत चर्चा मिलती है। कुछ लोगों ने रूप के आकर्षण का प्रमुख हेतु मौलिकता अथवा नवीनता को माना है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण भाषा और उसके प्रयोग में देखा जाता है। भाषा के सामान्य प्रयोग में जब रूढ़िवादिता आने लगती है और प्रचलित प्रयोग सामान्य और चमत्कार-रहित होने लगते हैं, तब कवि अथवा लेखक अपनी प्रतिभा द्वारा उनमें अप्रत्याशित नवीनता का समावेश करके हमें चमत्कृत कर देते हैं। काव्य-शैली को लेकर जो दीर्घकालीन वाद-विवाद चला आया है, उसका अन्तिम निष्कर्ष यही मालूम पड़ता है कि साहित्य में प्रयुक्त होनेवाली भाषा रूढ़ि-विमुक्त होती है। काव्यात्मक मूल्य की व्याख्या व्याप्ति के आधार पर भी की गई है। उदाहरणार्थ, शेक्सपियर के नाटक, जो प्रत्येक युग के पाठकों को सुन्दर और रुचिकर प्रतीत होते हैं, विभिन्न कोटि और स्तर के प्रभावों को संकलित और आत्मसात् करके अपना आकर्षण उत्पन्न करते हैं। अपेक्षाकृत निम्नकोटि की रचनाओं का केवल सीमित आकर्षण होता है; क्योंकि उनमें केवल एक या दो प्रकार के प्रभाव सन्निविष्ट रहते हैं। किन्तु रूप-निर्माण का प्रमुख कारण है व्यवस्था, आर्गनिजेशन। किसी उत्कृष्ट काव्य-कृति में जो रूप-विधान मिलता है, उसमें अंगी के अन्तर्गत विविध अंगों की सन्तुलित और सुनियोजित व्यवस्था मिलती है। इसी को संघटन, जीवन्त एकता आदि भी कहते हैं। विविध तत्त्व और अंग अनिवार्य क्रम में निबद्ध होकर एकता की प्रतीति कराते हैं। जहाँ इस प्रकार की अन्विति का आविर्भाव होता है, वहाँ मन अपने-आप रमने लगता है। रूपवादियों की व्याख्या विशेष महत्त्व रखती है, किन्तु मूल्य की व्याख्या अन्य प्रकार से भी की गई है। उसकी मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय और नैतिकताप्रवण व्याख्याएँ भी मिलती हैं।

मूल्य की स्थिति कहाँ है और उसकी प्रतीति कैसे होती है, यह प्रश्न दार्शनिक है और इसके विभिन्न उत्तर सम्भव हैं। प्रत्ययवादियों का कहना है कि कोई स्थूल पदार्थ

स्वयं न तो सुन्दर है न असुन्दर। 'सुन्दर' और 'असुन्दर' का भेद हमारे मन में उत्पन्न होता है, अतः मूल्य की कल्पना व्यक्तिमूलक है। इस दृष्टिकोण के सम्बन्ध में यह शंका उत्पन्न होती है कि यदि सौन्दर्य केवल व्यक्तिगत प्रतिक्रिया पर निर्भर होता है, तो एक ही पदार्थ बहुसंख्यक लोगों को सुन्दर कैसे प्रतीत होने लगती है। इसीलिए यथार्थवादी विचारक मूल्य का निवास-स्थान पदार्थ में ही मानते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में भी अनेक आपत्तियाँ हैं, जैसे एक ही पदार्थ किसी को सुन्दर और किसी को असुन्दर क्यों मालूम पड़ता है। इस सम्बन्ध में समन्वयवादी दृष्टिकोण सर्वाधिक सन्तोषप्रद है। कोई वस्तु हमें इसलिए अच्छी लगती है कि उसमें सौन्दर्य के तत्त्व विद्यमान रहते हैं और वह सुन्दर इसलिए भी है कि हमारा मन उसे सुन्दर मानता है। मूल्य के सम्बन्ध में यह 'सब्जेक्टिव-ऑब्जेक्टिव' मत आज सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। रेने वेलेक ने निम्नलिखित पंक्तियों में इसी सन्तुलित दृष्टिकोण को अपनी सहमति प्रदान की है :

"The valuing of the poem in the experiencing, the realization of aesthetically valuable qualities and relationships structurally present in the poem for any competent reader. Beauty, says Eliseo Vivas, expounding what he calls 'objective relativism' or 'perspective realism', is a character of something for those endowed with the capacity and the training through which alone it can be perceived."

"To set up as a critic is to set up as a judge of values." आई० ए० रिचर्ड्स की इस प्रसिद्ध उक्ति का आशय है कि उत्तम आलोचना में निर्णय और मूल्यांकन का अंश सदैव विद्यमान रहता है। केवल वर्णन और व्याख्या (इल्यूसिडेशन) से समीक्षा का उच्चतर कार्य सम्पन्न नहीं होता। साहित्यिक अध्ययन के अनेक पक्ष हैं और समीक्षा के अनेक भेद। सभी विधियाँ हमें अन्तिम ध्येय तक नहीं पहुँचातीं, उनमें से अनेक केवल सहायक साधन-मात्र बनकर रह जाती हैं। विधियों और पद्धतियों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है आलोचक अथवा सहृदय की विवेकबुद्धि, उसकी प्रतिभा; क्योंकि आलोचना विज्ञान की अपेक्षा कला के कहीं अधिक निकट है। सम्यक् अध्ययन और रसास्वादन के लिए विभिन्न पद्धतियों का विवेकपूर्ण सम्मिश्रण सहायक सिद्ध होता है। साहित्य के शाश्वत सौन्दर्य, उसके चिरन्तन प्रभाव तक पहुँचने में हमें विभिन्न मार्गों से अग्रसर होना पड़ता है। मार्ग का प्रश्न तो केवल गौण है, हमारा लक्ष्य है सौन्दर्यग्रहण एवं मूल्यांकन। प्रो० डैविड डाइसेज ने साहित्यिक अध्ययन की विविध पद्धतियों के विस्तृत विवेचन के उपरान्त निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला है, जो अत्यन्त सारगर्भित है :

"To enjoy with discrimination, to discern value, to recognize and reject the spurious, to respond maturely to the genuine, never to be fooled by the shabby and the second-hand—that is civilized approach to the arts. We turn to criticism to develop and strengthen that

approach, and, as we have seen, criticism can come to this task directly or indirectly, through a frontal attack on individual literary works, through theoretical discussion of the nature of literary value, throuh investigation of origin and growth and causation. Every effective literary critic sees some facts of literary art and develops our awareness with respect to it; but the total vision, or something approximating it, comes only to those who learn how to blend the insights yielded by many critical approaches."

आशुतोष अवस्थी
अध्यक्ष
श्री नारायणेश्वर वेद वेदाङ्ग समिति (उ.प्र.)